बौद्ध दर्शन मे

परिसंवाद

(२)

भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन सम्भावनाएं

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिसंवाद [२]

भारतीय चिन्तन की परम्परा में नवीन सम्भावनाएँ

[भाग १]

सम्पादक मण्डल

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

श्री रामशङ्कर त्रिपाठी डॉ. गोकुलचन्द जैन

डॉ. फूलचन्द्र जैन श्री बुद्धिवल्लभ पाठक

सम्पादक

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

प्राध्यापक-तुलनात्मकधर्मदर्शन

पर्यवेक्षक

डॉ. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

निदेशक, अनुसन्धान संस्थान

प्रकाशनाधिकारी-सम्पादक

डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८१

प्रकाशकः
निदेशकः,
अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रयविभागः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी-२२१००२.

प्रथम संस्करण—१,१०० प्रतियाँ
मूल्यम्—२३-००

मुद्रकः—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

PARISAṂVĀDA [2]

BHĀRTĪYA CINTANA KĪ PARAMPARĀ ME NAVĪNA SAṂBHĀVANĀYEN

[PART-I]

BOARD OF EDITORS

Prof. Jagannātha Upādhyāya

Shri Rāma Shankara Tripāthī — Dr. Gokul Chandra Jaina

Dr. Phool Chandra Jaina — Shri Buddhi Vallabha Pāthaka

EDITOR

Shrī Radheshyāmadhara Dwivedī

Lecturer in Comparative Religion and Philosophy

SUPERVISOR

Dr. Bhāgīratha Prasāda Tripāthī 'Vāgīśa Śāstrī'

Director, Research Institute,

PUBLICATION OFFICER—EDITOR

Dr. Harischandra Maṇi Tripāthī

Sampurṇānand Sanskrit Vishvavidyālaya, Vārāṇasi

1981

Published by—

Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidylaya,
Varanasi-221002.

Available at—

Sales Department
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi-221002

First Edition
Price : Rs. 23.00

Printed at—

Tara Printing Works
Varanasi.

सम्पादकीय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में समय-समय पर सामयिक परिसंवाद होते रहते हैं। इसी सन्दर्भ में इस परिसंवाद-पत्रिका में दो संगोष्ठियों का विवरण के साथ विवेचन एवं उनमें पढ़े गये निबन्धों का संग्रह छापा गया है। इस परिसंवाद में प्रथम संगोष्ठी के रूप में 'व्यष्टि समष्टि की समस्या' का विवेचन है। इस समस्या पर गंभीर विवेचन प्रमुखरूप से बौद्धदर्शन तथा आनुषंगिक रूप से अन्यभारतीय दर्शनों की दृष्टि से किया गया है। समस्या के विवेचन के लिए मानवज्ञान के विविध क्षेत्रों के ख्यातनामा विद्वानों का सहयोग लिया गया और उन्होंने बौद्धदर्शन के आधारभूत प्राथमिक पत्रों के आधार पर सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्धित करके बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में समष्टि व्यष्टि की समस्याओं का आकलन किया है। इस आकलन की रूपरेखा भूमिका के माध्यम से देखी जा सकती है। संस्कृत विश्वविद्यालय एक परम्परावादी शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन की संस्था है। इसकी शास्त्रपरम्परा में भी आधुनिकतम सामाजिक मूल्यों की विवेचना है, अतः आधुनिकतम मूल्यों के सदृश प्राचीन शास्त्रीय मूल्यों के विवेचन से वर्तमान पीढ़ी के लोगों को वर्तमानकालिक समस्याओं के समाधान में सहूलियत मिलेगी। इसी सन्दर्भ में समष्टि व्यष्टि की समस्या का विवेचन पठनीय है।

फ्रांस की क्रान्ति के वाद समता, स्वतन्त्रता तथा विश्व-बन्धुत्व के मूल्यों का विचार सम्पूर्ण विश्व के लोगों का प्रमुख विचारणीय विषय बन गया है। समता के मूल्य पर भी इस परिसंवाद में विचार किया गया है। समता के दार्शनिक विचारों के साथ परम्परागत पौराणिक, तान्त्रिक, धर्मशास्त्रीय विचारों का भी ख्यातनामा विद्वानों के द्वारा विवेचन प्रस्तुत है, साथ ही आधुनिक समता के प्रत्ययों का विवेचन आधुनिक विद्वानों द्वारा प्राचीन शास्त्रों के सन्दर्भ से किया गया है। आधुनिक भारत के नव निर्माताओं को इन निबन्धों से प्रेरणा प्राप्त हो सकती है, यदि वे इसको पढ़ने का कष्ट करते। राष्ट्रभाषा के माध्यम से प्रस्तुत इन प्राचीन नवीन सन्दर्भों के प्राप्त विश्लेषण के आधार पर शास्त्रों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ेगी, ऐसी आशा है। परम्परागत शास्त्रों के विवेचन से निःसृत इन गोष्ठियों के प्रतिफलन के रूप में इस परिसंवाद के प्रकाशनार्थ संपादन करने का जब मुझको मौका प्राप्त हुआ तो मैं उसका लोभ संवरण न कर सका, और सम्पादन कार्य में जुट गया।

परिसंवाद को 'विश्वसंस्कृत सम्मेलन' के पूर्व छपने के लिए प्रेरणा एवं सहायता देकर कुलपति डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने जो उत्साह बढ़ाया है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी एवं कृतज्ञ हैं। इस संपादन कार्य में समय समय पर कठिनाइयाँ

भी उपस्थित होती रही हैं, उनका समाधान शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों ही दृष्टियों से मेरे गुरुजनों ने किया है। आचार्य पं० बदरीनाथ शुक्ल, भूतपूर्व कुलपति तथा प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, डीन, श्रमण विद्या संकाय (सं० सं० वि० वि० वाराणसी) ने सदा तत्परता पूर्वक सहायता की है। वे हमारे गुरु हैं उनकी सहायता के विना इन नवीनमूल्यों से परम्परागत शास्त्रधारा को जोड़ने का काम कथमपि संभव नहीं हो सकता था। परिसंवाद के इस स्वरूप में भाग १ का नाम करण भी इसी कारण हो रहा है क्योंकि कुछ और संगोष्ठियों के विचारों को इसमें छापना था, पर परिसंवाद के आकार के बढ़ जाने से वह एक साथ नहीं छप सका, अतएव शीर्षक को ध्यान में रखकर उसको द्वितीय भाग के रूप में छापा जायेगा। शीर्षक, भूमिका एवं सामयिक परामर्श के द्वारा गुरुजनों ने जो उत्साह बढ़ाया है उसके लिए मैं श्रद्धावनत हूँ। आदरणीय पं० रामशंकर त्रिपाठी "व्यष्टि समष्टि परिसंवाद" के निदेशक रहे हैं तथा इस संपादन कार्य में भी सदा सहायता करते रहे हैं। उनके ही सत्परामर्श एवं निर्देशन से यह काम बन पाया है। अतएव मैं उनका बहुत आभारी हूँ तथा एतदर्थ उनको धन्यवाद ज्ञापित करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। परिसंवाद के इस भाग को प्रकाशित करने में जिस प्रकार की तत्परता डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी ने दिखायी है, वह मेरे उत्साह में काफी सहायक रही है; प्रतिदिन सामयिक परामर्श के लिए प्रकाशनाधिकारी महोदय को धन्यवाद देना मेरा परम पुनीत कर्तव्य है। छपने को सम्पूर्ण व्यवस्था में लगे सभी सम्बन्धित लोगों की सहायता के विना यह कार्य इतना शीघ्र नहीं सम्पन्न हो सकता था, अतएव सभी व्यवस्थापकों का मैं बहुत आभारी हूँ तथा एतदर्थ धन्यवाद देता हूँ।

राधेश्यामधर द्विवेदी
प्राध्यापक
तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विषयसूची

पृ०

भूमिका — ओ–ट

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

क—व्यष्टि एवं समष्टि की समस्या — ३–२११

१. बौद्धदर्शन, व्यक्ति, समाज और उसके सम्बन्ध — ३–४

२. बौद्धदृष्टि में व्यक्ति, लोक तथा सम्बन्ध — ५–१४

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

३. बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज — १५–२५

प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

४. बौद्धविनय की दृष्टि में व्यष्टि एवं समष्टि — २६–३७

प्रो० समदोङ् रिनपोछे तथा आचार्य सेम्पा दोर्जे

५. प्राचीन बौद्धों की दृष्टि में व्यष्टि एवं समष्टि — ४१–४५

प्रो० महेश तिवारी

६. व्यष्टि और समष्टि : बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में — ४६–५५

प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय

७. व्यष्टि और समष्टि : बौद्धदर्शन की दृष्टि में — ५६–६२

डॉ० राजेन्द्र पाण्डेय

८. बौद्धविचारों की दृष्टि में व्यक्ति और समाज और उनका सम्बन्ध — ६३–६७

प्रो० कृष्णनाथ

९. व्यष्टि और समष्टि : बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में — ६८–७१

डॉ० सिद्धेश्वर भट्ट

१०. व्यक्ति और समाज—एक विवेचन — ७२–७५

प्रो० समदोङ् रिम्पोछे

११. व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध और उसका विकास — ७६–७८

पं० आनन्द झा

१२. विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र के अनुसार व्यष्टि एवं समष्टि का सम्बन्ध — ७९–८७

प्रो० लालमणि जोशी

१३. बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति, समाज और उनका सम्बन्ध — ८८–९३

श्री हरिशंकर सिंह

१४. बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि — ९४-९७

डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य

१५. बौद्धव्यष्टिवाद की आंशिक समष्टिवादी परिणति की सम्भावनाएँ ९८–१०२
डॉ० हर्षनारायण

१६. सामाजिक संघटन की उत्पत्ति और बौद्धदृष्टिकोण १०३–१०८
डॉ० प्रतापचन्द्र

१७. बुद्ध का स्वनियन्त्रित अध्यात्मवाद : समष्टि-व्यष्टि के सन्दर्भ में १०९–११४
श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

१८. बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में व्यष्टि एवं समष्टि ११५–११९
डॉ० केवलकृष्ण मित्तल

१९. व्यक्ति और समाज के प्रति महायान के दृष्टिकोण १२०–१२२
आचार्य टी० छोगडुब्

२०. महायानी साधक की दृष्टि से व्यक्ति, समाज तथा उनके सम्बन्ध १२३–१२७
श्री टशी पलजोर

२१. बौद्धदृष्टि में व्यष्टि और समष्टि १२८–१३१
गेशे येशेस थबख्यस्

२२. बौद्धदृष्टि से व्यक्ति का विकास १३२–१३८
डॉ० हरिशंकर शुक्ल

२३. व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्धों की अवधारणा १३९–१४५
डॉ० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा

२४. समष्टि एवं व्यष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्मविहार, बोधिचित्त और ज्वलिता चण्डाली १४६–१५३
डॉ० सुनीतिकुमार पाठक

२५ बौद्धदर्शन तथा रसेल के चिन्तन में व्यष्टि एवं समष्टि का स्वरूप १५४–१५६
डॉ० नारायणशास्त्री द्राविड

२६. समकालीन भारत में व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों की दिशा १५७–१६१
प्रो० कैलाशनाथ शर्मा

२७. परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध १६२–१६६
डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती

२८ भारतीय बौद्धकला में व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित दृष्टिकोण १६७–१६९
डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय

२९. व्यक्ति और समाज के व्यक्तिवादी, समष्टिवादी और समन्वयवादी स्वरूप का विवेचन १७०–१७४
प्रो० मुकुटविहारी लाल

३०. व्यक्ति और समाज : बौद्धदृष्टि का एक वैज्ञानिक विश्लेषण १७५–१८४
श्री वी० के० राय

३१. व्यक्ति-समष्टिविकासानुबद्धा बौद्धदृष्टिः १८७–१९१
प्रो० शान्तिभिक्षुशास्त्री

३२. बुद्धदृष्टौ समष्टिः — १९२–१९८
श्रीसुधाकरदीक्षितः

३३. समकालीनभारते व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धानां दिशा — १९९–२०३
प्रो० कैलाशनाथ शर्मा

३४. Individual and Society : The Buddhist View Point — २०४–२०६
Prof. B. V. Kishan

३५. व्यष्टि एवं समष्टि सम्बन्धी परिसंवादगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण — २०७–२११

ख—सामाजिक समता — २१३–३५७

३६. सामाजिक समता का प्रश्न : प्राचीन एवं नवीन — २१५–२२१
प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

३७. प्राचीन संस्कृत साहित्य में मानव समता — २२२–२४१
डॉ० रामशंकर त्रिपाठी

३८. भारतीय धर्मदर्शन का स्वर सामाजिक समता अथवा विषमता ? — २४२–२६३
डॉ० हर्षनारायण

३९. कश्मीर के अद्वैत शैवतन्त्रों में सामाजिक समता — २६४–२७३
डॉ० नवजीवन रस्तोगी

४०. वैष्णव तन्त्रों के सन्दर्भ में समता का स्वर — २७४–२८२
डॉ० अशोक कुमार कालिया

४१. वैदिकदर्शनों की दृष्टि में समता के स्वर — २८३–२८४
पं० केदारनाथ त्रिपाठी

४२. भारतीय शास्त्रों में समता — २८५–२८७
डॉ० रघुनाथ गिरि

४३. सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन — २८८–२९०
श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

४४. सामाजिक समता और बौद्धदर्शन — २९१–२९५
प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

४५. जैनदर्शन के सन्दर्भ में समता के विचार — २९६–२९९
डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

४६. जैन वाङ्मय में समता के स्वर — ३००–३०४
श्री अमृतलाल जैन

४७. जैन पुराणों में समता — ३०५–३०९
श्री देवीप्रसाद मिश्र

४८. समता के आयाम — ३१०–३१४
प्रो० कृष्णनाथ

४९. मानव समता — ३१५–३२३
प्रो० राजाराम शास्त्री
५०. आधुनिक युग में समता — ३२४–३२४
श्री गणेशसिंह मानव
५१. वैदिकदर्शनदृष्ट्या समतायाः सूचनम् — ३२७–३२८
आचार्य पं० सुब्रह्मण्यशास्त्री
५२. भारतीयदर्शनेषु समता आरोहावरोहश्च — ३२९–३३३
पं० रघुनाथशर्मा
५३. सामाजिकसमत्वविषये भारतीयदर्शनानि — ३३४–३४१
पं० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री
५४. व्यावहारिकपारमार्थिकदृष्ट्या समता विषमता च — ३४२–३४६
आचार्य पं० विश्वनाथशास्त्रीदातार
५५. सामाजिक समता सम्बन्धी संगोष्ठी का विवरण — २४७–३५७
५६. विद्वानों की सूची — ३५८–३६०

उपर्युक्त निबन्धों में व्यक्त विचारों एवं शोधनिष्कर्ष निबन्ध लेखकों के अपने हैं उनका सम्पूर्ण श्रेय एवं उत्तरदायित्व लेखकों का है ।

भूमिका

(१)

'व्यक्ति, समाज और उसके सम्बन्ध' विषय पर आयोजित संगोष्ठी की सफलता इसमें है कि इसके द्वारा वे प्रश्न उभर कर आये, जो आधुनिक सन्दर्भ के हैं, और जिनके विश्लेषण या समाधान में, परम्परागत भारतीय दर्शनों को प्रायः अप्रासंगिक मान लिया जाता है। इसकी सफलता का एक कारण यह भी है कि इस संगोष्ठी में परम्परागत शास्त्रों के विद्वानों के अतिरिक्त प्राच्य पाश्चात्य दर्शनों के विशेषज्ञ तथा विभिन्न समाज विज्ञानों के, यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान के विद्वानों ने भी भाग लिया। अधिकांश विद्वानों ने निबन्ध लिखे और प्रायः सभी ने खुलकर विचार-विमर्श में भाग लिया।

यद्यपि व्यक्ति और समाज की समस्या पर इस गोष्ठी में विशेष कर बौद्ध दृष्टि से ही विचार किया गया, किन्तु अन्य भारतीय दर्शन भी इस प्रसंग में अछूते नहीं रहे। क्योंकि जीवन की आधुनिक समस्याओं पर **समाजविज्ञानों** का **बौद्धदर्शन** के साथ संवाद क्या सम्भव है ? इस प्रश्न पर सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन क्या प्रासंगिक है, इस पर भी विचार करना सहज-सा हो गया। इस सम्पूर्ण प्रश्न के विचार-विमर्श में दो बातें कही गयीं। प्रथमतः यह कि इस प्रसंग में बौद्धों का दार्शनिक प्रस्थान अन्य भारतीय दर्शनों से बहुत कुछ भिन्न है और यह अन्य की अपेक्षा व्यक्ति समाज की समस्या के समाधान में अधिक सक्षम है। द्वितीयतः यह कि सामाजिक प्रश्नों के समाधान में **बौद्धदर्शन** को अन्य **भारतीय दर्शनों** के सहयोग की अपेक्षा है, विशेषकर **अद्वैत वेदान्त** की।

गोष्ठी में प्रारम्भ से अन्त तक इसका पक्ष प्रतिपक्ष खड़ा रहा कि बौद्धदर्शन में वे कौन-से जीवन्त तत्त्व हैं जो आधुनिक सामाजिक समस्याओं के समाधान में सक्षम हो सकेंगे। एक पक्ष में जो विचार प्रकट किये गये, उसके मुख्य मुद्दे ये हैं—'बौद्धदर्शन का लक्ष्य निर्वाण है, जबकि उसके विरोध में सामाजिक चिन्तन भौतिक एवं लोकमूल्यात्मक है (**प्रो० रिम्पोछे तथा सेम्पादोर्जे**)। सामाजिक दर्शन अधिकार एवं कर्तव्याधारित है, जबकि बौद्धदर्शन दृष्टि-प्रहाणवादी होने के कारण उससे निरपेक्ष है (**डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय**)। दोनों में भेद बताते हुए कहा गया कि समाजशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जबकि बौद्धदर्शन मनुष्य को समाज से ऊपर उठाता है (**डा० वैद्यनाथ सरस्वती**)। यह भी कहा गया कि अहंवादी व्यक्तिवादी अवधारणा समाज वैज्ञानिकों का है, उसका बुद्ध के करुणामय धारणाओं से मेल बैठाना किसी तरह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक

समष्टिवादी धारणा जो युद्ध, आक्रमण, अधिनायकवाद एवं निरंकुशता आदि का समर्थन करता है, उसको बुद्ध के साथ जोड़ना उचित नहीं होगा (**प्रो० मुकुट बिहारी लाल**) ।

व्यक्ति और समाज की आधुनिक अवधारणा की कोटियों में विचार प्रस्तुत किये जाने पर अधिकांश विद्वानों ने बौद्धदृष्टि को **व्यक्तिवादी** कहा । कहा गया कि व्यक्ति के विकास या विकार की सम्भावनाएँ व्यक्ति के अन्दर ही हैं । व्यक्ति चित्त के अतिरिक्त स्वतन्त्र सामाजिक चेतना जैसी किसी वस्तु की मान्यता नहीं है (**प्रो० एस० रिम्पोछे**) । भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी कहा गया कि बौद्धदर्शन व्यक्ति दर्शन है उसका **निर्वाण**, **अष्टाङ्गिक मार्ग** और **चार आर्यसत्य** सभी व्यक्तिगत हैं यद्यपि बुद्ध के सिद्धान्त सार्वकालिक थे किन्तु उनका केन्द्र केवल व्यक्ति है । उनके अनुसार बुद्ध का दृष्टिकोण वस्तुवादी नहीं था व्यक्तिवादी था, इसीलिए उन्होंने मनुष्य को सर्वोपरि माना, और चराचर के साथ उसके सम्बन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया (**श्री वी० के० राय**) । व्यक्तिवादी होने के कारण ही **जैक्सन** द्वारा बौद्धदर्शन के महत्त्व को प्रस्तुत किया गया । उनके पक्ष को समर्थित करते हुए कहा गया कि व्यक्ति को सामाजिक ढाँचे के आधार पर नहीं समझा जा सकता । इसके लिए अपेक्षित है व्यक्ति स्वरूप का चिन्तन, जो बौद्धदर्शन की विशेषता है । समाजशास्त्र द्वारा अन्तर्वैयक्तिक निरीक्षण-परीक्षण मात्र ही सम्भव है । व्यक्ति स्वरूप की अभिव्यक्ति समाजशास्त्रियों के पास नहीं है, जबकि बौद्धदर्शन की मान्यता है कि सामाजिक-सांस्कृतिक स्वायत्तता के अन्तर्गत मानव व्यक्ति की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है (**डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय**) ।

उपर्युक्त ऐकान्तिक व्यक्तिवादी पक्षों से भिन्न एक यह पक्ष था कि व्यक्तिवाद या **समष्टिवाद** की ऐकान्तिकता का सिद्धान्त मूल बौद्धदृष्टि के अनुकूल नहीं है । उसके अनुसार ऐकान्तिक रूप में व्यक्तिवाद एवं समष्टिवाद बौद्धमत में मिथ्या दृष्टियाँ हैं । दोनों अन्तों का परिहार ही सम्यग् दृष्टि है (**प्रो० कृष्णनाथ**) । बौद्धों के समष्टिवादी पक्ष को पुष्ट करते हुए कहा गया कि बुद्ध की गहन मानववादी दृष्टि उनके समाजदर्शन की अन्तर्वस्तु को निर्धारित करती है (**डॉ० प्रतापचन्द्र**) । यह भी कहा गया कि मानव व्यक्तित्व के निर्माण में आंशिक रूप में भी नित्यतावाद का प्रभाव न होने के कारण बौद्ध दार्शनिकों को इसके लिए अधिक अनुकूलता है कि वे सापेक्षता के आधार पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का विश्लेषण कर सकें । व्यक्ति सम्बन्धी सापेक्षता का सिद्धान्त समाज के परिवर्तनशील सम्बन्धों को आकलित करने एवं उन्हें ग्रहण करने में अधिक सक्षम है (**प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**) बौद्धदशन के वस्तुवादी एवं अवस्तुवादी सभी मुख्य दार्शनिक प्रस्थानों का विश्लेषण करके देखने से ज्ञात होता है कि व्यक्ति और समाज दोनों पर ही **सापेक्षता** का सिद्धान्त लागू है, जिसकी व्याख्या **प्रज्ञप्ति**, **प्रज्ञप्तिसत्**, **संवृतिसत्** एवं **अन्योन्याधिपतित्व** आदि के द्वारा की जाती है । इस प्रकार जैसे व्यक्ति पुद्गल अन्य सापेक्ष एवं प्रज्ञप्ति-

सत् है, वैसे ही समाज की भी व्यावहारिक सत्ता परस्पर सापेक्ष होकर प्रज्ञप्त होती है (**पं० रामशङ्कर त्रिपाठी**)।

बौद्ध चिन्तन में प्रारम्भ से ही पदार्थों के सम्बन्ध में उसका दार्शनिक स्वरूप रहा है **अन्योऽन्यापेक्षवाद**। यह **प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त** का प्रतिफलन है। इसके व्यापक प्रभाव में समाज की व्याख्या अछूती नहीं रह सकती ! इसीलिए इस गोष्ठी के जो विद्वान बौद्ध सन्दर्भ में व्यक्तिवादी मान्यता के पक्षधर थे और समाज को प्रमुख कारण मानने के पक्ष में नहीं थे, उन्होंने भी व्यक्ति के विकास या विनाश में समाज को सहायक, निमित्त या सहयोगी के रूप मे मान्यता दी। उन्होंने भिक्षु व्यक्ति और संघ के सम्बन्ध को एक दूसरे पर निर्भर, परस्पर सापेक्ष और प्रतीत्यसमुत्पन्न स्वीकार किया (**आचार्य सेम्पादोर्जे, प्रो० एस० रिम्पोछे**)।

बौद्धदर्शन व्यक्ति के समाजानुरोधी विकास के लिए अवसर इसलिए प्रदान करता है कि उसमें आत्मदृष्टि और नित्यता के विरोध में क्षणिकता का सिद्धान्त मान्य है। क्षणिकता का सिद्धान्त व्यक्ति के महत्त्व को खड़ा कर देता है। इस स्थिति में व्यक्ति बुद्धि और नैतिक आचरण के आधार पर ऊपर उठ सकता है। इसीलिए वह निवृत्तिवादी भी नहीं है, क्योंकि मनुष्य परस्पर एक दूसरे के आधार पर ही नैतिक या अनैतिक होता है। इस प्रकार निषेधात्मक दृष्टि से ही बौद्धों ने व्यक्ति और समाज की स्थिति को स्वीकार किया और इसके लिए शाश्वत नैतिक गुणों को आधार बनाया (**प्रो० बी० वी० किशन**)।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर चर्चा करने के पहले यह आवश्यक है कि बौद्ध सन्दर्भ में उनके अस्तित्व के स्वरूप एवं स्तर को समझा जाय। दोनों ही संवृति सत्य हैं, पारमार्थिक सत्ता दोनों की नहीं है (**श्री रामशंकर त्रिपाठी**)। किञ्चित् परिवर्तन के साथ इससे मिलते-जुलते विचार प्रायः सभी विद्वानों के हैं। व्यष्टि एवं समष्टि एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है (**डॉ० महेश तिवारी**)। समष्टि-व्यष्टि सम्बन्धों के पीछे विशेष दृष्टियों का अभ्युपगम है, इस स्थिति में इस सम्बन्ध की सम्पूर्ण चर्चा प्रपञ्च भाषा में किया जाता है (**डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय**)। व्यक्ति एवं समाज दोनों अनुपलम्भ एवं असत् हैं। दोनों की व्यावहारिक सत्ता महाकरुणा पर आश्रित है (**डॉ० लालमणि जोशी**)। समष्टि तात्त्विक नहीं, नाममात्र एवं भ्रान्तिमात्र है (**डॉ० हर्षनारायण**)। उपर्युक्त विचारों में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनका प्रयोग किसी न किसी तरह बौद्धग्रन्थों में मिलता है। किन्तु उसके आधार पर यह निर्णय लेना कि उक्त सभी वाक्य बौद्धदर्शन का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं यह विचारणीय है, इसके अनेक कारण हैं। जो वास्तविक नहीं है, वह माया है, वह अलीक है, भ्रम है, तुच्छ है, यह धारणा अन्य भारतीय दर्शनों में प्रचलित है। उसका भी कम या अधिक प्रभाव इन प्रतिज्ञा वाक्यों के पीछे हो सकता है। किसी भी स्थिति में इसका निर्णय लेना ही होगा कि बहुप्रचलित एवं शास्त्र व्यवहार का सामान्य शब्द **संवृतिसत्य** से अस्तित्व की जो धारणा बनती है, वह व्यक्ति और समाज की वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए कितना सक्षम

आधार है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बौद्ध दृष्टि से सत्य की अवधारणा की समीक्षा की जाय।

गोष्ठी के प्रायः सभी विद्वानों ने व्यष्टि और समष्टि की सत्ता समान स्तर की है, इस मत को प्रगट किया है; किन्तु उन्होंने जब उसे **संवृत्ति सत** या **व्यावहारिक सत्ता** आदि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है। इस स्थिति में ऐसा लगता है कि **ये** विद्वान व्यक्ति और समाज को परमार्थ की अपेक्षा एक निम्न स्तर की सत्ता या तुच्छता प्रदान कर रहे हैं। इस स्थिति में अनायास हो यह भ्रम खड़ा हो जाता है कि बौद्ध भी जीव और जगत एवं व्यक्ति और समाज के प्रति **मायावादी** दृष्टि रखते हैं। फलतः सामाजिक समस्याओं के प्रति ये भी उदासीन और पलायनवादी हैं। इस स्थिति में आधुनिक सन्दर्भ में व्यक्ति एवं समाज सम्बन्धी समस्याओं की जटिलता को सुलझाने में बौद्ध चिन्तन की प्राथमिकता एवं प्रामाणिकता समाप्त होने लगती है।

व्यक्ति और **समाज** दोनों **परमार्थ सत्य** नहीं हैं, बौद्धदृष्टि में इस वाक्य का अभिप्राय क्या है ? क्या इस वाक्य से यह निकलता है कि दोनों असत्य हैं ? स्पष्ट है कि संवृति सत्य कभी असत्य नहीं है, सत्य यथार्थता है। इसलिए परमार्थ सत्य की तरह संवृत्ति सत्य को भी यथार्थता से भिन्न करके समझा नहीं जा सकता। यथार्थता के बोध के लिए एक विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जो सर्वसुलभ नहीं है। इसलिए अप्रशिक्षित स्थिति में उस यथार्थता के बोध का एक भिन्न प्रकार होगा, जिसे संवृत्ति सत्य के द्वारा कहा जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक ही तथ्य को समझने के लिए संवृति और परमार्थ ज्ञान के केवल प्रकार भेद हैं, वस्तुभेद नहीं। इस प्रकार **व्यक्ति** और **समाज** समान स्तर के दो तथ्य हैं जिन्हें **संवृति** और **परमार्थ** दोनों प्रकारों से समझा जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान के प्रकार-भेद से मात्र मूल्यबोध में भेद आयेगा। इस द्विविध मूल्यबोध को स्पष्ट करने के लिए संवृति एवं परमार्थ का संकेत आवश्यक है।

विद्वानों ने व्यक्ति और समाज का समान स्तर स्वीकार करते हुए भी उनके बीच साध्य-साधन, तात्त्विकता एवं कल्पना आदि के आधार पर स्तर भेद एवं मुख्य-गौण भेद करना आवश्यक माना। इस सम्बन्ध में कहा गया कि व्यक्तित्व की स्वीकृति एवं उसकी इदन्ता की रक्षा एक व्यावहारिक आवश्यकता है, जिसकी स्वीकृति के बिना न तो मानव जीवन के वैयक्तिक और न सामाजिक पहलू की व्याख्या की जा सकती है। बौद्ध दृष्टि में **व्यक्ति साध्य** एवं **समाज साधन** है। दोनों सांव्यावहारिक हैं, परन्तु दोनों में जो मूलभेद है, वह यह कि व्यक्ति प्राथमिक स्तर की रचना है जबकि समाज गौण स्तर की (**प्रो० सिद्धेश्वर भट्ट**)। बौद्धों के पदार्थ शास्त्रीय मान्यता के आधार पर व्यक्ति को पदार्थ की स्वलक्षणता अर्थात् उसकी असाधारणता के आधार पर तात्त्विक और उन असम्बद्ध एवं स्वतन्त्र व्यक्तियों की पुंज के रूप में समाज को स्वीकार करके उनके बीच सम्बन्ध की कल्पना

प्रसूत बताते हुए कहा गया कि बौद्ध दृष्टिकोण में तात्त्विक स्वलक्षणता के रक्षार्थ व्यक्ति समाज के बीच सम्बन्ध में तात्त्विकता नहीं मानी जा सकती (**पं० आनन्द झा**)। इसी दृष्टि में व्यक्ति और समाज और उसके सम्बन्ध तीनों की तात्त्विकता **न्यायवैशेषिक** में पूर्ण रूप से, और **अद्वैतवेदान्त** में कथञ्चित बनती है। व्यक्ति की सामाजिक चेतना का विकास अतार्किक ढंग से घटित है। इस मत को स्पष्ट करने के लिए बौद्धों की पदार्थशास्त्री स्थिति प्रस्तुत की गयी। कहा गया कि बौद्धों की '**कुर्वद् रूप**' सत्त्व के सिद्धान्त से व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। बौद्ध कहते हैं अणुओं पर दृश्य विश्व की संरचना वासनावश व्यक्ति किया करता है। यह उसकी अविचारित रमणीय रचना है जिसमें उसकी तर्कना शक्ति बिल्कुल काम नहीं करती। समाज रचना तथा समाज स्थिति के नियमन में तार्किक प्रक्रिया का विशेष स्थान नहीं है (**डॉ० नारायण शास्त्री द्राविड**)।

व्यक्ति और समाज में कौन प्रथम ? इसके समाधान में परम्परागत बौद्ध दृष्टि के अनुसार व्यक्ति की प्राथमिकता को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति और समाज के सुख में अद्वयता तथा उसकी अन्योन्याश्रयता के आधार पर इस प्रश्न के एकतर पक्ष पर आत्यन्तिक जोर देना बौद्ध सम्यग्दृष्टि के विपरीत है, यह बताया गया। किन्तु आज व्यक्तिवादी या समाजवादी पद्धतियों के कारण व्यवस्था में जो महान अन्तर आ जाता है इसलिए प्राथमिकता या श्रेष्ठता की बौद्ध दृष्टि क्या है ? इस पर विचार करते हुए कहा गया कि बौद्धदृष्टि से पद्धति का प्रश्न तो क्रम का प्रश्न है, फल का नहीं। व्यवहार में काम करने का एक सिलसिला बनाया जा सकता है। लेकिन कामकाजी क्रम से व्यक्ति या समाज में से एक या दूसरे पर आत्यन्तिक बल नहीं पड़ता। यहाँ यह या वह का प्रश्न नहीं, दोनों ही का है। सत्त्वों के **चरित** में भेद हो सकता है, कोई व्यक्ति-चरित तो कोई समष्टि-चरित। इस दृष्टि से उनकी चर्याओं में भेद भी हो सकता है किन्तु इन चर्याओं के भेद से सिद्धि में भेद नहीं। सिद्धि से तो उस अद्वय, युगनद्धदशा को ही प्राप्त करना है जिसमें स्वपर का भेद नहीं है (**प्रो० कृष्णनाथ**)।

अन्य विद्वानों के निबन्ध से उक्त बात कुछ और स्पष्ट होती है। व्यक्ति तथा समाज की असत्ता की परमार्थता को स्वीकार करते हुए कहा गया कि इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों की एकता का अधिगम होता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर व्यष्टि समष्टि के बीच अभिन्नता अधिगम हो सकती है (**डॉ० लालमणि जोशी**)। व्यष्टि समष्टि की अभिन्नता के प्रश्न पर कुछ और विचार भी प्रगट किये गये हैं। समष्टि व्यष्टि के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए, जिसका आधार परस्पर का आदान-प्रदान हो और उसके आधार पर अधिकार एवं कर्तव्य की व्यवस्था बन सके। **माध्यमिक** या अन्य बौद्धदर्शन के प्रस्थानों में ऐसा सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि माध्यमिक दर्शन में आदान-प्रदान के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यष्टि और समष्टि अन्योन्य सापेक्ष होने के कारण स्वयं स्वभाव शून्य है। **सर्वदृष्टिप्रहाण** के द्वारा उनके बीच दृष्टि सापेक्षता समाप्त हो जाती है। **वेदान्त** और

माध्यमिक दोनों दृष्टि प्रहाणवादी हैं, माध्यमिक सर्व-शून्यता के द्वारा और वेदान्त अपरोक्षानुभूति से। इस स्थिति में कहा गया कि **बौद्धों** के अनुसार समष्टि का अपना कुछ नहीं है। **वेदान्त** के अनुसार समष्टि में वह सब कुछ है जो व्यष्टि उसमें आधान करती है। पर वह इन आधान की गयी बातों को अतिक्रान्त करके व्यवस्थित है। वेदान्त में एक आधार है उसको केन्द्रित करके व्यष्टि समष्टि को भलीभाँति समझा जा सकता है। इसी कारण कम से कम व्यावहारिक स्तर पर आदान-प्रदान भी हो सकता है। बौद्धदर्शन विशेषतः माध्यमिक दर्शन के पास ऐसा कोई आधार नहीं है। इस तरह अकेले बौद्धदर्शन व्यष्टि समष्टि की आधुनिक समस्या पर उतना विशद प्रकाश नहीं डाल सकता, जितना माध्यमिक अद्वैत वेदान्त के सम्मिलित समन्वित दर्शन से (**डाॅ० रामचन्द्र पाण्डेय**)। इसी बात को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी कहा गया कि बौद्धदर्शन मूलतः एक व्यष्टि दृष्टि प्रधान विचारधारा है। इसलिए व्यक्ति को कभी सामाजिक ढाँचे के आधार से नहीं समझा जा सकता। उक्त कमी को पूरा करने के लिए पूर्ववर्ती वैदिक दर्शन में जहाँ समष्टि को जीवन का एक अपरिहार्य पक्ष माना गया है, उसे बौद्धदर्शन के साथ जोड़ लेना चाहिए (**डाॅ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय**)।

उपर्युक्त विचारों से सर्वथा भिन्न विचार भी प्रकट किये गये हैं। बौद्धमत की यह सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता है कि इसके अनुसार व्यक्ति एवं समाज की **निःस्वभावता** को ध्यान में रखकर हो उनकी सत्ता और महत्ता का समर्थन हो सकता है। ऊपर से देखने पर यह कथन विरोधपूर्ण अथवा पैरोडाक्सिकल प्रतीत होता है। परन्तु परमार्थ को भुलाकर सिर्फ व्यवहार की दृष्टि से व्यष्टि एवं समष्टि पर परिसंवाद करना भौतिकवादी अथवा लोकायतिक व्यापार के समान होगा। **बौद्ध अनीश्वरवादी** एवं **अनात्मवादी** है। इस मत में सभी प्राणियों की समानता एवं अखण्ड एकता के आधार हैं सभी प्राणियों की **१—अनात्मता २—नश्वरता ३—दुःखता ४—सुखकामना ५—भय** के प्रति हेयता आदि। निवृत्ति परक एवं त्याग प्रधान इस श्रमण धर्मदर्शन का आदि और अन्त संसार है क्योंकि यही उसका **बोधिमण्ड** है और यह संसार ही उनका बुद्धक्षेत्र है। ज्यों-ज्यों बोधिसत्त्व का चित्त परिशुद्ध होता है त्यों-त्यों बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि होती है (**डाॅ० लालमणि जोशी**)।

बौद्धदृष्टि में व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्ध की संभावना पर विद्वानों ने विस्तार से विवेचन किया है। व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध उसके कर्म से निश्चित होता है। इसी आधार पर बुद्ध देशना में मानव प्रामाणिकता को मान्यता मिली है (**डाॅ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय**)। कर्मवाद के आधार पर ही बौद्धों ने सारे नैतिक मूल्यों को विकसित किया। उनके व्यावहारवाद का मूल्य भी कर्म ही है जो सिर्फ भिक्षुओं तक नहीं, सबके लिए विस्तृत है। इसी के कारण बौद्धों ने कार्यकारणभाव को तार्किक महत्त्व दिया और पुनर्जन्म को स्वीकार कर बुरे को छोड़कर अच्छे को ग्रहण करने का मार्ग प्रशस्त किया (**प्रो० बी० बी० किशन**)। व्यक्तित्व के उत्पाद

के अनेक कारण हैं, व्यक्तियों की विज्ञप्तियों में भी परस्पर कारणता है। व्यक्ति में कुशल या अकुल विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अन्य व्यक्तियों को विज्ञप्तियों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार कार्यकारण के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के **अधिपति** प्रत्यय हैं। इस प्रकार **अन्योन्याधिपतित्व** या **परस्पराश्रयता** ही इनके बीच का बौद्ध दृष्टि से सम्बन्ध कहा जा सकता है (**श्रीरामशंकर त्रिपाठी**)।

सम्पूर्ण बौद्धचिन्तन में **कर्म, प्रज्ञा** और **करुणा** ही वे मूलभूततत्त्व हैं जिनके आधार पर एक व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध विकसित होता है तथा दूसरी ओर उसी से नीति और धर्म के औचित्य का भी निर्धारण होता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध सूत्र **कर्म** है। कर्म मूल से व्यक्ति चित्त का एक अभिसंस्करण है जिसके आधार पर कुशल और अकुशल का संग्रह या निराकरण होता है। कर्म चयन एक स्वतन्त्र प्रक्रिया है। बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति अच्छा या बुरा नहीं होता। इस चयन की प्रक्रिया से ही वह अपने या दूसरों को अच्छा बुरा बनाता है। कर्ममूलक कार्यकारण की जिस व्यवस्था में अकुशल व्यक्तित्व बनता है, उसी के अर्न्तगत कुशल व्यक्तित्व के निर्माण का भी मार्ग है। यह **मार्ग** स्वयं भूत नहीं है। अपितु व्यक्ति के प्रयास से जन्य है। यह **आश्रय परावृत्ति** या **व्यक्तित्व परिवर्तन** की प्रक्रिया है। **परात्मसमता** एवं **परात्मपरिवर्तन** से वह प्रगतिशील बनती हैं। इस प्रक्रिया में इस बात की पूरी संभावना खड़ी हो जाती है कि नैरात्म्य का अनुभव हो, और उसके आधार पर लोक में नयी और निष्कलुष मान्यताओं एवं सम्बन्धों की स्थापना की जाय।

उक्त पृष्ठभूमि में **प्रतीत्यसमुत्पाद** का एक क्रान्तिकारी दर्शन वर्तमान है जिसे **प्रज्ञा या प्रज्ञापारमिता** कहते हैं। प्रज्ञा के इस आलोक में यह स्पष्ट होने लगता है कि जीवन में व्यापक विषमता के पीछे कार्यकारण आदि से सम्बन्धित बहुत सी गलत अवधारणायें काम करती हैं। उन्हीं के घेरे में एक विशेष प्रकार का स्व पर या व्यक्ति समाज से सम्बन्धित मान्यताएँ खड़ी कर ली गयी हैं। प्रज्ञा के इस व्यापक प्रकाश में करुणा अपनी व्यक्तिगत सीमा से उठकर विशाल आयाम ग्रहण कर लेती है। इस परिस्थिति में दुःख की व्याख्या का क्षेत्र केवल व्यक्तियों तक सीमित न रह कर दुःख के उत्पन्न होने की व्यवस्था या परम्परा से सम्बद्ध हो जाता है। उस स्थिति में करुणा और उससे प्रेरित क्रिया-शक्ति **व्यक्तयाधारित** (सत्त्वालम्बना) नहीं रह जाती, प्रत्युत **धर्मालम्बना** (नियमाश्रित या प्रवाहाश्रित) हो जाती है। आगे चल कर वह **अनालम्बना** या **सहज** होकर उसका करुणाधारित कर्मक्षेत्र अति-विस्तृत एवं अत्यन्त उदार हो जाता है। इस स्थिति में अव्याहतसर्जनशीलता का उदय होता है, क्योंकि एक ओर वहाँ की प्रज्ञा अमला एवं उत्तरोत्तर सर्वग्राही होती जाती है और उसके साथ दूसरी ओर करुणापूर्ण सीमाओं और निमित्तों को तोड़कर व्यापक रूप में प्रवाहित एवं क्रियाशील होती जाती है। इस स्थिति में निर्वाण की व्यक्तिगत सीमा समाप्त हो जाती है और जीवन का लक्ष्य परार्थ हो जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज का विलोप नहीं होता, प्रत्युत उनसे सम्बन्धित पुरानी

अवधारणाओं के स्थान पर नये आदर्श और उसके अनुसार नया विराट आयाम प्राप्त होता है।

(२)

उपर्युक्त वक्तव्य से इस **संगोष्ठी** के उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व होता है जो इस पक्ष के उपस्थापक थे कि **बौद्धदर्शन न केवल व्यक्ति समाज की समस्याओं के समाधान में सक्षम है, प्रत्युत उसके लिए चिन्तन की नयी एवं श्रेष्ठ दिशा प्रदान कर सकता है।**

दूसरी महत्त्वपूर्ण गोष्ठी का विषय था **'भारतीय चिन्तन परम्परा में सामाजिक समता का स्वर'**। कहना नहीं है कि व्यष्टि समष्टि से सम्बन्धित विचार का सामाजिक समता के प्रश्न से घनिष्ट सम्बन्ध है। व्यष्टि समष्टि के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है, इसे न केवल आधुनिक विद्याओं के विशेषज्ञों ने बल्कि परम्परागत शास्त्रों के वैदिक अवैदिक धाराओं के विज्ञानों ने भी स्वीकार किया। यहाँ तक कहा गया कि बौद्धमत में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुए भी व्यष्टि समष्टि रूप है यह सिद्धान्त उपपन्न होता है (**डॉ० शान्तिभिक्षु शास्त्री, श्री रामशंकर त्रिपाठी** आदि)। यह भी कहा गया कि व्यक्ति का समष्टि में विलयन होता है, वे दोनों परस्पर सापेक्ष एवं समप्रधान हैं (**पं० सुधाकर दीक्षित** आदि)। यह ठीक है कि व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित चिन्तन की आधुनिक अवधारणा से ये विचार भिन्न पड़ जाते हैं, क्योंकि आधुनिकचिन्तक तथ्य या तत्त्व की दृष्टि से व्यक्ति समाज की द्वैतसत्ता को अंगीकार करके विचार करता है, जबकि सभी प्रमुख परम्परागत चिन्तन अद्वैत तत्त्व या तथ्य में पर्यवसित होने लगते हैं। किसी भी स्थिति में भारतीय चिन्तन के सन्दर्भ में व्यक्ति समाजानुरोधी है, इसलिए उनके बीच आदान-प्रदान की प्रभूत सम्भावनायें हैं इस तथ्य को प्रायः सभी विचारधारा के विद्वानों ने स्वीकार किया। किन्तु इस निष्कर्ष के परीक्षण के लिए यह आवश्यक होगा कि उनकी मीमांसा उन व्यावहारिक गुणों एवं मूल्यों के सन्दर्भ में करें जिनका विकास व्यक्ति और समाज में होना चाहिए, जैसे समता, स्वतन्त्रता, एकता आदि। इस दृष्टि से सामाजिक समता पर विचार करने का महत्त्व बढ़ जाता है।

यह प्रश्न बहुत उभर कर आया कि क्या भारतीय चिन्तन में समतावादी दर्शन होने की अर्हताएँ हैं। एकमत के अनुसार ऐसे दर्शन के लिए अपेक्षा है कि वह सभी सत्यों को मानवसत्य और व्यक्ति को समाज साधन नहीं साध्य के रूप में स्वीकार करे। इस मत के अनुसार व्यक्ति को स्वतन्त्रता और उसका स्थायित्व स्वीकार करना आवश्यक होगा, जिनके बीच अन्योन्याश्रय एवं अन्योन्य सम्बन्ध व्याख्यापित हो सकें। किन्तु भारतीय दर्शनों द्वारा इन अर्हताओं के आत्मगत करने में सबसे बड़ी बाधा रही है उनके द्वारा दो सत्यों के सिद्धान्त का अंगीकार करना। **परमार्थ सत्य** एवं **व्यवहार सत्य** ये दोनों अन्तर्विरोधी हैं। ये दोनों सत्य दो सर्वथा स्वतन्त्र दो संसारों का रूप ले लेते हैं, जिनमें किसी प्रकार का संचार, समागम एवं संव्यवहार (कम्यूनिकेशन) सम्भव नहीं है (**डॉ० हर्षनारायण**)। इस वक्तव्य

में जितनी मात्रा में तथ्य है उतनी में इस बात की गुंजाइश खड़ी हो जाती है कि सिद्धान्त के रूप में आध्यात्मिक स्तर पर समता की बात की जाय, और उसके ठीक विपरीत वास्तविक जीवन में व्यवहार के स्तर पर विषमता का पोषण किया जाय। इस प्रकार इन दो सत्यों के आधार पर एक ही जीवन में तात्त्विक एवं आध्यात्मिक समता और व्यावहारिक एवं बाह्य विषमता के बीच बेमेल तालमेल बैठा लिया जाता है।

भारतीय दर्शनों का प्रधान स्वर **व्यक्तिवादी** है। इस बात को ध्यान में रखकर इस प्रश्न पर दूसरे प्रकार से भी प्रकाश डाला गया। **समता** किसी **व्यक्ति** का स्वभाव नहीं, **समाज** का स्वभाव है। समता सामाजिकता का अन्यतम मूल्य और आदर्श है। मनुष्य में बौद्धिकता और सामाजिकता के विकास के अतिरिक्त सम्मान की प्रवृत्ति का भी विकास होता है जो पर के बिना नहीं होता। इसलिए आत्मसम्मान और पर सम्मान सामाजिक स्तर पर मानव स्वभाव के अंग बनते हैं। सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में सम्मान की भावना ही कर्म की दृष्टि से नैतिकता कही जाती है। यह भी कहा गया कि मनुष्यों में समता का विकास उसके आन्तरिक स्वतन्त्रता से ही प्रादुर्भूत है। **स्वतन्त्रता** का गुण **समता** में अनुस्यूत है। व्यक्ति के सम्मान के पीछे जो सिद्धान्त है, वह यह है कि प्रत्येक मानवात्मा स्वयं ही अपना अन्तिम मूल्य है (**प्रो० राजाराम शास्त्री**)। इस समस्या पर प्राचीन चिन्तन से आधुनिक चिन्तन का भेद स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया कि प्राचीन भारतीय दर्शन और साधना में आन्तरिक एवं आध्यात्मिक समता पर ज्यादा बल है और आधुनिक दर्शन और साधना में सामाजिक और बाह्य समता पर अधिक बल दिखाई पड़ता है। वास्तव में समता दृष्ट धर्म है, अदृष्ट नहीं। वह अनुभवगम्य एवं परीक्षण योग्य है। समता सिर्फ मनुष्यता के सामान्य गुण के रूप में नहीं बल्कि व्यवहार में जरूरी है (**प्रो० कृष्णनाथ**)।

इस प्रकार समता की अवधारणा के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में जो अन्तर है और भारतीय चिन्तन में दृष्टिगत एवं व्यवहार गत जो बाधायें हैं, उन्हें विद्वानों ने विचारार्थ प्रस्तुत किया है। दो सत्यों की मान्यता के आधार पर जो परमार्थ और व्यवहार के बीच का विरोध बताया गया, उसका विश्लेषण करते हुए **शैवशाक्ततन्त्र** एवं **वैष्णवतन्त्रों** के उदारवादी दर्शन और व्यवहार की मीमांसा की गयी। तन्त्र साहित्य के विद्वानों ने भी स्वीकार किया कि तन्त्र दर्शन अन्य भारतीय दर्शनों का अपवाद नहीं है जिसके आधार पर समता का कोई लोक-व्यवस्थापक स्वरूप उभरता हो। परन्तु इस सम्बन्ध में **तान्त्रिक** और **वैदिक** परम्परा में कोई मौलिक अन्तर अवश्य था, जिसके आधार पर उन्होंने मोक्ष को भोग मोक्ष का सामरस्य और सभी वर्णों एवं देवताओं में समता की घोषणा की (**डॉ० नवजीवन रस्तोगी**)। वैष्णव पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया कि शूद्र के लिए यद्यपि **रामानुजाचार्य** एवं **शंकराचार्य** में भेद नहीं है फिर भी इतना तो है ही कि वैष्णव

तन्त्रों में स्त्री, शूद्रों के लिए भक्ति एवं शरणागति के द्वार का उद्घाटन किया गया। इतना होते हुए भी सामाजिक विषमता को दूर करने की दिशा मे कोई सफलता नहीं मिली। इस बात का प्रमुख कारण यह है कि ये सिद्धान्त मन्वादि स्मृतियों का स्थान नहीं ले सके। इसके विपरीत परवर्ती काल में ये तान्त्रिक मन्वादि से अपने को अविरोधी स्थापित करने में लग गये (**डॉ० अशोक कुमार कालिया**)।

तान्त्रिक दर्शनों में द्वैतवादी या अद्वैतवादी सभी ने वेदान्त के मायावाद को अस्वीकार करके स्वातन्त्र्य, समता और व्यक्ति के **आत्म प्रत्यभिज्ञान** के सिद्धान्त को स्थापित किया। इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि तान्त्रिकों ने दो सत्यों के विरोध को यथासंभव दूर करने का प्रयास किया। **श्रमणविद्याओं** के विद्वानों का इस प्रश्न पर कुछ भिन्न मत है। एक ओर तो वे सैद्धान्तिक आधार पर दो सत्यों का ऐकान्तिक विरोध स्वीकार नहीं करते और दूसरी ओर जगत के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध करुणा, समता आदि गुणों को वे तात्त्विक शून्यता या अनैकान्तिकता के सिद्धान्त से जोड़ते हैं। जो है वह **प्रतीत्यसमुत्पन्न** है, **शून्यता** उसका निषेध नहीं करती, प्रत्युत उसकी स्वभावसत्ता का निषेध करती है। इस विधि से जगत का त्याग नहीं संग्रह किया जाता है, जगत में दुःख है इसलिए करुणा उत्पन्न होती है, वह जगत के सम्बन्धों को जोड़ती है। समता का कोई तात्त्विक अस्तित्व नहीं, बल्कि विषमता का अभाव है (**श्रीरामशंकर त्रिपाठी**)। **जैन** दृष्टि से कहा गया कि समता का मूल आधार व्यक्ति का स्वातन्त्र्य और सामान्य की अनुभूति है। विशेष की निरपेक्ष अवधारणा विषमता की जननी है। **अनेकान्त** की **सापेक्षता** व्यक्ति समाज के वीच सम्बन्ध स्थापित करती है और समता के लिए अवसर प्रदान करती है (**डा० गोकुल चन्द्र जैन**)। जैन-बौद्ध दोनों ही यतः सृष्टि में मानव का सर्वश्रेष्ठ महत्त्व स्वीकार करते हैं, इसलिए उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार करने में उन्हें अधिक कठिनाई नहीं है।

समता से सम्बन्धित विचार विमर्श के प्रसंग में **वर्णाश्रमधर्म** के पक्षपाती विद्वानों ने भी अपना शास्त्राधारित मत प्रस्तुत किया। कहा गया कि वर्णाश्रम के अनुसार अपने अपने विहित कर्मों को करना ही समाज व्यवहार है। अधिकारों के अतिक्रमण से ही वैषम्य बुद्धि उत्पन्न होती है। **समत्वदृष्टि** भावना बल से उत्पन्न की जाती है। इसलिए उसमें वर्णाश्रम धर्म कहीं बाधक नहीं होता। पारमार्थिक दशा की समता दृष्टि किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं है और समता की व्यावहारिक स्थिति पारमार्थिक दृष्टि का बाधक भी नहीं है। कहा गया कि इस व्यवस्था के लिए **मीमांसा दर्शन** की सरणी ही उपयुक्त है और व्यवहार में यदि **कुमारिल भट्ट** का अनुसरण किया जाय तो जगत जीव के सम्बन्ध में **मिथ्यावादी वेदान्त** भी इसमें कथंचित सहायक हो सकता है किन्तु **अनात्मवादी, शून्यवादी बौद्धदर्शन** तो कथमपि नहीं। **मीमांसा दर्शन** समतावाद के अधिक समीप इसलिए है कि वह **इतिकर्तव्यता** का निर्धारण कर वर्णाश्रम धर्म के परिपालन में लोगों को नियत करता है और समाज

में वैषम्य बुद्धि उत्पन्न नहीं करता। इस मत में शास्त्रसम्मत कर्तव्यों का पालन ही भारतीय संस्कृति है (**पं० पट्टाभिराम शास्त्री**)। इस पक्ष को एक दूसरे प्रकार से भी पुष्ट किया गया। सभी व्यक्तियों का आत्मत्वेन दर्शन ही **समदर्शन** हैं, जैसे घटों में घटत्व का साक्षात्कार। इस प्रकार की समत्व दृष्टि से लोक-कल्याण **संभव** है। अहन्त्व के रूप में प्रतिभासित उपर्युक्त **समत्व आध्यात्मिक** है, जो व्यवहार काल में प्रतिबद्ध रहता है, उसका निराकरण करना ही दर्शन शास्त्र का उद्देश्य है। इस प्रकार की समता दृष्टि को छोड़कर यदि केवल समानधर्मता के आधार पर समता खड़ी की जाय तो उससे समाज की वास्तविक समृद्धि नहीं होगी; मात्र आहार-निद्रा-भय-मैथुनादि प्रवृत्तियों के भोग में समन्वय लाया जा सकता है। **पारमार्थिक** और **व्यावहारिक** उभयविध **समता** है। दोनों से ही **त्रिवर्ग** की समृद्धि बढ़ेगी। सर्वत्र अहन्त्व दृष्टि होने के कारण पक्षपात राहित्य आदि गुण खड़े होंगे, और इसी प्रकार अहन्त्वमानी व्यक्ति संसार त्याग का सुख और आत्मरत हो जाने की संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के रूप में समाज के लिए ऐसे योगियों की अपेक्षा बनी रहती है। इस प्रकार आध्यात्मिक समता और व्यावहारिक समता दोनों से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु समाज में ऐसी समता नहीं होनी चाहिए जो समाज की व्यवस्था के अनुरूप विकसित गुण और बौद्धिकता के आधार पर सामाजिक आर्थिक विषमता को हीन बना कर उसे विलुप्त कर दे। क्योंकि गुणानुरोध से सामाजिक विषमता भी तत्तद् दर्शनों द्वारा प्रतिपादित है (**पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार**)।

वर्णाश्रमवादी उक्त दो वक्तव्यों के द्वारा वर्णवादी और वर्ण-व्यवस्थामूलक समस्त विषमताओं का समर्थन करते हुए भी एक प्रकार से सामाजिक समता की सम्भावना को उभारने की चेष्टा की गयी है। इससे इतना तो स्पष्ट ही होता है कि इस विचार के लोग भी अपने प्रतिबन्धों के बावजूद सामाजिक समता की खोज कर रहे हैं। प्राय: सभी विचारकों की एक सामान्य खोज है कि **आध्यात्मिक समता** का **व्यावहारिक समता** के साथ **सम्बन्ध** कैसे जोड़ा जाय? कहा गया कि समता के प्रश्न को अध्यात्म के साथ जोड़ना चाहिए। यदि यह जुड़ाव होगा तो भारतीय दर्शन की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ेगी, सबके प्रति सबकी अच्छी निगाह बनेगी। यदि ऐसा नहीं हुआ तो दुराव और संघर्ष बढ़ेगा (**श्री राधेश्याम धर द्विवेदी**)। कहा गया कि आज समता की भूख जग गयी है। किसिम-किसिम की विशेषता को यह खा रही है (**श्री कृष्णनाथ**)। यह भी कहा गया कि व्यक्ति एवं समष्टि के बीच शाश्वत एवं निरन्तर द्वन्द्व हैं, व्यक्ति पर यदि समष्टि का दबाव न हो तो वह चाहेगा कि उसे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। समष्टि की रक्षा के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अलग-अलग स्वार्थों में लगकर धूमायमान न हो जाय। सब लकड़ियाँ साथ-साथ जलेंगी तो समाज के सर्वांगीण विकास की अग्नि प्रज्ज्वलित हो सकती है (**डॉ० कैलाशनाथ शर्मा**)। इस समस्या के समाधान की दिशा में अनेक दार्शनिक सम्भावनायें प्रस्तुत की गयीं। कहा गया कि **सांख्य दर्शन** और तदनुकूल **वेदान्त दर्शन** समतावाद के बहुत समीप है (**प्रो० राजाराम शास्त्री**)। तन्त्रों को

ओर संकेत करते हुए कहा गया कि सामाजिक समता की उचित और निर्बाध उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि व्यापक मूल्य चेतना के अन्तर्गत ही हम प्रयत्न करें (**डा० नवजीवन रस्तोगी**)। इसके समाधान में **बौद्ध** और **जैन** विचारक अपने दर्शन से अधिक आश्वस्त हैं किन्तु उनके समक्ष जीवन के सभी प्रमुख क्षेत्रों में समतावादी जीवनदर्शन के प्रयोग का प्रश्न ज्वलन्त रूप में खड़ा है। **कर्मवाद** और **पुनर्जन्मवाद** की उनकी परम्परागत मान्यता को जब तक नया सन्दर्भ नहीं मिलता, तब तक ऐहिकतावादी समता की समस्या उससे अलग-थलग ही पड़ी रहेगी। जिस कर्मवाद के आधार पर **बौद्धों** ने शाश्वतवाद और गतिहीनता की मान्यताओं का निरास किया और उसके परिणामस्वरूप मानववाद, सर्वसंग्राहक करुणा के सिद्धान्त को स्थापित किया, किन्तु उसकी जो एक सीमा थी उससे समता के बाह्य प्रयोग में कुण्ठित-सी पड़ गयी। ईश्वरवादी और आत्मवादी कर्मवाद के समक्ष इस समस्या का समाधान और भी कठिन हो जाता है।

कर्मवाद की इस समस्या पर भी विद्वानों के अनेकविध मत सामने आये। इस प्रसंग में **दृष्टकर्म** और **अदृष्टकर्म**, **व्यक्तिकर्म** और **समूहकर्म** तथा उसके व्यक्तिगत फल और सामूहिक फल पर **वैदिक** और **श्रमण** सभी दृष्टियों से विचार-विमर्श किया गया। परम्परागत मीमांसा शास्त्र के अनुसार कहा गया कि जिन कर्मों का फल ऐहिक जीवन में ही होता है उनका निर्णायक प्रमाण व्यवहार है, किन्तु उन कर्मों का प्रमाण वेदमूलक होगा, जिनका फल कालान्तर में होगा, फलतः उसका वर्तमान काल में व्यक्ति द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है (**पं० पट्टाभिराम शास्त्री**)। कर्मफल को विषमता का आधार मानने की बात का विश्लेषण करते हुए एक यह विचार प्रकट किया गया कि **विषमता** की भावना मनुष्य की **सहज प्रवृत्ति** है। इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना न तो सम्भव है और न मानवता के हित में है। किन्तु समाज में जो कृत्रिम विषमता व्याप्त है, वह समाज और शासन की व्यवस्था-गत त्रुटि का परिणाम है। प्राकृतिक विषमता पूर्वकर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है जैसे लिंग, रंग और बुद्धि आदि की विषमता। किन्तु छूआछूत, ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी आदि व्यवस्था जन्य है। इसके निराकरण का अवश्य प्रयास होना चाहिए। भारतीय दर्शन इस प्रयास में कहीं बाधक नहीं अपि तु साधक ही हैं (**प्रो० बदरीनाथ शुक्ल**)। इस प्रसंग में **दृष्टकर्म** और **अदृष्ट** के बीच विभाजन रेखा क्या हो? इस पर भी विचार किये गये। कहा गया कि बहुत से ऐसे कर्म हैं, जो एक समय में अदृष्ट कोटि के थे किन्तु अब वे मानव विज्ञान और भौतिक विज्ञानों की नयी जानकारी के साथ दृष्टकोटि में आते जा रहे हैं। उनके सम्बन्ध में अदृष्ट की कल्पना करना और उसके परिणामों को दैवाधीन स्वीकार कर लेना कहाँ तक तार्किक एवं वैज्ञानिक होगा? इसका ध्यान रखना होगा कि सभी भारतीय दर्शनों ने एक स्वर से दृष्ट के उपपन्न होने पर अदृष्ट की कल्पना को सर्वथा अप्रामाणिक माना है (**प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय**) **सामूहिक** और **व्यक्ति कर्म** तथा उसके **फल** पर भी विचार-विमर्श हुआ। यह

अनुभव किया गया कि विभिन्न रूपों में सभी भारतीय दर्शनों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है। इसके लिए आवश्यक है व्यक्ति, समाज और राज्य के आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में उस पर विचार करना और उस दिशा में नवीन वर्गीकरण और स्पष्टीकरण को प्रस्तुत करना !

व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्ध या **सामाजिक समता** के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उसकी पृष्ठभूमि में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्वानों में आदि से अन्त तक काम करती रहती हैं। **एक** यह कि भारतीय दर्शनों को आधुनिक सन्दर्भ के अनुसार अपने को ढालना चाहिए, जिसका फलित यह था कि भारतीय दर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण कमी है, जिसकी पूर्ति पाश्चात्य विचारों से कर लेनी होगी। **दूसरी** प्रवृत्ति यह उभर कर आयी कि इस प्रसंग में चिन्तन को दो धाराओं को जोड़ने का प्रश्न नहीं है, प्रत्युत भारतीय चिन्तन धारा में ही आधुनिक समस्याओं के समाधान की खोज होनी चाहिए। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक एवं श्रेष्ठ समाधान की ऐसी सम्भावनायें निहित हैं जो पाश्चात्य देशों में उभरी समस्याओं के श्रेष्ठ विकल्प या समाधान को प्रस्तुत कर सके।

इन गोष्ठियों की सफलता का श्रेय संयोजक श्री रामशंकर त्रिपाठी और श्री राधेश्याम धर द्विवेदी को है जिन्होंने ऐसे विषयों को विचार का केन्द्र-विन्दु बनाया, जो जीवन्त समस्याओं से परिपूर्ण है, और जिसपर अभी भी भारतीय दार्शनिकों का चिन्तन मुखर नहीं हो रहा है। इसका महत्त्व इसलिए और भी अधिक बढ़ जाता है कि ऐसी गोष्ठियों का आयोजन संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में किया जा रहा है जहाँ अभी भी परम्परागत भारतीय शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन की अक्षुण्ण परम्परा चल रही है और आज भी प्रायः सभी प्रमुख भारतीय चिन्तन की धाराओं के प्रामाणिक विद्वान उपलब्ध हैं। श्री त्रिपाठी जी बौद्धविद्या के प्रामाणिक विद्वान हैं और श्री राधेश्याम जी आधुनिक दर्शनों से भी परिचित हैं। जीवन और दर्शन की ज्वलन्त समस्याओं से ये परिचित हैं और परम्परागत अध्ययनाध्यापन के साथ-साथ नवीन समाधान की दिशा में जिज्ञासु हैं और सचेष्ट हैं। विद्या के विकास की दिशा में इनसे आशा की जा सकती है।

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय
डीन, श्रमण विद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

व्यष्टि एवं समष्टि की समस्या

पृष्ठभूमि

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते ।
एतदंशानुरूप्येण सत्त्वपूजा कृता भवेत् ॥
किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम् ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥
(बोधिचर्यावतारे ६ : ११८-१९)

बौद्ध दर्शन : व्यक्ति, समाज और उसके सम्बन्ध

व्यक्ति समाज और उसके सम्बन्ध को विचार का प्रमुख विषय बना कर पाश्चात्य दार्शनिकों, समाजवैज्ञानिकों और राजनीतिशास्त्रियों ने शताब्दियों तक चिन्तन किया है। उसके विकास का विस्तृत इतिहास है। उनकी यह भी एक विशेषता थी कि उनके विचार विद्वानों की गोष्ठियों या पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रहे, प्रत्युत उनका प्रभाव व्यक्ति, समाज और राज्यों पर पड़ता रहा और उसके फलस्वरूप प्राचीन मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्तन होते रहे। जिससे प्राचीन के स्थान पर नयी-नयी प्रणालियाँ परिचालित हो सकीं। इस विशेष प्रकार के चिन्तन ने न केवल पाश्चात्य देशों को अपितु कमवेश वर्तमान विश्व के अधिकांश देशों को प्रभावित किया है। इनके प्रभाव क्षेत्र में उन देशों का जीवन-दर्शन भी आया, जिनकी सहस्राब्दियों से अपनी परम्परागत श्रेष्ठ जीवन-परम्परा थी। भारतीय पुनर्जागरण के साथ इस देश ने भी उस चिन्तन प्रणाली को अङ्गीकार किया है।

दार्शनिक चिन्तन में भारतीय मनीषी अग्रणी रहे हैं। अनुभव एवं चिन्तन के आधार पर उन्होंने जीवन की विविधता और गम्भीरता का सम्यक् आकलन किया और उसे श्रेष्ठतम उद्देश्य प्रदान किया। एक विशेष सन्दर्भ में उन्होंने समसामयिक युग में व्यक्ति, राज्य और समाज को अपने जीवन-दर्शन से प्रभावित किया। आज विचारों के नये सन्दर्भ में उस जीवन-दर्शन एवं जीवन-विधि का पुनर्मूल्याङ्कन होना चाहिये। इस दिशा में भारतीय-दर्शनों ने विशेषकर बौद्धदर्शन एवं उसकी जीवन प्रणाली ने अपने प्रारम्भ काल से ही न केवल भारतीय अपितु विश्व के विराट् जन-जीवन को प्रभावित किया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण दर्शन के आलोक में व्यक्ति, समाज और उससे सम्बन्धित प्रश्नों का आज विवेचन करना बहुत ही आशाप्रद होगा। कहना नहीं है कि इस प्रसङ्ग में अन्य भारतीय दर्शनों का और पाश्चात्य विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन भी इस विचार गोष्ठी का पूरक होगा।

स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन प्राचीन विश्व में चाहे जितना भी मानवीय चिन्तन की दृष्टि से उर्वर एवं गतिशील रहा हो, किन्तु उसके बौद्धिक एवं सामाजिक प्रश्न प्राचीनकाल के हैं। इस स्थिति में व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्धों के विषय में विचार करते समय उसकी दार्शनिक सम्भावनाओं पर अधिक ध्यान देना होगा।

इसका यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि सामाजिक संस्थाओं और उनसे सम्बन्धित घटनाओं की उपेक्षा की जाए।

इस दिशा में विचार करने की दृष्टि से निम्नलिखित कुछ विषयों के सङ्केत हो सकते हैं।

बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों में व्यक्ति (मनुष्य) का स्वरूप क्या है ? और सत्ता (अस्तित्व) के क्या-क्या लक्षण हैं ? उस स्थिति में व्यक्ति और समाज की अवधारणा क्या बनती है ? व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध-सूत्र क्या है ? व्यक्ति और समाज में परस्पर एक दूसरे के प्रति किस प्रकार का उत्तरदायित्व माना जाएगा ? इन सम्बन्धों के बीच नीति के निर्धारण के लिए बौद्ध परम्परा के कौन से अभिमत निर्णायक होंगे ?

उपर्युक्त वैचारिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में जीवन के सम्बन्ध में मूल्यात्मक जिन विशेष प्रश्नों की ओर ध्यान जाता है, उसमें प्रधान हैं—व्यक्ति की स्वतन्त्रता, सामाजिक समता और उनके बीच मर्यादा का प्रश्न। इस सन्दर्भ में पुनर्जन्मवाद और कर्मवाद की बौद्ध मान्यताओं की ओर ध्यान आकृष्ट होता है, उसकी सङ्गति कहाँ तक बैठेगी ? इसी प्रकार अनित्यता एवं दुःखता, वैराग्य एवं निर्वाण की मान्यताओं की पृष्ठभूमि में लोकहित की धारणा एवं योजना भी विचारणीय होगी।

परिसंवाद गोष्ठी के विषयों पर विचार करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं से नितान्त रूप में न तो बँधा रहा जा सकता है और न तो उनकी उपेक्षा की जा सकती है, इसी प्रकार बौद्ध-शास्त्रों की पंक्तियों से भी। दोनों में ही परिवर्तन एवं सुधार की सम्भावनाएँ की जा सकती हैं।

• • •

बौद्धदृष्टि में व्यक्ति, लोक तथा सम्बन्ध

जगन्नाथ उपाध्याय

चिन्तन की दिशा

बौद्धदर्शन का प्रस्थान-बिन्दु जगत् के कर्ता की खोज नहीं है, जिसमें समुद्र, वन, पर्वत, पशु-पक्षी आदि चराचर हैं, अपितु साक्षात् मनुष्य का जीवन और उसकी समस्याएं हैं। क्या कुशल एवं श्रेष्ठ है ? सम्यक्त्व क्या है ? जिसके आधार पर आचार और विचारों की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया जाए। पाप और पुण्य क्या है ? उसके आकलन में व्यक्ति और उसके सम्बन्धों के परिवेश का क्या महत्त्व है ? इस प्रकार के नीतिगत प्रश्नों के प्रसंग में व्यक्ति और जगत् की व्याख्या करना बौद्धचिन्तन की मुख्य धारा है। बौद्धदर्शन का प्रधान क्षेत्र नीति-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा है, पदार्थशास्त्रीय विवेचन या अचिन्त्य-शक्तियों की खोज नहीं। उनके चिन्तन के पीछे प्रेरणा है—चारों दिशाओं में फैली हुई दुःखी जनता के दुःखों का निदान और निवारण के उपायों का अन्वेषण करना। वर्तमान जीवन की विवशता क्लेश है और उसका पुरुषार्थ क्लेशनिवारण है। दुःख और उसके कारक प्रायः सभी में समान हैं, इसलिए कोई वजह नहीं है कि उन कारणों के निवारण में व्यक्ति अपने को न लगाए और अन्य लोगों को भी उसके लिए प्रेरित न करे। इस नैतिक आदर्श से अनुप्राणित होकर जो चिन्तन प्रारम्भ हुआ, उसकी प्रमुख दिशा है व्यक्ति के चित्त को कलुषित करने वाली प्रवृत्तियों से उसे बचाना, उसमें ऐसी संकल्प-शक्ति जगाना, जिससे वह जिन सीमाओं में घिरा है, उससे निकलकर शुभ-विरोधी शक्तियों को समाप्त करने में सक्षम हो सके। भारतीय दर्शनों के बीच विचार की यह दिशा बहुत कुछ भिन्न है, इसलिये जीव और जगत् के अस्तित्व की व्याख्या और उसकी कारणता के निर्धारण में उसका विशेष प्रकार का योगदान है। इस पृष्ठभूमि में बौद्धों द्वारा जीव, जगत् और उसके सम्बन्धों का जिस प्रकार से विवेचन हुआ, उससे चिन्तन के आधुनिक परिवेश में भी व्यक्ति, समाज और उसके सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिए अवसर प्राप्त हो जाता है।

व्यक्ति और समाज के बीच व्यक्ति ही वह बिन्दु है, जिसकी रचना और उसके संस्कार और विकारों के अनुबन्ध में समाज का अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु व्यक्तित्व के गतिहीन एवं रूढ़ होने की स्थिति में समाज के परिवर्तनशील प्रभावों का

विश्लेषण करना बहुत कठिन या असम्भव हो जाता है। व्यक्ति के घटक उपादानों में नित्य एवं स्थिर पदार्थों का जिस मात्रा में योगदान माना जाएगा, उसी मात्रा में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के अध्ययन का अवसर कम होता जाएगा। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय दर्शन दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—(१) **नित्य और स्थिरतावादी** और (२) **अनित्य एवं अस्थिरतावादी**। आत्मा की नित्यता के आधार पर नित्यतावादी दर्शन व्यक्ति को यथासम्भव अन्य निरपेक्ष, स्वगत एवं स्वयम्भू मानते हैं। ऐसे दर्शनों में **परिणामवादी सांख्य** और **पर्यायवादी जैनदर्शन** एक सीमा में इस प्रकार की चेष्टा अवश्य करते हैं, जिससे नित्य आत्मा का भी बाह्य जगत् से ऐसा सम्बन्ध बना रहे, जिससे बाह्य संसार की ओर से आने वाले संस्कार और विकारों के प्रभाव के आधार पर भी व्यक्ति की व्याख्या की जा सके। आंशिक रूप में भी नित्यतावादी न होने के कारण बौद्ध दार्शनिकों को इसके लिये अधिक अनुकूलता है कि वे सापेक्षता के आधार पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का विश्लेषण कर सकें। व्यक्ति-सम्बन्धी सापेक्षता का सिद्धान्त समाज के परिवर्तनशील सम्बन्धों को आकलित करने एवं उन्हें ग्रहण करने में अधिक सक्षम है।

व्यक्ति-निर्माण

व्यक्ति निर्माण के दो मुख्य उपादान-समूह हैं, जिनके स्वरूप में अंशतः भी नित्यता या स्थिरता नहीं है, वे उपादान ये हैं—(१) चेतनाप्रधान चित्त और (२) जड-प्रधान शरीर और इन्द्रियाँ। जड से चेतन या चेतन से जड या उनमें परस्पर पौर्वापर्य के सिद्धान्त से बौद्ध दार्शनिक कथमपि सहमत नहीं हैं। वे जड और चेतन के बीच **सहवर्तित्व** और **सापेक्षता** के सिद्धान्त को मानते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के निर्माण के लिए उसके उपादानों में जड-चेतन पदार्थों की नितान्त अपेक्षा है। अन्यापेक्षता और सहवर्तित्व का सिद्धान्त सिर्फ जड-चेतन के मध्य ही नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्ररूप से जड जगत् और चेतन जगत् पर भी लागू है। इस प्रकार एक ओर वस्तुएँ जैसे अपने सजातीय उपादानों की अपेक्षा से खड़ी हैं, वैसे ही विजातीय उपादानों के बल पर भी। सभी दृष्टियों से वस्तु-सत्ता की अनिवार्यता है—**अन्यापेक्षता**। कारणता की व्याख्या भी बौद्धदृष्टि से नियमित अन्योन्यापेक्षता ही है। अन्य निरपेक्षता कारणता के बहिर्भूत है। इतना ही नहीं, वह वस्तु-सत्ता के भी बहिर्भूत है। इसीलिए नित्यता या स्थिरता को कभी भी कारण-कार्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्रयोजन-विशेष की निष्पत्ति वस्तु का असाधारण लक्षण है। अन्य निरपेक्षता की स्थिति में प्रयोजन-सिद्धि की सम्भावना समाप्त हो जाती है। आश्रय और आश्रयी के रूप में भी किसी नित्य पदार्थ की सम्भावना नहीं है। जिन

जडावयवों से स्थूल या सूक्ष्म जड वस्तुओं का निर्माण होता है, वह अपने अवयवों के संघात से अतिरिक्त कुछ नहीं है। अवयवों से अतिरिक्त जैसे अवयवी नहीं, उसी प्रकार चेतना-समूहों से अतिरिक्त कोई अन्य चेतन या जड आश्रय नहीं है। यह नहीं है कि व्यक्ति या वस्तु की अपनी कोई असाधारणता नहीं है, प्रत्युत असाधारणता का आधार (घट आदि वस्तुओं के) अवयवों का एक विशेष सम्पुञ्जन मात्र है। किसी भी स्थिति में व्यक्ति का कोई भी अंश अनिर्मित, असंस्कार्य एवं अविकार्य नहीं है। जड-चेतन हेतुओं से निर्मित व्यक्ति एक राशि है। उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अनित्य चेतना-समूहों का प्रमुख हाथ है। उसके आधार पर जैसे वह अपना जीवन (स्व-सन्तान) खड़ा करता है, वैसे ही बाह्य जगत् (पर-सन्तान और भौतिक जगत्) से सम्बन्ध भी जोड़ता है।

चयन-प्रक्रिया

प्राकृत रूप में व्यक्ति अच्छा या बुरा नहीं होता, बल्कि चयन की स्वतन्त्र प्रक्रिया से वह अपने को भला या बुरा बनाता है। उसी प्रक्रिया से आन्तर और बाह्य जगत् के बीच एक ऐसा समान सम्बन्ध-सूत्र जोड़ता है, जो दोनों को एक दूसरे पर निर्भर रखे हुए है। बौद्धों का जन्मान्तर-विश्वास उन्हें **परलोक** की कल्पना करने पर विवश करता है। किन्तु उन सभी लोकों का व्यक्ति से सम्बन्ध मात्र रागात्मक है। इसलिए इन लोकों से सम्बन्धित व्यक्ति की गति या स्थिति आदि की परम्परानुसार व्याख्या भी उसके रागात्मक सम्बन्धों के बीच ही सम्भव होती है। लोक-संस्थानों का यदि पौराणिक रूप छोड़ दें तो उसका विभाजन वास्तव में व्यक्तित्व का अनेक स्तरों में वर्गीकरण है, जो व्यक्तित्व की चयन-प्रक्रिया से बाहर नहीं है। स्थूल रूप में वर्तमान जीवन जिस लोक से सम्बन्धित है, उसे **कामलोक** कहते हैं। वास्तव में वह भी जगत् की केवल प्राकृतिक विचित्रताएँ नहीं है, अपितु मनुष्य के राग और सङ्कल्पों का ऐसा समूह है, जो घनिष्ठ रूप में व्यक्तित्व के गठन से सम्बन्धित है। काम-भूमि का व्यक्ति अपने कामराग से क्रमशः विमुक्त होते हुए उत्तरोत्तर उच्च भूमियों (व्यक्तित्व के स्तर) के श्रेष्ठतर उदार गुणों का परिग्रह कर अकुशल धर्मों को समाप्त करते हुए वर्तमान कामभूमि में आर्यत्व के जीवन की प्रतिष्ठा कर सकता है। इस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण का क्षेत्र इहलोक और वर्तमान जीवन बन जाता है, जो उसकी स्वतन्त्र चयन-प्रक्रिया पर निर्भर है।

व्यक्ति एवं लोक का सम्बन्ध-सूत्र

अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् का सम्बन्ध-सूत्र **कर्म** है। अपराध एवं दण्ड, सच्चारित्र्य और पुरस्कार की व्यवस्था उसी से होती है, क्योंकि कर्म से भिन्न कोई

कारक नहीं है। ऐसा कोई कर्ता नहीं है, जो बुद्धिपूर्वक जगत् की सृष्टि करता हो। कर्म ही कारण है और वह मनुष्य का ही उपार्जित है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व का विधाता भी है। कर्म न तो बाह्य क्रियारूप है और न शास्त्रादिष्ट किसी प्रकार का कर्मकाण्ड। कर्म चेतनाधारित है। चेतना चित्त का एक विशेष संस्कार है, जिसे चित्त-स्पन्दन के रूप में भी समझा जा सकता है। इस प्रकार चेतना मनस्कर्म है। कायिक और वाचिक जो क्रियाएँ विज्ञापित होती हैं या किसी स्थिति में अविज्ञापित भी रहती हैं, उन सबका प्रेरक मनस्कर्म ही है, अथवा काय एवं वाक्क्रिया एक प्रकार की संचेतना है, जिसका बाह्य विज्ञापन या तो होता है या नहीं भी होता है। किसी भी तरह कर्म व्यक्ति-चित्त का एक अभिसंस्करण है, जिसके आधार पर कुशल और अकुशल का संग्रह या निराकरण होता है। कर्म के स्वरूप को मानस व्यापारों एवं वृत्तियों के साथ चित्त या मन के अभिसंस्करण एवं संचेतना-व्यापार के रूप में समझा जा सकता है। इसका स्वरूप तब और स्पष्ट हो जाता है, जब वात्सीपुत्रीयों के अतिरिक्त अन्य बौद्ध काय और वाक् से विज्ञापित होने वाले व्यापार को क्षणिकता के सिद्धान्त के आधार पर गतिशील नहीं मानते, उसे संस्थान या सन्निवेशविशेष मानते हैं। **सौत्रान्तिकों** ने संस्थान की भी केवल बौद्धिक (प्राज्ञप्तिक) सत्ता ही मानी है। सभी स्थितियों में बौद्ध कर्मवाद बाह्य और आन्तर जगत् के बीच एक ऐसा सुदृढ़ सम्बन्ध-सूत्र है, जो अपने परिवेश के बीच व्यक्तित्व को संगठित रखता है और उसका नियमन भी करता है।

चित्त का स्वभाव प्रभास्वर है। कर्म चेतना स्वभाव है। चेतना चित्त को एक विशेष स्पन्दन देती है, जो कर्म के स्वभाव को प्रकट करता है। कर्म को व्यवहार के लिए उपचित या वर्धनशील बनाने के लिए राग, द्वेष, मान, अज्ञान, दृष्टि, संशय आदि के विभिन्न प्रकार चित्त को आश्रय बनाते हैं और उसकी क्रमिक परम्पराएँ भी खड़ी करते हैं। तदनुसार व्यावहारिक जीवन के आयाम का निर्माण करते हैं और इस प्रकार के अनेकानेक संस्कारों को चित्त में विःस्पन्दित करते रहते हैं। ये जिसे आलम्बन बनाते हैं, उसके प्रति मोह (अज्ञान) पैदा करते हैं। व्यक्ति में अकुशल कर्मों के प्रति अरुचि खड़ी करते हैं। इस प्रकार की एक ऐसी अकर्मण्यता पैदा करते हैं, जिससे अच्छे और शुभ कार्यों के लिए व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाय। ऐसे व्यक्ति का क्रमशः सत्कर्मों से विरत रहकर गर्हित कर्मों के करने में सङ्कोच नहीं रह जाता और मिथ्या आचार-विचारों का वह स्वयं पक्षधर हो जाता है। अपने आचार एवं विचारों से वह न केवल अपने लिए दुःख के बीज बोता है, अपितु सर्वसामान्य के दुःखों का भी कारण बनता है। ऐसी प्रवृत्तियों से प्रेरित व्यक्ति बाह्य जगत् में भी

विकार उत्पन्न करता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियों से पुष्ट और अभिष्यन्दित होकर कर्म-परिणाम के रूप में वह तदनुकूल व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

व्यक्तित्व निर्माण

इस पूरे चरित्र की पृष्ठभूमि में **अज्ञान** और उसके विभिन्न प्रकार, रुचियों के भेद तथा ग्रहणसामर्थ्य की हीनता या उच्चता निर्धारित होते हैं, जिनके आधार पर व्यक्तित्व का स्तर निश्चित होता है। व्यक्ति के जीवनास्तित्व के विश्लेषण से उपर्युक्त स्थिति स्पष्ट हो जाती है। ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति के उपादानों में जड और अपने में सम्प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के व्यापारों के साथ **चित्त** और **चैतसिक** प्रमुख हैं। मनुष्यों में एक प्रकार के लोग चित्त एवं चैतसिकों को पहले पिण्ड के रूप में ग्रहण करते हैं और उसे ही **स्वात्मा** या **स्व** स्वीकार करते हैं। दूसरे प्रकार के लोग रूपपिण्ड को आत्मा स्वीकार करते हैं। तीसरे प्रकार के चित्त और रूप (जड) दोनों को ही पिण्डतः एवं आत्मतः स्वीकार करते हैं। उक्त आधार पर व्यक्ति के अस्तित्व (आत्मा की कल्पना) के सम्बन्ध में मुख्यरूप से पाँच दृष्टिकोण बनते हैं। **१—आत्मा-आत्मीय दृष्टि** (मैं और मेरा विस्तार), **२—ध्रुव एवं उच्छेद दृष्टि** (सभी कालों में अस्तित्व या वर्तमान के बाद कुछ नहीं), **३—नास्ति दृष्टि** (कर्म, कर्म-फल के दायित्व का अस्वीकार), **४—हीन एवं उच्चदृष्टि** एवं **५—शीलव्रत-परामर्शदृष्टि** (विविध प्रकार के अन्धविश्वास)। ये सभी दृष्टियाँ मिथ्यादृष्टियाँ हैं; क्योंकि वास्तविकता के विपरीत हैं। वास्तव में ये सब तृष्णा से जनित हैं। इन सब में मूलभूत तृष्णा आत्मास्तित्व की तृष्णा ही है। आत्मतृष्णा दो रूपों में खड़ी होती है— **१–नित्यता** के रूप में और **२–विस्तार** के रूप में। यदि आत्मा स्वरूपतः नित्य है और उसका अस्तित्व तीनों कालों में विस्तृत एवं व्यापक है तो उसके स्वरूप और अवधारणा की मात्रा के आधार पर व्यक्ति शेष जगत् से अपना तृष्णाजीवी सम्बन्ध स्थापित करेगा। अस्तित्व की इसी अवधारणा से सर्वत्र **'स्व'** और **'पर'** दृष्टि खड़ी होती है और उन दो सङ्केतों के बीच ही सारे धार्मिक सामाजिक सम्बन्ध जोड़े जाते हैं।

व्यक्तित्व-निर्माण की उक्त प्रक्रिया में श्रेष्ठ व्यक्तित्व के विकास की भी पूरी सम्भावना निहित है, क्योंकि कार्यकारण की जिस व्यवस्था में अकुशल व्यक्तित्व बनता है, उसी के अन्तर्गत कुशल व्यक्तित्व के विकास का भी मार्ग है। कुशल और अकुशल दोनों ही प्रतीत्यसमुत्पन्न (कारण-समूहों से उत्पन्न) हैं। चार आर्यसत्यों में से मार्गसत्य कुशल व्यक्तित्व के लिए द्वार खोलता है। यह सत्य के यथाभूत दर्शन का

मार्ग है। यह मार्ग स्वयम्भूत नहीं है, अपितु श्रेष्ठ व्यक्तित्व की ही प्रसूति है। आत्मास्तित्व को केन्द्र मानकर जिन मिथ्यादृष्टियों के कारण अकुशल प्रवृत्तियाँ व्यक्ति में आश्रय ग्रहण करती हैं, प्रतिष्ठा-लाभ कर वृद्धिगत होती हैं, उनमें से एक-एक के प्रतिपक्ष में मार्गसत्य द्वारा विशेष-विशेष प्रज्ञाएँ उदित होती हैं। उसके फलस्वरूप व्यक्ति पर जो अब तक के अकुशल प्रवृत्तियों का आधिपत्य जमा है। वे विष्कम्भित होते जाते हैं और उनके विपरीत श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति, समाधि, मैत्री, करुणा, मुदिता, प्रज्ञा आदि का व्यापक आधिपत्य स्थापित होता है। इस प्रक्रिया से आर्यत्व या श्रेष्ठता के कुशल धर्मों का आवाहन होता है। सत्यदर्शन और सत्य-भावना के बल से व्यक्तित्व का जो भी हीन एवं अकुशल पक्ष का आधार है, आश्रय है, उसकी परा-वृत्ति हो जाती है, उसका अन्यथाभाव हो जाता है। इस प्रक्रिया को **'आश्रयपरावृत्ति'** कहा जाता है। मनुष्य के अन्दर का जो क्लेश एक बार मार्ग के बल से प्रहीण हो चुका है, उसकी अग्निदग्ध बीज की भाँति पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी क्रम से आर्यत्व को प्रतिष्ठा मिलती है। यह आर्यत्व सम्यक्त्व से नियत है। ऐसा व्यक्तित्व आदर्शोन्मुख प्रवृत्तियों के प्रवाह में चल चुका है, जो उत्तरोत्तर सम्यक् होगा। यह जीवन का निर्मल एवं आदर्श पक्ष है, जो अपने आचरण एवं सम्बन्धों से राग, द्वेष और मोह के प्रभाव को समाप्त करने लगता है। इसके फलस्वरूप उसकी आत्मदृष्टि (पूर्व अस्तित्वावधारणा) समूल विगलित होने लगती है। उस अवस्था में इस बात की पूरी सम्भावना खड़ी हो जाती है कि इस **आश्रय-परावृत्ति** की प्रक्रिया में विशुद्ध नैरात्म्य का अनुभव हो और उसके आधार पर लोक में नयी और निष्कलुष मान्य-ताओं एवं सम्बन्धों को स्थापित किया जा सके।

व्यापक सर्जनशीलता

क्लेशरहित और निष्कलुष व्यक्तित्व ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि बुद्ध, धर्म और सङ्घ की शरण ग्रहण करने का विशेष प्रयोजन है—क्लेशों से केवल अपना त्राण नहीं, अपितु जगत् का भी त्राण। बुद्ध की शरण बुद्धकारक गुणों की शरण है। बुद्धकारक गुणों का समूह बुद्ध का धर्मकाय है, किसी व्यक्ति-विशेष का रूपकाय नहीं। सङ्घ की शरण उन सङ्घकर धर्मों को स्वीकार करना है, जिन्हें आठ भागों में सङ्घीभूत कर उसे श्रेष्ठ धर्मों से समग्र एवं सम्पूरित किया जाए। इसी प्रकार धर्म की शरण जाने का अर्थ है, निर्वाण की शरण जाना। निर्वाण का अर्थ है स्वसन्तान (व्यक्ति) और पर-सन्तान (दूसरे सभी) के क्लेशों और दुःखों का विगमन। इस महान कार्य के लिए विकसित एवं प्रबुद्ध व्यक्तित्व चाहिए, जिसकी प्रज्ञा अमल हो और सर्वग्राही हो तथा उसकी मैत्री एवं करुणा भी अपरिमित, असंसक्त एवं अविरत रूप में सर्जनशील हो।

यह करुणा सभी सीमाओं और निमित्तों को तोड़कर व्यापक रूप से प्रवाहित एवं क्रियाशील होने लगती है। उसकी दृष्टि में व्यक्तिगत निर्वाण का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। फलतः उसका जीवन परार्थ हो जाता है। ऐसा व्यक्तित्व स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, किन्तु करुणावश इसने पराधीनता स्वीकार की है।

बौद्ध जीवन-परम्परा में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के रूप भी मिलते हैं। **श्रावकयान** और **प्रत्येकबुद्धयान** की साधना का आदर्श अर्हत्त्व है, जिसका अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को क्लेशों से मुक्त करना है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये लोग सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करते, अपितु इतना सही है कि ये लोग लोकोपकार के पुण्यों का भी विनियोजन व्यक्ति की क्लेशनिवृत्ति के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि अत्यधिक रागप्रहाण पर जोर देने का एक स्वाभाविक परिणाम होता है अत्यन्त वैराग्य। प्रत्येकबुद्ध एक ऐसा व्यक्ति है, जिसका आदर्श है, दुनियाँ में अकेला रह कर गैंडे के समान आचरण करना। उनका कहना है कि दूसरों के संसर्ग से स्नेह उत्पन्न होता है। स्नेह दुःख का कारण बनता है, इसलिए स्नेह के दुष्परिणामों से बचना चाहिए। जब मिथ्यादृष्टियों को पार कर लिया और वास्तविकता का ज्ञान हो गया तो किसी भी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं रह गयी। मैत्री, करुणा आदि के अभ्यास से संसार में किसी के साथ जब वैर-विरोध नहीं रह गया, तो अकेले विचरण करना ही उत्तम है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध अपने लिए संघ की भी अपेक्षा नहीं करता, उसे अपने स्वतंत्र पराक्रम पर विश्वास है। दूसरों के प्रति वह हितानुकम्पी है, किन्तु अपने लिए दूसरों से कुछ नहीं चाहता। इस विशेष प्रकार का जीवन-दर्शन बौद्ध निकायों में विरल है, इसलिए वह मुख्य धारा में नहीं आ सका। प्रत्येकबुद्ध की करुणा और प्रज्ञा का आयाम विस्तृत नहीं था। अन्य बौद्ध धाराओं में दृष्टि के परिवर्तन के साथ-साथ करुणा का क्षेत्र विस्तृत होता गया। इस प्रकार की करुणा लोक में प्रचलित दया या कृपा के समान नहीं है। इसके पीछे दूसरों को दुःखों से दूर करने के लिए विराट् संकल्प एवं योजना है। संघ के समक्ष व्यक्ति ने आचार्य से सभी सत्त्वों के लिए, कुछ के लिए नहीं; सभी समय, कुछ समय के लिए नहीं; चित्त में भी कोई बुराई न लाने का संकल्प एवं संवर-समादान किया है। उस स्थिति में व्यक्ति ने दुःखों से जगत् के परित्राण के लिए प्रबल प्रतिज्ञा ली है और तदनुसार उस मार्ग पर प्रस्थान कर दिया है। देवों, देवाधिदेवों का आराधन नहीं, प्रत्युत उसने अपने जीवन का उद्देश्य सत्त्वाराधन (मानव की उपासना) बनाया है। बुद्ध का अनुयायी होने के कारण उसके लिए यह अस्वाभाविक न होता कि वह आज तक के बुद्धों के प्रति अपने को समर्पित करता, उन्हें ही अपने आराधन का आलम्बन

बनाता, किन्तु ऐसा न कर उसने लोक को आराध्य बनाया है। वह जिन क्षेत्र और सत्त्व-क्षेत्र (लोक) के माहात्म्य को समान मानता है। ऐसा निर्णय यह इसलिए ले पाता है कि ऐसे व्यक्ति के पास करुणा के साथ प्रज्ञा है। प्रज्ञा के कारण उसे वास्तविकता का परिज्ञान है, वह जगत् के दुःखों, उनके कारणों और उनके निवारण को यथाभूत जानता है। दुःखी जनता को उसके दुःखों से मुक्त करना उसका उद्देश्य है, किन्तु वह यह भी जानता है कि दुःखों के कार्यकारण का प्रवाह विस्तृत एवं व्यापक निमित्तों से जुड़ा हुआ है, उन्हें आलम्बन बना कर ही दुःखों को समाप्त किया जा सकता है। दुःखों के स्वामी या अधिकारी कुछ लोग ही नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि उससे कुछ ही लोग प्रतिबद्ध हों, बल्कि दुःख सामान्य है, इसलिए अपने और दूसरों का विभाग न करके जगत् में विस्तृत दुःख-प्रवाह या दुःख की व्यवस्था को समाप्त करना होगा। सर्जन-शीलता का यह व्यापक आयाम है। व्यापकता का कारण है—**प्रज्ञा** और **करुणा** का सहवर्त्ती होना। **करुणा** व्यापक दुःख-प्रवाह का स्पर्श करती है और **प्रज्ञा** मिथ्या-दृष्टियों का प्रहाण कर वास्तविकता का ज्ञान कराती है। प्रज्ञा के कारण व्यक्ति संसार की आसक्तियों में नहीं फँसता और करुणा के कारण संसार से विरक्त नहीं होता। महायान के आदर्श के अनुसार इस महान् कार्य के सम्पादनार्थ संसार और निर्वाण दोनों में आदर्श व्यक्ति को प्रतिष्ठित नहीं होना चाहिए। उसे मध्यस्थ एवं तटस्थ होना चाहिए।

समता एवं परिवर्तन

उपर्युक्त महान् संकल्प के साथ व्यक्ति-चित्त में **परात्म-समता** और **परात्म-परिवर्तन** की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसकी पृष्ठभूमि में प्रतीत्यसमुत्पाद का एक नया जीवन-दर्शन वर्तमान है, जिसे **प्रज्ञा** या **प्रज्ञापारमिता** (प्रज्ञा की पूर्णता) कहते हैं। चिन्तन से यह तथ्य स्पष्ट होने लगता है कि व्यापक विषमता के पीछे कार्य-कारण नियम की गलत अवधारणायें भी काम करती हैं और उसी के आधार पर स्व-पर आधारित सम्बन्ध एवं मान्यतायें खड़ी कर ली गई हैं। जब कि सत्य यह है कि इनके मूल में स्व-पर का निर्धारण तात्त्विक नहीं है। क्योंकि कारणता के नियम स्वयं में ही उपपन्न नहीं हो पाते। फलतः वस्तु या व्यक्ति का स्वभाव (स्वत्व) सिद्ध नहीं हो पाता। प्रज्ञामूलक इस दार्शनिक परिस्थिति में दुःख की व्याख्या का आधार केवल व्यक्तियों तक सीमित न रहकर, परम्परा (प्रवाह) या व्यवस्था से सम्बद्ध हो जाती है। उस स्थिति में करुणा **सत्त्वालम्बना** (व्यक्त्याश्रित) नहीं रह जाती, प्रत्युत **धर्मालम्बना** (नियमाश्रित या प्रवाहाश्रित) हो जाती है। आगे चलकर यह **अनालम्बना** भी होती है। इस स्थिति में करुणा का आयाम अतिविस्तृत एवं उदार हो जाता है। इस प्रकार

स्व-पर-समता को पुष्ट आधार मिल जाता है, जिसकी पूर्ति स्व का पर के लिए विसर्जन में होती है, जिसे स्व परात्मपरिवर्तन कहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विकास परार्थ के लिए अपने को विसर्जित करने में तथा एक उच्च प्रकार की पराधीनता स्वीकार करने में है।

सम्पूर्ण बौद्धचिन्तन में **प्रज्ञा** और **करुणा** ही वे मूलभूत तत्त्व हैं, जिनके आधार पर एक ओर व्यक्ति का लोक से सम्बन्ध विकसित होता है तथा दूसरी ओर उसी से नीति और धर्म के औचित्य का भी निर्धारण होता है। जब तक स्थिति (दुःख और उसके निवारण) का यथाभूत ज्ञान नहीं होगा, तब तक व्यक्ति या लोक में शील की प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति-चित्त एवं लोकचित्त की विशुद्धि सम्भव नहीं होगी। व्यक्ति में करुणा का प्रारम्भ अविहिंसा या अद्वेष के रूप में होता है, जिसका स्वरूप रहता है, दूसरों का दुःख देख कर हृदय का खिन्न हो जाना तथा दुःख के निवारण की इच्छा उत्पन्न होना। करुणा का यह व्यक्तिगत क्षेत्र है। प्रज्ञा के द्वारा जब यह यथार्थता प्रकट होती है कि संसार के दुःखों का कारण केवल व्यक्ति से सम्बद्ध अज्ञान मात्र नहीं है, अतः उसे ही हटाना पर्याप्त नहीं है, अपितु उससे भिन्न अन्य सम्पूर्ण लोक के सम्बन्ध में जो अविद्या और तृष्णा का आवरण है, उसका अपनयन भी नितान्त आवश्यक है। प्रज्ञा के इस व्यापक प्रकाश में करुणा अपनी व्यक्तिगत सीमा से उठकर विशाल आयाम ग्रहण कर लेती है। उसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकारों से उसकी क्रियाशीलता तीव्र हो जाती है। इस प्रकार करुणा का प्रयाण महाकरुणा की ओर हो जाता है। महाप्रज्ञा के प्रकाश-मण्डल में महाकरुणा लोकाभिमुख एवं लोकपरायण हो जाती है। जिस ओर यह यात्रा करती है, उसी ओर सभी श्रेष्ठ धर्म (गुण) अनुगम करने लगते हैं। इस प्रकार जीवन को एक यह महान् लक्ष्य प्राप्त होता है—संसार के दुःखों के निवारण में अपने जन्म-जन्मान्तर को लगा देना।

विकास की उपर्युक्त भूमिका में एक मूलभूत तथ्य यह प्रकट होता है कि संसार और निर्वाण के बीच जो महान् अन्तर या विरोध समझा जाता है, वह मनुष्य का निरा अज्ञान है। वास्तव में दोनों के बीच किसी प्रकार का तात्त्विक भेद नहीं है। इस स्थिति में संसार की हीनता और हेयता की परम्परागत मान्यता में भी आमूल-चूल परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के साथ सभी महायान दार्शनिकों ने एक वस्तु के दो पृष्ठों की भाँति **व्यवहार** और **परमार्थ** की महत्वपूर्ण व्याख्या की। **निर्वाण** के लिए व्यवहार अनिवार्य उपाय है, वह सर्वथा हेय नहीं है। इसके लिए महायान के आचार्यों ने कहा है कि जगत् के दुःखों का निवारण लक्ष्य है। उस उद्देश्य

की सिद्धि के लिए एक प्रकार का मोह या अविद्या भी उपादेय है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आत्ममोह या अपने अस्तित्व के प्रति तृष्णा रखना भी कभी उपादेय हो सकता है। आत्मा की स्वीकृति से तो इस पूरे विकास एवं उत्कर्ष का मूलाघात ही हो जाएगा। क्योंकि **निःस्वभावता, शून्यता** या **अनात्मता** ही वह धरातल है, जिसके आधार पर संसार-दुःख के निवारण की यह विराट् योजना खड़ी हो सकती है। सम्पूर्ण दुःखों का कारण मनुष्य का आत्मास्तित्व है, उसका निवारण परार्थ का मूल है और दुःखों का विगमन है।

परिपाक, व्यक्ति और लोक

पहले 'आश्रय-परावृत्ति' के द्वारा व्यक्तित्व में आमूल परिवर्तन की बात कही गयी है। यह आश्रय-परावृत्ति वास्तव में **परार्थवृत्ति** है। इस प्रक्रिया से मनुष्य व्यक्ति-पुरुष नहीं, प्रत्युत लोक-पुरुष हो जाता है, जिसे **बोधिसत्त्व** कहा जाता है। इस आदर्श पुरुष को परार्थता की सिद्धि के लिए अपरिमित **ज्ञान-सम्भार** (ज्ञान-सामग्री) एवं **पुण्य-सम्भार** (सत्कर्मों की बहुलता) जुटाना है। इसकी तैयारी में 'परिपाक' की एक विशिष्ट क्रिया सम्पन्न करना आवश्यक है। परिपाक एक ऐसी परिपक्वता है, या समग्रता के रूप में तैयारी है, जो दुःखी लोक के दुःखनिवारण की अर्हता उत्पन्न करता है। यह परिपाक केवल व्यक्ति का नहीं, लोक का भी अपेक्षित है। रुचि, शान्ति, करुणा, मेधा आदि सभी गुणों की परिपक्वता आत्मपरिपाक कहा जाता है। इसी प्रकार लोक-परिपाक के लिए सर्वसामान्य सत्त्वों के लिए दान, शील, वीर्य, प्रज्ञा आदि गुणों की पूर्णता का आधान करना अपेक्षित होता है। इस प्रकार पारमिताओं के प्रयोग से लोकजीवन का परिशोधन होता है। इस तरह दुःख एवं तृष्णा से निवृत्ति के लिए वे अर्ह एवं परिपक्व होते हैं। दोनों प्रकार की इसी परिपाक-प्रक्रिया के द्वारा क्रमशः व्यक्ति का लोक से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ता है।

उत्कर्ष एवं विकास की इस स्थिति में पहुँचने पर परम्परागत मान्यताओं के लक्षण और परिभाषाएँ टूटने लगती हैं। स्वार्थ और परार्थ, व्यवहार और परमार्थ, संसार और निर्वाण तथा व्यक्ति एवं लोक के बीच का भेद प्रायः समाप्त होने लगता है। इन द्वन्द्वों के बीच भेद एक प्रकार से सांकेतिक रह जाता है और उनके बीच की कृत्रिम मान्यताओं के टूटने से व्यक्ति-जीवन और लोक-जीवन के बीच के सम्बन्धों के लिए सहजता एवं समता का सहज आधार प्रकट होता है।

• • •

बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज

रामशङ्कर त्रिपाठी

यह परिसंवाद-गोष्ठी बौद्धदर्शन के अनुसार **'व्यक्ति, समाज, उनका सम्बन्ध और विकास'** विषय पर आयोजित है। यह सर्वविदित है कि पश्चिम के दार्शनिकों, समाज-वैज्ञानिकों एवं राजनीतिशास्त्रियों ने व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्ध को प्रमुख विषय बनाकर प्रभूत चिन्तन किया है। चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय मनीषियों का भी अग्रणी स्थान रहा है। यद्यपि इनके चिन्तन का प्रमुख क्षेत्र आध्यात्मिक रहा है, फिर भी उन्होंने समसामयिक युग में व्यक्ति, समाज और राज्य को अपने विशिष्ट जीवनदर्शन से प्रभावित किया है। भारतीय दर्शनों में विशेष कर बौद्धदर्शन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही न केवल भारत के अपितु विश्व के अधिकांश जनजीवन को प्रभावित किया है। ऐसे महत्वपूर्ण दर्शन के आलोक में व्यक्ति, समाज एवं उनसे सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार करना उचित ही नहीं, उपयोगी भी है।

बौद्धदर्शन में व्यष्टि और समष्टि की अवधारणा

यह विदित है कि बौद्धदर्शन अनात्मवादी है। उसके अनुसार नाम-रूपात्मक व्यक्ति में किसी अपरिवर्तनशील, शाश्वत आत्मा का अस्तित्व मानना मिथ्यादृष्टि है। वह दृष्टि मिथ्या इसलिए है क्योंकि व्यक्तित्व के उपादानों में युक्ति और अनुभव के आधार पर किसी नित्य तत्त्व का अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता। इस तरह की आत्मा के न होने पर भी बौद्धदार्शनिक व्यक्ति के व्यावहारिक अस्तित्व का निषेध नहीं करते। व्यक्ति के लिए दार्शनिक शब्दावली में **'पुद्गल'** शब्द प्रयुक्त है।

बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति का जितना अस्तित्व है, उतना ही, समाज का भी व्यावहारिक अस्तित्व है। तात्त्विक दृष्टि से दोनों के अस्तित्व में बिलकुल अन्तर नहीं है। दोनों ही संवृति-सत्य हैं। पारमार्थिक सत्ता दोनों की नहीं है।

बौद्ध विभज्यवादी हैं। इसका तात्पर्य वे पदार्थों का विभिन्न दृष्टियों से विभाजन कर उनके वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार सत्य दो हैं, **संवृति-सत्य** एवं **परमार्थसत्य**। समस्त पदार्थों का संग्रह इन्हीं दो में हो जाता है। इन दोनों सत्यों में उच्चावचभाव नहीं है। ऐसा बिल्कुल नहीं है कि **संवृतिसत्य** कोई घटिया किस्म का सत्य है और **परमार्थसत्य** कोई ऊँचा या ठोस। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि चित्त की एक अवस्था में जो सत्य प्रतीत होता है, चित्त की दूसरी

भूमिका में वह सत्य प्रतीत नहीं होता, अपितु सत्य उससे भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु जिस अवस्था में जो सत्य प्रतीत होता है, वह सत्य ही होता है, असत्य नहीं। संवृति सत्य के साथ सत्यशब्द के व्यवहार का यही स्वारस्य है। **संवृतिसत्य** को **व्यावहारिकसत्य, लौकिकसत्य** या **लोकसंवृतिसत्य** भी कहते हैं। जब तक लोक है, संसार है, इस अवस्था के ज्ञान में जो सत्य प्रतिभासित होता है, वह संवृतिसत्य है। व्यक्ति और समाज दोनों संवृतिसत्य हैं। परमार्थसत्य में परम का तात्पर्य लोकोत्तर ज्ञान से है। इस अवस्था के ज्ञान में जो सत्य आभासित होता है, वह परमार्थसत्य है। अथवा 'परम' का अर्थ अविपरीत है। प्रमाणज्ञान में वस्तु का जैसा स्वरूप भासित होता है, वस्तु का ठीक वैसा ही स्थित होना अविपरीतार्थता है, यही परमार्थ है। व्यक्ति और समाज दोनों परमार्थसत्य नहीं है।

नामरूपात्मक या जड-चेतनात्मक व्यक्तित्व के बौद्धदृष्टि से पाँच उपादान होते हैं। इन्हें ही पाँच उपादान-स्कन्ध भी कहते हैं। व्यक्तित्व के उपादानों में जो **'चेतन'** या **'नाम'** अंश है, बौद्ध उसका वेदना (सुख, दुःख आदि), संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—इन चार भागों में विभाजन करते हैं तथा **'जड'** अंश रूपस्कन्ध कहलाता है। ये पाँचों स्कन्ध अविपरीत अर्थ होने से **'परमार्थ'** है। वस्तुवादी बौद्ध दार्शनिक इनकी पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार वस्तु वह है, जो कोई न कोई अर्थक्रिया अवश्य करती है। जो अर्थक्रियाकारी होता है, वह अवश्य क्षणिक होता है। फलतः बौद्धों के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक होती है। ये पाँचों स्कन्ध भी क्षणिक हैं। ये स्कन्ध क्षण-क्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होते हुए धाराप्रवाह या सन्तति के रूप में निरन्तर प्रवृत्त होते रहते हैं। यद्यपि यह सन्तति स्कन्धों की है, किन्तु सन्तति स्वयं स्कन्ध नहीं है, स्कन्ध तो मात्र क्षणिक ही है। व्यक्तित्व के भीतर विद्यमान ये पाँचों स्कन्ध एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् अवस्थित होते हैं। फिर भी व्यक्ति के ज्ञान में इनका सामूहिक ग्रहण होता है अर्थात् पाँचों स्कन्धों की समूह-सन्तति हमारे ज्ञान का विषय होती है। यह समूह-सन्तति पाँच स्कन्धों से न सर्वथा भिन्न है, क्योंकि यह स्कन्धों से सम्बद्ध है और न सर्वथा अभिन्न है, क्योंकि एकत्व रूप में गृहीत होती है, जबकि स्कन्ध पाँच हैं, तथा न तो इसकी स्कन्धों की भाँति पारमार्थिक सत्ता ही है। फिर भी यह ज्ञान का विषय होती है। इसी समूह-सन्तति में पुद्गल या व्यक्तित्व प्रज्ञप्त या व्यवहृत होता है। इस समूह के अधिष्ठान पाचों स्कन्ध क्षणिक, परिवर्तनशील एवं गतिशील हैं, इसलिए इन स्कन्धों का समूह या उसमें प्रज्ञप्त पुद्गल भी क्षणिक परिवर्तनशील एवं गतिशील ही होता है, किन्तु मनुष्य की मिथ्या-दृष्टि उसे एक, स्थिर, नित्य एवं कूटस्थ के रूप में ग्रहण करती है, जबकि ऐसा कोई

तत्त्व वस्तुतः व्यक्तित्व में विद्यमान नहीं होता और यही उस मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व है। बौद्धदर्शन के अनुसार यह गतिशील पुद्गल ही वस्तुतः अहं-बुद्धि का आश्रय, कर्ता, भोक्ता एवं बन्ध-मोक्ष का आधार होता है। क्योंकि इस प्रकार का पुद्गल बौद्ध दृष्टि में मान्य है, इसलिए वह उनकी नैरात्म्य दृष्टि का प्रतिषेध्य भी नहीं होता।

बौद्धदर्शन स्थविरवाद, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक आदि प्रमुख दार्शनिक प्रस्थानों में विभक्त है। किन्तु इस प्रकार के व्यावहारिक पुद्गल के अस्तित्व के विषय में उनमें मतभेद नहीं है। अन्यथा कोई व्यवस्था बन नहीं सकेगी। ऐसे व्यावहारिक पुद्गलों के आपसी सम्बन्धों के आधार पर निर्मित समाज की भी व्यावहारिक सत्ता ही सिद्ध होती है। एक उद्देश्य, एक आदर्श, एक व्यवस्था एवं समान योगक्षेम के आधार पर सङ्गठित पुद्गल-समूह में समाज या संस्था शब्द व्यवहृत होता है, किन्तु यह समाज अपने घटक पुद्गलों से न भिन्न सिद्ध होता है और न अभिन्न। फिर भी इसका एक व्यावहारिक अस्तित्व होता है। यह अपनी व्यवस्था एवं नियमों द्वारा व्यक्ति को प्रभावित करता है। उन्हें अच्छा या बुरा बनाता है, उन्हें अपने आदर्श की प्राप्ति में सुविधा या असुविधा प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति भी समाज को प्रभावित करते हैं। अच्छे व्यक्तियों का समाज अच्छा एवं बुरे व्यक्तियों का समाज बुरा कहलाता है। कभी-कभी एक प्रभावशाली व्यक्ति भी समाज द्वारा निर्मित अनुपयोगी व्यवस्था में परिवर्तन लाकर उसे कल्याणकारी बनाता है और इसी में व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है। व्यक्ति एवं समाज की पारस्परिक प्रभावशीलता को हम सेना, ग्राम या वन आदि के दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। यद्यपि सैनिक व्यक्तियों से भिन्न सेना का अस्तित्व नहीं होता, फिर भी सेना का एक इकाई के रूप में व्यवहार होता है। उसकी व्यवस्था सैनिक व्यक्ति को प्रभावित करती है। उसे आगे बढ़ने में मदद करती है और उसके योगक्षेम की व्यवस्था करती है। ठीक उसी तरह एक-एक सैनिक की बहादुरी, निर्भीकता आदि गुणों से सेना भी बहादुर, निर्भीक अथवा अपराजेय कहलाती है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन के अनुसार व्यक्ति एवं समाज अन्योन्याश्रित एवं परस्परापेक्ष सिद्ध होते हैं। इनका सम्बन्ध भी **अन्योन्याश्रय** या **परस्परसापेक्षता** सम्बन्ध कहला सकता है।

स्थविरवादी दृष्टिकोण

पालि-अभिधर्मपिटक के **कथावत्थु** एवं **मिलिन्दपञ्हो** आदि ग्रन्थों में 'न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भति' अर्थात् पुद्गल उपलब्ध नहीं होता इत्यादि वचनों द्वारा यद्यपि

पुद्गल के अस्तित्व का निषेध किया गया है, तथापि इसका तात्पर्य निम्नलिखित दो प्रकार के पुद्गलों के निषेध में प्रतीत होता है—(१) बौद्धेतर दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा के निषेध में तथा (२) चक्षु, रूप, वेदना आदि की भाँति परमार्थतः पुद्गल के अस्तित्व के निषेध में। **स्थविरवादी बौद्ध** पञ्च स्कन्धों के समूह में प्रज्ञप्त व्यावहारिक पुद्गल के अस्तित्व का निषेध नहीं करते। इसीलिए आचार्य धर्मपाल स्थविर ने 'अनुटीका' में लिखा है—

"पुग्गलो उपलब्भति सच्छिकट्ठपरमत्थेन यो छविञ्ञाणविञ्ञेय्यो ति संसरति मुच्चति वा ति एवं दिट्ठिया परिकप्पित-पुग्गलो व पटिसेधितो, न वोहार-पुग्गलो ति" (अनुटीका, पृ० ३०८)।

व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर जैसे रूप, वेदना आदि स्कन्ध परमार्थतः उपलब्ध होते हैं, वैसे पुद्गल नामक कोई वस्तु पृथक् उपलब्ध नहीं होती, फिर भी जैसे परमार्थतः विद्यमान न होने पर भी रथ के अवयवों में **'रथ'** यह सांवृतिक व्यवहार होता है, वैसे ही पञ्चस्कन्धों में **'सत्त्व'** इस प्रकार का सांवृतिक व्यवहार होता है।[1] जो धर्म संवृतिसत्य होते हैं, वे बन्ध्यापुत्र की भाँति सर्वथा अलीक नहीं होते, अपितु उनका व्यावहारिक अस्तित्व मान्य है। इसीलिए मूलटीकाकार **भदन्त आनन्द स्थविर** ने कहा है कि संवृतिज्ञान सत्य को ही आलम्बन बनाता है, असत्य को नहीं[2]। इसीलिए **अनुटीकाकार** ने भी कहा है कि यदि पुद्गल के अस्तित्व का पारमार्थिक दृष्टि से निषेध किया जाता है, तो हमें इष्ट है। किन्तु यदि व्यावहारिक दृष्टि से निषेध किया जाता है, तब तो सत्त्व, रथ आदि शाब्दिक व्यवहार ही असम्भव हो जाएंगे[3]।

स्थविरवादी पदार्थों का अनेक प्रकार से विभाजन करते हैं। उनमें से एक प्रकार यह भी है कि वे समस्त पदार्थों को **नाम, रूप** एवं **प्रज्ञप्ति**—इन तीन में विभक्त करते हैं। प्रज्ञप्ति शब्द का व्यवहार दो अर्थों में होता है—१. जो वस्तु किसी शब्द द्वारा कथित होती है, वह वस्तु **प्रज्ञप्ति** है, उसे **अर्थप्रज्ञप्ति** या **प्रज्ञप्त्यर्थ** कहते हैं। २. वह शब्द भी प्रज्ञप्ति है, जिसके द्वारा कोई वस्तु कही जाती है, उसे **'नामप्रज्ञप्ति'** कहते हैं। पुद्गल को स्थविरवादी **अर्थप्रज्ञप्ति** कहते हैं। अर्थप्रज्ञप्ति वे धर्म होते हैं, जिनकी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, फिर भी वे विद्यमान परमार्थ वस्तुओं के

१. यथा हि अङ्गसम्भारा, होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥ सं० नि० १ : १३५।

२. सम्मुतिञाणं सच्चारम्मणमेव, नाञ्ञारम्मणं ति। मूलटीका, पृ० ३०७।

३. यदि परमत्थतो अत्थितापटिसेधो, य इट्ठमेतं। अथ वोहारतो, सत्तघटरथादीहि सत्तरथादि-वचनप्पयोगो येव न सम्भवेय्या ति।—अनुटीका, पृ० ३१०।

वश से प्रज्ञप्त होते हैं, जैसे—समूह, सन्तति आदि। स्थविरवादी दर्शन में बाह्य जड पदार्थों का अन्तिम अवयव आठ परमाणुओं का एक सङ्घात होता है। इससे छोटा कोई अवयव नहीं होता। इसका विभाजन सम्भव नहीं है। वे इसे **'अष्टकलाप'** कहते हैं। यह परमार्थ धर्म है। इन्हीं अष्टकलापों के विशेष आकार-प्रकार के सन्निवेश घट, पट, रथ, गृह आदि कहलाते हैं। यद्यपि इन घट, पट, रथ आदि की अष्टकलापों से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, फिर भी ये उन परमार्थधर्मों की छाया के आकार में ज्ञान-विज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। ये ही प्रज्ञप्त्यर्थ हैं। इस अर्थप्रज्ञप्ति का स्थविरवादी ६ भागों में विभाजन करते हैं, उनमें से एक **अविद्यमान प्रज्ञप्ति** है। अविद्यमान प्रज्ञप्ति वे पदार्थ हैं, जिनके उपादान तो परमार्थतः विद्यमान होते हैं, किन्तु वे स्वयं विद्यमान नहीं होते। जैसे—रथ, घट आदि, इसे **उपादायप्रज्ञप्ति** भी कहते हैं। सत्त्व भी ऐसा ही उपादायप्रज्ञप्ति नामक एक पदार्थ है। यह परमार्थतः विद्यमान पाँच स्कन्धों में प्रज्ञप्त है। यद्यपि यह पृथक् स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नहीं है, फिर भी अत्यन्त मृषा नहीं है[1]। इसे पञ्चस्कन्धों से जैसे भिन्न या अभिन्न नहीं कहा जा सकता, वैसे ही यह "सर्वथा है या सर्वथा नहीं है" यह भी नहीं कहा जा सकता[2]। सर्वथा अविद्यमान धर्म किसी कार्य के हेतु-प्रत्यय नहीं होते। किन्तु पुद्गल ऐसा नितान्त असत् धर्म नहीं है। अपितु कोई पुद्गल कल्याणमित्र होता है और कोई पापमित्र। इसका आश्रय करके किसी में कुशल (पुण्य) धर्मों की तथा किसी में अकुशल धर्मों की उत्पत्ति होती है। इस तरह पुद्गल उपनिश्रय-प्रत्यय होता है[3]। इससे स्थविरवादी दृष्टिकोण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुद्गल की सांवृतिकसत्ता इस मत में स्वीकृत है। व्यवहार में उसकी अर्थक्रिया भी उपलब्ध है। ठीक यही स्थिति समाज की भी है।

वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं योगाचारदृष्टिकोण

वस्तुओं के विविध प्रकार के विभाजनों में इन मतों के अनुसार एक विभाजन का प्रकार यह भी है कि समस्त वस्तुओं को ये द्रव्यसत् और प्रज्ञप्तिसत् में विभक्त

१. तेहि रूपचक्खादीहि अञ्ञो सत्तरथादिसञ्ञावलम्बितो वचनत्थो विज्जमानो न होति, तस्मा सत्तरथादि-अभिलापा 'अविज्जमानपञ्ञत्ती' ति वुच्चन्ति, न च ते 'मुसा' ति वुच्चन्ति, लोकसमञ्ञावसेन पवत्तत्ता।—मूलटीका, पृ० ३०७।

२. उपादाय पञ्ञत्ति हि उपादानतो यथा अञ्ञा अनञ्ञा ति च न वत्तब्बा, एवं सब्बथा अत्थि नत्थीति न वत्तब्बा।—अनुटीका, पृ० ३१०।

३. तथा यं खन्धसमूहसन्तानं एकत्तेन गहितं उपादाय 'कल्याणमित्तो पापमित्तो पुग्गलो' ति गहणं पञ्ञति च पवत्तति, तं तदुपादानभूतं पुग्गलसञ्ञाय सेवमानस्स कुसलाकुसलानं उप्पत्ति होती ति 'पुग्गलो पि उपनिस्सयपच्चयेन पच्चयो' ति वुत्तं।—मूलटीका, पृ० ३०७–३०८।

करते हैं। जड या चेतन वे सभी विद्यमान धर्म द्रव्यसत् हैं, जिनका अस्तित्व स्वबल से है। अर्थात् वे अपने बल से ज्ञान के विषय होते हैं, जैसे—पञ्च स्कन्ध, परमाणु आदि। **प्रज्ञप्तिसत्** धर्म वे हैं, जिनका अस्तित्व द्रव्यसत् धर्मों के ऊपर आश्रित है। वे अपने बल से नहीं, अपितु किन्हीं द्रव्यसत् धर्मों के बल से ज्ञान के विषय होते हैं। जैसे—समूह, सन्तति आदि। किसी वन में लगी हुई आग जब चलती हुई प्रतीत होती है तो उसका तात्पर्य मात्र इतना है कि आग लगातार भिन्न-भिन्न देश में उत्पन्न हो रही है। वस्तुतः आग तो अपने उत्पत्ति-देश में ही नष्ट हो जाती है। लेकिन उसके उत्पाद की सन्तति चलती रहती है और उसी में चलनक्रिया प्रज्ञप्त होती है। सन्तति का वस्तुतः क्षणिक अग्नि से भिन्न अस्तित्व नहीं होता, फिर भी उसकी व्यावहारिक सत्ता है। इसी तरह एक-एक अवयवों से भिन्न समूह का भी अस्तित्व नहीं होता, फिर भी उसमें एकत्व आदि का व्यवहार होता है। ठीक यही स्थिति पुद्गल की भी है। स्कन्धों की द्रव्यसत्ता है। उन द्रव्यसत् धर्मों के समूह एवं सन्तति में पुद्गल प्रज्ञप्त होता है। उसकी प्राज्ञप्तिक सत्ता है। प्राज्ञप्तिक अस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि वह नितान्त असत् है। इसका मात्र इतना अर्थ है कि उसकी द्रव्यसत्ता नहीं है। वसुबन्धु ने युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श के बाद अभिधर्मकोश के पुद्गलविनिश्चय-परिच्छेद में कहा है—**"तस्मात् प्रज्ञप्तिसत् पुद्गलो राशिधारावत्"** (पृ० १२०५)।

प्रज्ञप्तिसत् वस्तुओं की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि उन्हें सहसा **'अस्ति'** (है) भी नहीं कहा जा सकता और न **'नास्ति'** ही कहा जा सकता है। 'अस्ति' कहने में उनके परमार्थतः या द्रव्यतः अस्ति समझने का खतरा रहता है। 'नास्ति' कहने पर उनके 'संवृतितः भी नहीं है'—ऐसा समझने का खतरा होता है। इसीलिए आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व के बारे में प्रश्न करने पर भगवान् ने हमेशा उसे **अव्याकृत** कहा है। अर्थात् अस्ति या नास्ति में इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता और यही भगवान् की उपायकुशलता मानी गयी है। सौत्रान्तिक आचार्य कुमारलात ने कहा है कि जिस प्रकार व्याघ्री अपने बच्चे को दाँत में दबा कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, उस समय वह दाँतों को न जोर से दबाती है और न धीरे से। यदि जोर से दबा देगी तो बच्चे को क्षत हो जाने का भय है, धीरे से दबाने पर बच्चे के गिर जाने का भय है। भगवान् बुद्ध की देशना बहुत कुछ इसी प्रकार की है। यदि वे कह दें कि **'आत्मा'** है तो **शाश्वतदृष्टि** या शाश्वत-अन्त में पतन का भय है। यदि **'नहीं है'** कह दें तो **उच्छेद-दृष्टि** में पतन का भय है तथा सारे कुशल या अकुशल कर्म जो किये गये हैं, उनके निष्फल हो जाने का भय है। इसीलिए उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कहा है, जैसे—

दृष्टिदंष्ट्रावभेदं च भ्रंशं चावेक्ष्य कर्मणाम् ।
देशयन्ति जिना धर्मं व्याघ्रीपोतापहारवत् ।।
आत्मास्तित्वं ह्यपगतो भिन्नः स्याद् दष्टिदंष्ट्रया ।
भ्रंशं कुशलपोतस्य कुर्यादप्राप्य संवृतिम् ।।

(अभि० कोश०, पृ० १२११ में उद्धृत)

कुमारलात सौत्रान्तिक आचार्य हैं और इस प्रकार उनके मत से भी पुद्गल का सांवृतिक अस्तित्व सिद्ध होता है। अर्थात् पुद्गल खपुष्प की भाँति नितान्त असत् भी नहीं है और न उसका द्रव्यतः अस्तित्व ही है। अपितु कर्म-कर्मफल व्यवस्था के लिए उसका व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है।

योगाचार मत के अनुसार भी पुद्गल प्रज्ञप्तिसत् ही सिद्ध होता है। मानुष्यक-सूत्र में भगवान् ने कहा है कि **'अस्ति सत्त्व उपपादुकः'** अर्थात् उपपादुक सत्त्व होता है। दूसरी जगह **क्षुद्रकागम** में उन्होंने कहा कि **'नास्तीह सत्त्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः'** अर्थात् सभी धर्म अपने हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं, कोई सत्त्व या आत्मा नामक वस्तु नहीं होती। इन परस्पर विरोधी वचनों में समन्वय स्थापित करने के लिये योगाचारों ने कहा है कि भगवान् बुद्ध की देशना दो प्रकार की होती है, यथा—**नेयार्थदेशना** एवं **नीतार्थदेशना**। नेयार्थदेशना वह है, जिसमें शब्दों का अर्थ वैसे ही नहीं गृहीत किया जाता, जैसे उन शब्दों से ध्वनित होता है, अपितु उनके अभिप्राय का अन्वेषण किया जाता है। इस देशना को **आभिप्रायिकी देशना** भी कहते हैं। नीतार्थ देशना वह होती है, जिसका अर्थ देशना में प्रयुक्त शब्दों के अनुसार ही लिया जाता है। पहला वचन, जिसका अर्थ है, उपपादुकसत्त्व होता है, बुद्ध की **नेयार्थ देशना** है। अर्थात् ऐसा भगवान् ने अभिप्रायवश कहा है। अभिप्राय यह है कि उच्छेदवादियों ने, जो पूर्वापर जन्म एवं कर्म-कर्मफल व्यवस्था नहीं मानते, भगवान् से पूछा कि 'सत्त्व होता है या नहीं'? यदि भगवान् उनसे यह कहें कि 'सत्त्व नहीं होता', जो कि वस्तुस्थिति है, तो इससे उनकी मिथ्यादृष्टि और अधिक पुष्ट होगी और वे कर्म-कर्मफल का अपवाद जोरदार ढंग से करने लगेंगे, फलतः उनका अधःपात होगा, जो कि इष्ट नहीं है। भगवान् बुद्ध यद्यपि नित्यसत्त्व नहीं मानते, फिर भी जीवन-धारा का सतत प्रवाह तो मानते ही हैं। मृत्यु के अनन्तर और दूसरी योनि में जन्मग्रहण के बीच एक अवस्था होती है, जिसे **अन्तराभव** कहते हैं। इस अवस्था का जीव, पूर्व जीवन की ही अगली धारा है, किन्तु माता-पिता या गर्भ से उत्पन्न नहीं होता तथा पूरा का पूरा व्यक्ति एक साथ उत्पन्न हो जाता है। मोटे तौर पर ऐसा लगता है

मानों यह निर्हेतुक सत्त्व हो, जबकि इसके अपने विशिष्ट कारण होते हैं। इसे ही उपपादुक सत्त्व कहते हैं। भगवान् की ऐसी देशना कि 'उपपादुक सत्त्व हैं' सुनकर उच्छेदवादियों को उद्वेग नहीं हुआ, क्योंकि वे समझते थे कि भगवान् बुद्ध भी वैसे ही निर्हेतुक सत्त्व का अस्तित्व मानते हैं, जैसे कि वे मानते हैं। अर्थात् जीवन की धारा पहले से नहीं आती और जीव इसी जन्म में सहसा प्रादुर्भूत हो जाता है। फलतः वे भगवान् के शिष्य हो गये। कालान्तर में उन्हें यथास्थिति का बोध हुआ और उनका जीवन भी अन्य शिष्यों की भाँति ही कृतार्थ हुआ। भगवान् बुद्ध की यही उपाय-कुशलता है। वे महाकरुणावश किसी जीव का त्याग नहीं करते और उपाय से उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ़ करते हैं। इसीलिए उनकी देशना में वैचित्र्य होता है। कहने का आशय यह है कि यद्यपि उनकी **नीतार्थ देशना** ही वास्तविक स्थिति की बोधिका होती है, जिसमें उन्होंने कहा कि नित्य सत्त्व या आत्मा नहीं होता। फिर भी प्रवहमान जीवन धारा में व्यवहृत पुद्गल का अस्तित्व है, जो **प्रज्ञप्तिसत्** एवं **संवृत्तिसत्** है।

बौद्ध दार्शनिकों के वस्तु-विभाजन का एक यह भी प्रकार है कि वे समस्त पदार्थों का रूप, चित्त, चैतसिक, चित्तविप्रयुक्त संस्कार एवं निर्वाण इन पाँच भागों में विभाजन करते हैं। इनमें रूप जड या रूपस्कन्ध है। चित्त-चैतसिक चेतनांश हैं। निर्वाण एक असंस्कृत एवं लोकोत्तर धर्म है। चित्तविप्रयुक्त संस्कार वे धर्म हैं, जो न जड हैं, न चित्त-चैतसिकों की भाँति चेतन हैं और न उनका कोई आकार होता है, फिर भी उनका अस्तित्व होता है, जैसे—अनित्यता, सन्तति आदि। ये जड या चित्त-चैतसिकों पर आश्रित होते हैं, वे इन्हीं के बल पर अपने अस्तित्व का लाभ करते हैं। इनकी पृथक् या स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इन दार्शनिकों के मत में पुद्गल या व्यक्ति भी एक चित्तविप्रयुक्त संस्कार नामक पदार्थ है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति के उपादानों में **जड** और **चेतन** दोनों अंश हैं। जड अंश शरीर या **रूपस्कन्ध** है तथा चेतन अंश चित्त-चैतसिक हैं या **वेदना, संज्ञा, संस्कार** और **विज्ञान** नामक चार स्कन्ध हैं। इनमें से कोई भी अंश नित्य नहीं है, क्योंकि सभी हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं और जो उत्पन्न होते हैं, वे अवश्य नाश-स्वभाव भी होते हैं। जिनका स्वभाव ही नाश है, उन्हें अवश्य उत्पाद के अनन्तर ही नष्ट हो जाना चाहिए, अन्यथा स्वभाव में हानि का दोष होगा, फलतः बौद्ध दृष्टि में सभी वस्तु क्षणिक होती है। व्यक्ति के उपादानों में जो चित्त-चैतसिक या चेतन अंश है, उसके बौद्धों के अनुसार चार प्रत्यय या हेतु होते हैं। जो जड अंश होता है उसके

दो प्रत्यय होते हैं। प्रत्यय कुल चार ही होते हैं, यथा—**हेतुप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय** एवं **अधिपतिप्रत्यय**। इन चार प्रत्ययों से ही सम्पूर्ण जड एवं चेतन जगत् की उत्पत्ति हो जाती है।

एक साथ उत्पन्न, परस्पर सम्प्रयुक्त पदार्थ आपस में एक दूसरे के **हेतु-प्रत्यय** होते हैं। पूर्ववर्ती चित्त-चैतसिक परवर्ती चित्त-चैतसिकों के **समनन्तर-प्रत्यय** होते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस आदि विषय **आलम्बन-प्रत्यय** होते हैं। अपने को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ सभी पदार्थों की उत्पत्ति में **अधिपति-प्रत्यय** होते हैं। क्योंकि वस्तु खुद अपना कारण नहीं हो सकती। व्यक्ति के चेतनांश की उत्पत्ति में ये चारों प्रत्यय कार्य करते हैं, किन्तु जड पदार्थ एवं चित्तविप्रयुक्त संस्कारों की उत्पत्ति में इनमें से दो ही प्रत्यय अर्थात् हेतु-प्रत्यय एवं अधिपति प्रत्यय ही कार्यकारी होते हैं। ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति या पुद्गल एक विप्रयुक्त संस्कार है, अतः उसके अस्तित्व के लाभ में हेतु-प्रत्यय और अधिपति ये दो हीप्र त्यय कार्य करते हैं। यह भी अभी कहा गया है कि स्व (अपने) को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थ समस्त पदार्थों की उत्पत्ति में अधिपति-प्रत्यय होते हैं। फलतः निष्कर्ष यह हुआ कि एक व्यक्ति के उत्पाद में अन्य समस्त जड, चेतन धर्मों की कारणता है। जो यह कहा जाता है कि समाज के बिना व्यक्ति का होना सम्भव नहीं है या समाज व्यक्ति का कारण है, यह सिद्धान्त बौद्धों के इस अधिपति प्रत्यय के नियम से मेल खाता है। **विज्ञानवादियों** ने भी कहा है कि किसी व्यक्ति में जो कुशल या अकुशल विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अन्य व्यक्तियों की विज्ञप्तियों से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् व्यक्तियों की विज्ञप्तियों में परस्पर-कारणता होती है, तथा हि—

अन्योऽन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः॥ (विंशिका विज्ञ० १८ कारिका)

इस सारे कथन का सारांश यह है कि कोई भी कार्य एक कारण से नहीं होता। व्यक्ति या सम्पूर्ण जड-चेतन जगत् के उत्पाद में उपर्युक्त प्रत्ययों की ही कारणता है। इनके अतिरिक्त कोई ईश्वर आदि कारण नहीं हुआ करता, वसुबन्धु ने इसीलिये अभि-धर्मकोश में कहा है—

चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि समापत्तिद्वयं त्रिभिः।
द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते नेश्वरादेः क्रमादिभिः॥ (अभिधर्मकोश २।६४)

सारांश यह है कि व्यक्तित्व के उत्पाद के अनेक कारण हैं। वह ईश्वर आदि किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं है। साथ ही उसके निर्माण में समस्त समष्टि का योगदान है। सारा मनुष्य समाज, यहाँ तक कि पूरा जगत् उसका अधिपति-प्रत्यय है। कोई साक्षात् कारण है, तो कोई परम्परया कारण है। वे सारे व्यक्ति या पदार्थ एक

व्यक्ति या पदार्थ की कारण कोटि में आ जाते हैं, जो उसकी उत्पत्ति या निर्माण में बाधा डाल सकते थे, किन्तु उन्होंने विघ्न उपस्थित नहीं किया। व्यक्ति की तरह समाज भी एक प्रकार का सम्पुञ्जन है, जिसका एक इकाई के रूप में **प्राज्ञप्तिक** या **व्यावहारिक** अस्तित्व है। व्यक्ति और समाज परस्पर एक दूसरे के अधिपति-प्रत्यय हैं। यह अन्योऽन्याधिपतित्व या परम्पराश्रयता ही इनके बीच का बौद्ध दृष्टि से सम्बन्ध कहा जा सकता है। मेरे विचार में यही वह स्थल है, जहाँ से आधुनिक समाज-शास्त्रियों को व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्ध में चिन्तन की प्रभूत बौद्ध सामग्री या भारतीय दार्शनिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी

बौद्ध दार्शनिक समस्त वस्तुओं का विभाजन **स्वलक्षण** एवं **सामान्यलक्षण** में भी करते हैं। स्वलक्षण वह है जो कोई न कोई अर्थक्रिया करता है। सामान्यलक्षण अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है। इनके अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थसत् है, वस्तु है, क्षणिक है एवं प्रत्यक्ष का विषय है, जब कि सामान्यलक्षण ऐसा नहीं होता है। इनके मत में यद्यपि पुद्गल द्रव्यसत् नहीं है, प्रज्ञप्तिसत् है, फिर भी अर्थक्रियाकारी तो है ही। फलतः अपनी विशिष्ट परिभाषा के अनुसार यह तार्किक परिणति होती है कि पुद्गल को भी इन्हें स्वलक्षण, वस्तु एवं परमार्थसत् मानना होगा। क्योंकि इनके अनुसार पदार्थ द्रव्यसत् हो या प्रज्ञप्तिसत्, जो अर्थक्रियाकारी होता है, वह स्वलक्षण, वस्तु और परमार्थसत् होता है। इन्हें पुद्गल को प्रत्यक्ष का विषय भी मानना होगा, क्योंकि स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय भी होता है, किन्तु थोड़ा फर्क होगा। जो स्वलक्षण द्रव्यसत् होता है, वह तो प्रत्यक्ष का साक्षात् विषय होता है, किन्तु जो स्वलक्षण प्रज्ञप्तिसत् होता है, वह साक्षात् विषय नहीं, किन्तु सामर्थ्यतः प्रत्यक्ष का विषय होगा। जैसे भूतल का तो साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वहाँ पर रहने वाला घट का अभाव उसका साक्षात् विषय नहीं होता, फिर भी प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से घटाभाव बोधित हो जाता है, अतः वह सामर्थ्यतः प्रत्यक्ष का विषय कहलाता है, उसी तरह पञ्चस्कन्ध, जो द्रव्यतः स्वलक्षण हैं, वे प्रत्यक्ष के साक्षात् विषय होंगे तथा उनमें विद्यमान प्रज्ञप्तिसत् पुद्गल यद्यपि साक्षात् विषय नहीं होगा, फिर भी प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से बोधित होने के कारण वह सामर्थ्यतः प्रत्यक्ष का विषय होगा। इस परिभाषा के अनुसार समाज की भी दार्शनिक स्थिति पुद्गल की ही भाँति होगी।

माध्यमिक दृष्टिकोण

सुविदित है कि माध्यमिक **निःस्वभावतावादी** या **शून्यतावादी** होते हैं। इनके मत में किसी भी वस्तु की स्वभावसत्ता या पारमार्थिक सत्ता नहीं होती। सभी

वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न होती हैं। अर्थात् अन्य हेतुओं और प्रत्ययों की अपेक्षा से व्यवहार का विषय होती है। इसका आशय यह है कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों का सांव्यवहारिक या सांवृतिक अस्तित्व मानते हैं। जो पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं है, जैसे नित्य आत्मा, ईश्वर आदि; उनका सांव्यवहारिक अस्तित्व भी इनके यहाँ मान्य नहीं है। इनके मत में अन्य बौद्धों की भाँति पुद्गल भी व्यवहारसत् या संवृतिसत् मात्र है। फिर भी अन्य बौद्धों से इनकी कुछ विशेषता होती है। जब कि माध्यमिकेतर बौद्ध पुद्गल के अधिष्ठानभूत पाँच स्कन्धों की पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, ये लोग उन्हें भी पुद्गल की ही भाँति व्यवहारसत् मात्र ही मानते हैं। इन्हीं मूलभूत मान्यताओं के अन्तर्गत माध्यमिक लोक, परलोक, संसार, मोक्ष आदि की समस्त व्यवस्था सुचारु रूप से सम्पन्न करते हैं। पुद्गल की भाँति इनके मत में समाज की भी **सांव्यावहारिक सत्ता** होती है तथा व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध **परस्पर सापेक्षता** का सम्बन्ध ही माना जाता है।

इस निबन्ध द्वारा बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्ध के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। आशा है, इससे आधुनिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में इन विषयों पर विचार करने में विद्वानों को सुविधा होगी।

• • •

बौद्ध विनय की दृष्टि में व्यष्टि एवं समष्टि

प्रो० समदोङ् रिनपोछे तथा आचार्य सेम्पा दोर्जे

व्यक्ति और समाज

'विनय पिटक' अथवा किसी अन्य बौद्ध वाङ्मय में व्यक्ति और समाज-व्यवस्था अथवा समष्टि-व्यष्टि का व्याख्यान जैसा पाश्चात्त्य-समाज-दार्शनिकों द्वारा हुआ, वैसा ही ढूँढ़ने का प्रयास करें तो कुछ मिलेगा, ऐसा नहीं लगता। बौद्ध वाङ्मय निर्वाण-मूलक है और पाश्चात्त्य सामाजिक-दर्शन भौतिक अथवा लोकमूल्यात्मक हैं। इस तरह अत्यन्त पृथक् दिशाओं में जाने वाले दो प्रकार के वाङ्मयों में समता की खोज करना, विशेष उपलब्धि-जनक नहीं प्रतीत होता है।

विनय में भिक्षु-संघ की संरचना और व्यवस्था तथा व्यक्ति-भिक्षु और भिक्षु-संघ के सम्बन्धों का जो वर्णन मिलता है, वह एक विशेष समुदाय या संगठन की व्यवस्था है। व्यापक, सामाजिक धरातल अथवा व्यक्ति के सन्दर्भ में वह कहाँ तक प्रयुक्त हो सकता है, इसमें संशय है। फिर भी भिक्षु-संघ एक संघ (संघात = समूह) ही तो है, जो व्यक्तियों से बना है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों पर व्यापक रूप से विचार करने पर कुछ संकेत निकल सकते हैं।

बौद्ध विचार में व्यक्ति जीव (पुद्गल) की विस्तृत व्याख्या मिलती है। **'जीव'** दो प्रकार से पारिभाषित है—(क) शुद्ध दार्शनिक तत्त्व तथा (ख) व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में शुद्ध दार्शनिक तत्त्व वाले **'पुद्गल'** या **'जीव'** की व्याख्या यहाँ अपेक्षित नहीं है। अतः यहाँ व्यावहारिक व्यक्ति के सम्बन्ध में ही कुछ विचार किया जा रहा है।

व्यावहारिक जीव वह प्राणी है, जो जीने की इच्छा से सब कार्य करता है, उसकी सम्पूर्ण जीवन प्रक्रिया इसी **'जिजीविषा'** पर आधारित है। इस इच्छा के साधन के रूप में अपने प्रयत्न और दूसरों के सहयोग की ओर उसकी प्रवृत्ति बराबर बनी रहती है और उनसे सम्बन्धित क्रिया-समूह ही उसका जीवन बन जाया करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विनय से सम्बन्धित व्यवस्थाओं में व्यक्ति (पुद्गल) और संघ की युगल-व्यवस्था हर जगह पायी जाती है।

संघ के घटक-तत्त्व व्यक्ति का अस्तित्व संघ की अपेक्षा विशेष है। व्यक्ति के जीवन एवं उसके आदर्शों के अनुरूप ही संघ की व्यवस्था हुई, क्योंकि व्यक्ति का मूल

आदर्श दुःखों से छुटकारा (निर्वाण) पाना है। उसे साध्य मानकर जब व्यक्ति स्वयं साधन के रूप में जीता है तो उससे सम्बन्धित समग्र समष्टि-व्यष्टि का समवाय उस साध्य का साधन बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति और संघ दोनों निर्वाण के साधन के रूप में एक ही जैसे हैं और परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं।

संघ का स्वरूप

विनय के अनुसार संघ से तात्पर्य चार अथवा उससे अधिक उपसम्पन्न व्यक्तियों के समूह से है। एक से तीन संख्या तक **व्यक्ति** हैं, चार से कम व्यक्तियों का **संघ** नहीं बनता। व्यक्ति के जीवन में बहुत कुछ कार्य संघ या 'पर' की अपेक्षा से सम्पन्न होता है, इसलिए व्यक्ति को समाज की अपेक्षा होती है। जैसे—यदि किसी उपसम्पन्न भिक्षु को **'संघशेष'** जैसा दोष लगे तो उसके प्रायश्चित के लिए संघ की अनिवार्यतः आवश्यकता होती है। इसी तरह **श्रामणेर** की **उपसम्पदा** संघ के बिना सम्भव नहीं है।

व्यक्ति संघ से आबद्ध है। फिर भी वह संघ से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। संघ-कर्म के अतिरिक्त वह जो व्यक्तिगत कार्य करता है, उसका संघ उत्तरदायी नहीं होता और न उसका प्रभाव ही संघ पर पड़ता है। किन्तु व्यक्ति के बहुत सारे कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रभाव संघ पर सीधा पड़ता है। जैसे उसके शील (आचरण) की पवित्रता, ज्ञान की विशालता आदि का। इसके विपरीत कुछ बुरे कर्मों का—जैसे एक 'संघ-स्थविर' अदत्तादानादि-सम्बन्धी दोष से लिप्त हो तो उसका प्रभाव सारे संघ पर पड़े बिना न रहेगा।

संघ ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो एक व्यवस्था से बँधे हुए होते हैं। विनय के अनुसार संघ केवल उपसम्पन्न व्यक्तियों का ही होता है, तथापि संघ शब्द का व्यवहार उपसम्पन्न व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य समूहों जैसे—उपासक संघ, श्रामणेर संघ आदि के लिए भी होता है। संघ का गठन कुछ आवश्यक तत्त्वों पर निर्भर है, जैसे संघ के घटक व्यक्तियों के बीच समान आदर्श का होना, उनका समानधर्मी होना तथा इन सबके मूल में एक समान 'गण' अथवा मण्डल की भावना से प्रेरित होना आदि। इसीलिए जब कभी संघ-कर्म का प्रारम्भ किया जाता है तो संघ के सभी घटक एकत्र होकर एक सीमा के भीतर समान गण में एकमत होने का प्रस्ताव करते हैं और उसके पारित होने के बाद ही संघ अपने विधान के अनुकूल कार्य करने का अधिकारी होता है। इस तरह संघ एक भावना, एक आदर्श और समान आचार के आधार पर बनता है।

संघ स्वयं साध्य नहीं है, वह तो साधन है। समानधर्मी लोग अपने सुप्रतिष्ठित जीवनक्रम एवं साधना के लिए संघ बनाते हैं और उस संघ के द्वारा अपने जीवन का विकास करते हैं। यदि संघ की व्यवस्था घटक व्यक्तियों की आपेक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम न हो तो उस व्यवस्था में देश, काल के अनुसार परिवर्तन करना पड़ता है। संघ में जब तक उक्त क्षमता वर्तमान रहती है; व्यक्ति संघ की अविपरीत दिशा में ही कार्य सम्पन्न करते हैं।

सङ्घ के विधान से व्यक्ति कुछ विशेषताओं का भी अनुभव करता है, जैसे—एक व्यक्ति समस्त सांसारिक प्रपञ्च से विमुख होकर कोई साधना अपनाए, और उस साधना से अर्हत् का पद प्राप्त कर ले तो भी उसे सङ्घ के लिए कुछ कार्य करना ही होता है। यद्यपि उस कार्य के करने से उसका कोई लाभ नहीं है। सङ्घ की व्यवस्था सम्बन्धी चेतना उसे कार्य के लिए विवश करती है।

एक उदाहरण लें। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जब महाकाश्यप ने सङ्घ-नायक के रूप में संघ की बैठक बुलायी, तो उसमें उपस्थित अनेक अर्हत् जो परिनिर्वृत्त होना चाहते थे, उन्हें वैसा करने से संगीति के सम्पन्न होने तक रोक दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि संघ एक व्यक्ति को किस तरह नियन्त्रण में रखता है। यहाँ प्रश्न **सङ्घ** और **व्यक्ति** का नहीं है, बल्कि व्यवस्था (सङ्गठन) का है। व्यवस्था में जब सहमति होती है तो उसके अन्तर्गत नियमों और आदेशों के परिपालन में व्यक्ति विवश होता है।

आधुनिक समाजशास्त्री जिस तरह समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उसमें संघ की व्यवस्था की कुछ तुलना हो सकती है।

तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो 'घट' जैसी एक स्थूल वस्तु जब चक्षुविज्ञान के सामने उपस्थित होती है तो उसका रूप **'संस्थानात्मक'** होता है। उसके स्थूल आकार की वैसी सत्ता नहीं है, जैसी उसके घटक 'परमाणु' की है। परमाणु की स्वतन्त्र सत्ता है, वह द्रव्यसत् है। जब संस्थान की सत्ता का विखण्डन होने लगता है, तो घट का अस्तित्व ही नहीं रहता। घट की सत्ता विघटित होने पर भी उसके अवयव अथवा घटक परमाणुओं की सत्ता समाप्त नहीं होती। इस प्रकार प्रत्येक संस्थानात्मक वस्तु की सत्ता घटक अवयवों पर निर्भर है। पर घटक अवयवों की सत्ता संस्थान पर उसी अवस्था तक आश्रित है, जब तक उसके अस्तित्व का विशेष प्रयोजन रहता है। प्रयोजन की समाप्ति के साथ-साथ संस्थान का विघटन हो जाता है।

घटक और संस्थान के बीच की सम्बन्धात्मक रेखा तात्कालिक प्रयोजन निष्पत्ति पर निर्भर करती है। यह सिद्धान्त समाज और व्यक्ति पर प्रयुक्त कर देखें तो तात्त्विक दृष्टि से उनके सम्बन्धों को निश्चित करने में कुछ आयाम मिल सकते हैं।

भिक्षुसंघ की जब अभिवृद्धि हुई तो काल के क्रम से भिक्षु और भिक्षु-संघ, भिक्षु-संघ और साधारण समाज के पारस्परिक सम्बन्ध, भिक्षु-संघ और उसके सदस्यों के जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। उन समस्याओं के समाधान के रूप में विनय नियमों का विकास हुआ। विनय के नियमों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये नियम स्थायी नियम नहीं हैं। वे समकालिक जीवन एवं समाज की अन्योन्याश्रयी अपेक्षा से बनते गये हैं। इसीलिए विशेष परिस्थितियों में दी गयी निषेधात्मक अनुज्ञाएं अन्य परिस्थितियों में ढीली भी कर दी गयीं।

संघ के लोकपाल धर्म

जहाँ तक भिक्षु-संघ और समाज के सम्बन्धों का प्रश्न है, यह बहुत कुछ भिक्षुओं के सामाजिक जीवन पर निर्भर करता है। भिक्षु और भिक्षुसंघ के जीवन सम्बन्धी व्यवहार की ओर नजर डालने पर यह प्रतीत होता है कि भिक्षु-संघ एक धार्मिक सङ्गठन होते हुए भी साधारण समाज के बहुत बड़े क्षेत्र को प्रभावित करता है। जैसे संघ सम्बन्धित समाज के ज्ञान, आध्यात्मिक जीवन और उससे सम्बन्धित सभी क्रिया-कलापों का नेतृत्व करता है। दान, पूजा, जन्म-मरण आदि संस्कारों तथा नैतिक शिक्षा आदि बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति में संघ का विशेष योगदान होता है। दूसरी ओर संघ या उसके सदस्य भिक्षुओं का भोजन, वस्त्र आदि जीविका, उनकी जीवन सम्बन्धी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज या सामाजिक संगठन, जैसे परिवार, राज्य आदि पर पूर्णतया निर्भर रहती है। यही कारण है कि भिक्षु-संघ या संघ के सदस्य भिक्षुओं को साधारण समाज के तात्कालिक उन सभी नैतिक नियमों एवं रीति-रिवाजों का पालन करना पड़ता है, जो एक आदर्श समाज के सदस्य व्यक्ति को करना पड़ता है। विनय के अधिकांश नियम सामाजिक अपवादों को दृष्टि में रखकर ही बनाये गये हैं—जैसे एक भिक्षु को एक स्त्री के साथ एक कोस या एक फर्लांग की दूरी तक साथ जाना विनय-विरुद्ध माना जाता है।

यहाँ पर कह देना असङ्गत नहीं होगा कि बुद्ध ने लोकपाल धर्म दो ही कहे हैं। वे हैं—'**ह्री** और **अपत्राप्य**'। '**द्वौ धर्मौ लोकं पालयतः, ह्रीश्चापत्राप्यं चेत्यादि**'—(प्रसन्नपदा प्रथमपरिच्छेद, पृ० १३।)

ये धर्म लोकस्थिति के आधार हैं। अर्थात् किसी व्यक्ति को देखकर किसी बुरे काम या असभ्य कार्य करने में लज्जा आना, या स्वयं को किसी बुरे कर्मों को करने में शर्म या हिचक होना। ये दो चीजें जब तक मनुष्य (व्यक्ति और समाज) में रहेंगी, तब तक उनकी लोकयात्रा का आधार सुस्थिर नहीं होगा। अन्यथा जब मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित सभी व्यवस्थाएँ एवं सम्बन्ध विच्छिन्न होने की स्थिति में पहुँच जाते हैं तो मनुष्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं रह जाता है।

समाज में या उसके सदस्यों में उपर्युक्त दो धर्मों के तत्त्व जितनी मात्रा में रहेंगे, सम्भवतः समाज या व्यक्ति में उतनी ही समाजिकता और मानवीयता परिलक्षित होगी। इन तत्त्वों के व्यापक सन्दर्भ में यदि समाजशास्त्रीय समीक्षा की जाए तो सम्भवतः कुछ तथ्य अवश्य सामने आ सकते हैं।

आधुनिक विद्वान् विनय में परिभाषित भिक्षु संघ और त्रि-शरण के अन्तर्गत के संघ को एक मानकर अनेक असंगतियाँ खड़ी कर देते हैं। अतः संक्षेप में इन दोनों का भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

भिक्षुसंघ तथा त्रिशरणान्तर्गत भिक्षुसंघ में भेद

श्रावक निकाय के अनुसार संघकारक शैक्ष तथा अशैक्ष लोगों की सन्तति का 'अनास्रव-ज्ञान' त्रिशरणान्तर्गत संघ माना जाता है। जैसा कि अभिधर्मकोश में दिया हुआ है—

बुद्धसंघकरान् धर्मान् अशैक्षानुभयांश्च सः।
निर्वाणं चेतिशरणं यो याति शरणत्रयम्॥ (अभिधर्मकोश ४।३२)

यहाँ त्रिशरण से तात्पर्य बुद्धकारक धर्म अशैक्ष्य मार्ग, संघकारक धर्म शैक्ष्य-अशैक्ष्य मार्ग और धर्मकारक निर्वाण अर्थात् प्रतिसंख्यानिरोध की शरण में जाना ही है।

यहाँ बुद्धकारक अशैक्ष्य मार्ग से अभिप्राय धर्मकाय से है।

बुद्ध के धर्मकाय के दो रूप होते हैं—ज्ञानधर्मकाय और स्वभावधर्मकाय। ज्ञानधर्मकाय बुद्ध की सन्तति में निहित उस ज्ञान को कहते हैं, जो समस्त धर्मों के स्वरूप को यथावत् जानता है। स्वभाव धर्मकाय उस धर्मता या विसंयोग फल को कहते हैं, जो समस्त अज्ञान और आवरणों से रहित है। यह फलज्ञान धर्मकाय का (साक्षात्) अधिगत विषय भी होता है। इसलिये इस ज्ञान को क्षयज्ञान भी कहा जाता है। इस सपरिवार क्षयज्ञान को ही यहाँ बुद्धकारक धर्म कहा जाता है।

अन्तिम अशैक्ष्य मार्ग की अवस्था होने के कारण इन बुद्धकारक धर्मों को अशैक्ष्य मार्ग भी कहा गया है।

इस प्रकार संघकारक धर्म के भी दो स्वरूप हैं, जिनको शैक्ष्य और अशैक्ष्य मार्ग कहा जाता है। आर्य सत्यों को साक्षात् रूप से जानने वाले स्रोतापन्न, सकृदागामी आदि मार्ग को शैक्ष्य मार्ग कहा जाता है, स्रोतापन्न फलप्रतिपन्न आदि मार्गों को अशैक्ष्य मार्ग कहा जाता है। इस मार्ग व्यवस्था के कारण आर्य पुद्गलों की संख्या आठ हो जाती है। संघकारक धर्मों से युक्त होने के कारण आमतौर पर उक्त आर्य पुद्गलों को ही वास्तविक संघ माना गया है। इस अर्थ में संघ का व्यवहार व्यक्ति के लिए ही होता है। उपसम्पन्न व्यक्तियों के चार या चार से अधिक लोगों के संगठन में भी उपचार से संघ शब्द का व्यवहार होता है, पर इस तरह के संघ को त्रिशरण के अन्तर्गत न आने वाला वास्तविक संघ नहीं माना जाता है।

धर्मशरण के अन्तर्गत आने वाला धर्मकारक तत्त्व प्रतिसंख्या-निरोध है, जिसकी शरण में जाने से दुःखों का समूल निवारण होता है। यहाँ त्रिशरण गमन से अभिप्राय त्राण के लिए आश्रय लेना है, जैसे कहा गया है।

कः पुनः शरणार्थः ? त्राणार्थः, तदाश्रयेण सर्वदुःखात्यन्तविमोक्षात्।
(अभि० कोश भाष्य–पृ० ६३० बौ० सं० १९७१)।

महायानी परम्पराओं के अनुसार उक्त सामान्य संघ के अतिरिक्त प्रतिसंविद् एवं विमुक्ति के आठ गुणों में से एकाधिक गुणों से युक्त आर्य पुद्गलों को भी त्रिशरण के अन्तर्गत वास्तविक संघ कहा गया है। इन आठ गुणों में से चार प्रत्यात्मसंविद् अर्थात् ज्ञानात्मक गुण हैं। ये चार हैं—यथावद् ज्ञानविशुद्धि, यावद्-ज्ञान विशुद्धि, सर्वसत्त्व अर्थात् समस्त जीवों की सन्तति में निहित तथागतगर्भ की साक्षात् ज्ञान-विशुद्धि और प्रतिसंविद् ज्ञानविशुद्धि। इन चारों को **प्रतिसंविद्गुण** कहा जाता है। राग, प्रतिघ, हीनता एवं सामान्य आवरणों से विमुक्ति गुण इन चारों को विमुक्ति गुण कहा गया है। इन संघकारक गुणों के आधार पर अवैवर्तिक बोधिसत्त्वों को वास्तविक संघ के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसा आचार्य मैत्रेयनाथ ने **रत्न-गोत्रविभागमहायानोत्तर-तन्त्र** में कहा है—

यथावद्यावदध्यात्मज्ञानदर्शनशुद्धितः।
धीमतामविवर्त्यानामनुत्तरगुणैर्गणः॥ (प्रथमपरिच्छेद, १४)

इस तरह श्रावकयान और महायान दोनों ही त्रिशरण के अन्तर्गत संघ को आर्य पुद्गल अथवा आर्य-गुण मानते हैं। यह वैसा ही है जैसे आगम, धर्मशरण न होते

हुए भी उसके अन्तर्भूत है, भिक्षु-संघ भी वास्तविक संघ-शरण न होने पर भी संघ-शरण के अन्तर्भूत है।

संघ-शरण और भिक्षु-संघ के भेद को स्पष्ट रूप में रखते हुए विचार करें तो सुसंगत होगा। अन्य शरणों में भी फलभूत शरण ही यथार्थ शरण होता है। हेतुभूत शरण मात्र प्रेरणादायक होता है। अतः शरण-गमन का अभिप्राय, अपने द्वारा लभ्य फलभूत शरण को प्राप्य मानकर उसको प्राप्त करने का संकल्प करना ही होता है।

इस प्रकार शरण-गमन आत्म-समर्पण नहीं है, बल्कि वह तो लक्ष्यप्राप्ति एवं पुरुषार्थ का साधन है। इसकी और स्पष्टता आवश्यक है। विनय के नियमों के अनुसार उपसम्पन्न होने के लिए व्यक्ति को भिक्षु-संघ पर अवलम्बित रहना आवश्यक होता है। फिर भी इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यक्ति अपना अस्तित्व मिटाकर अथवा वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर भिक्षु-संघ के प्रति आत्मसमर्पण करता है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि विनय के नियमानुसार उपसम्पन्न होने के दस प्रकार की विधियों में केवल एक विधि ऐसी है जो प्रस्तावना एवं अन्य चार संघ-कर्मों से उपसम्पदा दिलाती है और वह उपसम्पदा भिक्षु-संघ के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त बुद्ध स्वतः उपसम्पन्न होते हैं। प्रत्येकबुद्ध बिना आचार्य के उपसम्पन्न होते हैं। पंचवर्गीय भिक्षु ज्ञानलाभ से उपसम्पन्न हुए। महाकाश्यप ने बुद्ध को अपना शास्ता माना, उसी कारण से वह उपसम्पन्न हो गये। भिक्षु उदायी प्रश्नोत्तर से उपसम्पन्न हो गए तथा अनेक भिक्षु तो 'केवल यहाँ आवें', इस सम्बोधन से ही उपसम्पन्न मान लिए गये। शरणगमनमात्र से उपसम्पन्न होने की भी पूर्व विधियाँ रही हैं और उन स्थितियों में उपसम्पदा केवल भिक्षु-संघ पर निर्भर कही जा सकती।

भिक्षु-संघ एक विशेष प्रकार का संगठन अथवा समुदाय है, जिसमें निर्वाण का इच्छुक व्यक्ति प्रातिमोक्ष-शील ग्रहण कर उसका सदस्य बनता है। उसका लक्ष्य व्यावहारिक समाज के लक्ष्य एवं आदर्श से भिन्न है।

भिक्षु-संघ के नियम

तथागत ने प्रव्रज्या लेने वालों को **अनागारिक** की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है—गृहविहीन। जो गृह की सारी सम्पत्ति सुविधा को त्याग कर निर्वाण के पथ का पथिक होकर अध्ययन और ध्यानरत हो गया है—वह इन दो कार्यों के लिए ही जिसने जीवन समर्पित कर दिया है।

भिक्षु देहधारी होने के कारण समाज से कटा हुआ नहीं रह सकता। इस कारण तथागत ने भिक्षु-संघ के अन्तर्भूत सामाजिक व्यवस्था भिक्षु-संघ एवं भिक्षु तथा साधारण समाज के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्थाओं को संतुलित और अहिंसामय रखने की सूक्ष्म और विस्तृत विधियों का अनुशासन किया है।

सम्पूर्ण विनय पिटक का विषय अप्राप्त संवर को प्राप्त करने का उपाय, प्राप्त संवर के पालन एवं संवर्धन का उपाय तथा प्राप्त संवर की हानि होने पर प्रायश्चित्त द्वारा सुधार का उपाय, इन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। विश्लेषण से ये सभी समाज को सुचालित और उसके सम्बन्धों को मधुर बनाये रखने की ही दिशा में आवर्तित है।

यहाँ पर मुख्य रूप से प्रातिमोक्ष शील के तीन मूल तत्त्वों का निर्देश किया जाता है—अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की वृद्धि तथा प्राप्त की हानि की स्थिति में उसके प्रायश्चित का उपाय। जैसे एक व्यक्ति पञ्चशील ग्रहण करके उपासक बनता है या उपसम्पदा ग्रहण करके भिक्षुभाव को प्राप्त करता है, तो यह विनयविहित व्यवस्थाओं के आधार पर ही होता है। अन्यथा चाहे जो भी विधि अपनाए या भिक्षुओं के समस्त नियमों का जीवन भर पालन करता रहे तो भी वह भिक्षु नहीं होता है।

प्राप्त संवरों के संवर्द्धन के भी अनेक तत्त्व होते हैं—स्वयं विपरीत विषयों की और अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्ति का संवरण करते हुए शील का पालन करना अथवा गुरु, मित्र, शास्त्र, शुद्ध आजीविका, अनुकूल वातावरण, उपोसथादि संघ-कर्म इत्यादि की अपेक्षा से उसका संवर्द्धन किया जाता है।

संघ-भेद, अर्थात् एक संघ में फूट डालकर उसे दो निकायों में विभक्त करना। जैसे कोई विनय विरुद्ध दोष लग जाने पर सम्बन्धित व्यक्ति को संघ के सामने प्रायश्चित कार्य अवश्य ही करना पड़ता है। अन्यथा उस व्यक्ति को संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। विनय सम्बन्धी और भी बहुत से ऐसे दोष या अपराध हैं जिनसे विरत रहने का उद्देश्य संघ और शीलवान् लोगों को केवल सामाजिक अपवादों से बचाना है, जैसे सुगन्धित द्रव्यों का लेप करना, एक अँगुली से अधिक लम्बा बाल रखना आदि।

इन विधि नियमों को देखते हुए लगता है कि एक प्रातिमोक्ष शील प्राप्त व्यक्ति का समाज में किन-किन सामाजिक पवित्र धर्मों से युक्त होना अभीष्ट है। इससे न केवल एक भिक्षु को अपने समाज में किस तरह का व्यवस्थात्मक जीवन बिताना है,

अपितु अन्य व्यक्ति, समाज या संगठन में किस प्रकार का व्यवस्थात्मक जीवन बिताना चाहिए, इसकी भी स्पष्ट झलक मिलती है।

किसी भी व्यक्ति के भिक्षु-संघ में प्रवेश होने से समाज में अव्यवस्था न फैलने पावे, इसे रोकने के लिए तथा अनागारिक (भिक्षु) होने के लिए भी शर्तें हैं। जैसे—माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करना, राजकर्मचारी न होना, किसी का ऋणी न होना, किसी तरह के अपराध का दोषी न घोषित होना इत्यादि।

इन बातों से इन तथ्यों का और भी स्पष्ट आभास मिलता है कि एक व्यक्ति को उपसम्पन्न या परिव्राजक होने के लिए कितने सामाजिक अपवादों से मुक्त होना पड़ता है। यद्यपि माता-पिता की आज्ञा प्राप्त न हो तो भी उस व्यक्ति के श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान आदि में कोई अन्तर नहीं आने वाला है, तथापि विनय के नियमानुसार इसे एक अपराध माना गया है। इस प्रकार किसी का ऋणी हो, राजदण्ड विधान के अनुसार दोषी हो इत्यादि भी यहाँ अपराध की कोटि में रखा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राज्यव्यवस्था, पारिवारिकव्यवस्था आदि प्रायः सभी सामाजिक-व्यवस्था और तत्सम्बन्धित समाज, भिक्षु-संघ एवं उसके जीवन को प्रभावित करते हैं। दूसरी ओर अन्य सामाजिक संगठनों एवं व्यवस्थाओं को भी संघ प्रभावित करता है।

भिक्षु-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् संघ और व्यक्ति के बीच की व्यवस्था में व्यवधान न आये इसे रोकने के लिए प्रव्रज्यार्थी का निरोग और अविकलांग इत्यादि होना अन्य प्रकार की शर्तें हैं।

विनय के नियम प्रायः सामाजिक अपवाद (निन्दादि दोष) से बचने के लिए ही बनाये गये। इससे यह सिद्ध है कि भिक्षु और संघ दोनों द्वारा समाज के साथ उनके सुखकर सम्बन्ध स्थापित रखने की अनिवार्यता पर बल दिया गया है।

जहाँ तक भिक्षु-संघ की आन्तरिक व्यवस्था का प्रश्न है त्रिचीवर या त्रयोदश जीवनोपकरण के अतिरिक्त निजी सम्पत्ति न रखना, एक समय के भोजन के सिवाय सञ्चय न करना, मुद्रा-रत्न आदि के स्पर्श को वर्ज्य मानना आदि आवश्यक नियम हैं। इन नियमों से वित्तीय सम्पत्ति की दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं तक ही सीमित रहना और समस्त भिक्षुओं के लाभ तथा सम्पत्ति की समता के ऊपर विशेष बल देना, संघ के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। इससे एक आदर्श समाज की कल्पना स्वतः मन में बैठ जाती है।

केवल शरीर रक्षा के लिए भिक्षावृत्ति को विनय ने स्वीकार किया, फिर भी भिक्षु समाज पर आर्थिक बोझ न बने, इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। शीलवान्

भिक्षु भिक्षा को एक तरह के ऋण के रूप में ग्रहण करे, ऐसा तथागत ने कहा है। और उन्होंने इसके विपरीत भ्रष्ट भिक्षु के भिक्षा ग्रहण करने को अंगार को खाने जैसा बतलाया है। तथागत की देशना के अनुसार यदि एक शीलवान् भिक्षु भी भिक्षा ग्रहण कर प्रत्युपकार के रूप में उपदेश आदि नहीं देता तो वह उस सामाजिक ऋण से उऋण नहीं हो सकता।

संघविधान के अनुसार व्यक्ति और समाज की कुछ अन्य बातें हैं। संघ विनय के नियम नहीं बना सकता है; न वह विनय के नियमों में परिवर्तन कर सकता है। संघ अपने समुदाय के भीतर कुछ छोटी-मोटी व्यवस्थाएँ कर सकता है, परन्तु वह भी अपनी सीमा के भीतर। अन्य सीमाओं में बँधे संघ पर उसकी व्यवस्थाएँ प्रयुक्त न होंगी।

एक भिक्षु का भी मत न प्राप्त होने पर सम्पूर्ण भिक्षु कर्म चाहे जितना भी बहुमत हो, सम्पन्न नहीं हो सकते। दूसरी ओर संघ के बिना कोई व्यक्ति उपसम्पन्न नहीं हो सकता। वर्षावासप्रवारणा, उपोसथ आदि विधान तथा संघशेष जैसे दोष से विमुक्ति पाने के लिए संघ के समक्ष प्रायश्चित करना आदि ऐसी बातें हैं, जिसके लिए भिक्षु सर्वथा संघ पर आश्रित रहता है। इसी तरह संघ की द्रव्य-सम्पत्ति पर भी किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं होता, बुद्ध, धर्म तथा चैत्य (स्तूप) के प्रति अर्पित धन संघ के लिए प्रयोग में लिया जा सकता है, परन्तु संघ के लिए अर्पित धन का प्रयोग चैत्यादि के लिए नहीं हो सकता। यह भी विचार का विषय है।

विनय के अनेक नियम और उपनियम ऐसे हैं, जिनके विश्लेषण से साधारण रूप से इसका निर्णय कर पाना बड़ा कठिन है कि संघ की व्यवस्था में व्यक्ति प्रधान है अथवा संघ प्रधान है। वहाँ प्रत्येक विशेष कर्म के लिए विशेष नियम एवं विशेष की प्रधानता को योजना है, जिससे हर स्तर पर एक सन्तुलन है, एक पारस्परिक नियन्त्रण की डोंरी है। स्त्रियों को पुरुषों के समान उपसम्पन्न होने का और भिक्षुणी-संघ स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। जिससे यह कहा जा सकता है कि लिङ्गभेद के बिना विनय के नियमों में समता है। परन्तु अनेक कार्यों में भिक्षुणी-संघ भिक्षु-संघ पर निर्भर है। इसमें असमानता जैसी प्रतीति हो सकती है। संघ में जाति, भाषा तथा पद के विभेद मिटाकर ही एक समता स्थापित की गयी है। फिर भी उपसम्पदा के शिक्षापदों में वरिष्ठ क्रम से अनेक भेद परिलक्षित हो सकते हैं।

जहाँ प्रातिमोक्ष-शील प्रधान रूप से प्रतिमोक्ष है और व्यक्तिमोक्ष का आधार है, वहीं व्यक्ति अपनी ओर से शील का पालन करके ही स्वयं मुक्त हो सकता है, संघ

के नियमों से न व्यक्ति मुक्त होगा न संघ। पर यहाँ शील संघ के बिना व्यक्ति को प्राप्त ही नहीं होता।

इस तथ्यों से सिद्ध होता है कि **व्यक्ति** और **संघ** पूर्णरूप से एक दूसरे पर निर्भर हैं, परस्पर **सापेक्ष** हैं, **प्रतीत्यसमुत्पन्न** हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद में कोई एक प्रधान या दूसरा साधारण नहीं होता। इस कारण विनय की दृष्टि से समष्टि और व्यष्टि, व्यष्टि अथवा संघ में समता और सन्तुलन देखा जा सकता है, किसी की प्रधानता नहीं मानी जा सकती। इस प्रसङ्ग में मैं एक समस्या की चर्चा कर अपने लेख को समाप्त करूँगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वाले एवं कर्मफल के सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानों के मन में यह आशंका उठा करती है कि सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण निर्दोष व्यक्ति क्यों सताया हुआ और दुःखी अनुभव करता है।

एक व्यक्ति सांसारिक प्रपञ्च से विरक्त होकर घर छोड़ता है, प्रव्रजित होता है, और वह संघ आदि दूसरे संगठन या समाज में जा मिलता है तो इस प्रकार व्यक्ति की एक समाज को छोड़कर दूसरे में जा मिलने में क्या विवशता है।

इस प्रकार समाज या संगठन के भीतर कार्य करने वाली वह कौन-सी शक्ति है, जो व्यक्ति को किसी न किसी रूप में उसके अधीन होने के लिए विवश करती है। दूसरी ओर एक व्यक्ति या समाज का एक अंग कोई बुरा कर्म—चोरी, हिंसा, आर्थिक शोषण आदि करता है अथवा युद्ध जैसे नृशंस काण्ड खड़ा कर देता है, तो सारे निर्दोष समाज को उसके बुरे कर्म का प्रतिफल भोगने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। यह क्यों ?

इन प्रश्नों के मूल कारण का परिज्ञान हो सके तो व्यक्ति और समाज के बीच की बहुत-सी समस्याओं का हल निकलने की सम्भावना बढ़ जाती है।

समाज की संरचना में जातियों के नृशास्त्रीय सिद्धान्त, भूगोल की सीमा, जलवायु आदि, प्राकृतिक साधन का प्रभाव देखा जाता है। इसलिए व्यक्ति किसी न किसी समाज के प्रति प्रतिबद्ध होता है, चाहे वह परम्परा से चला आने वाला समाज हो अथवा नवनिर्मित समाज हो। उस समाज के सभी क्रिया-समूह का उत्तरदायी व्यक्ति हो जाता है, क्योंकि उसने जाने या अनजाने उसे स्वीकार किया है। जैसे एक लड़का ब्राह्मण कुल में जन्म ले तो कुछ वर्ष के बाद यज्ञोपवीत आदि संस्कार से संस्कारित होगा और उसे आजीवन ब्राह्मण समाज का निर्वाह करना पड़ेगा। इसी प्रकार एक पँचवर्षीय बालक के श्रामणेर संवर लेकर श्रामणेर बनने पर जीवन भर उसको उससे

सम्बन्धित संघ के नियमों का परिपालन करना होगा। विभिन्न सम्बन्धों के माध्यम से व्यक्ति पर विभिन्न समाज अथवा संगठन का प्रभाव पड़ता है और विभिन्न समाज एवं संगठन से सम्बद्ध सुख-दुःख का वह भागीदार बन जाता है। इसमें कारण सामाजिक चेतना होती है, जिससे सम्बद्ध समाज के लिये व्यक्ति को अपना सर्वस्व तक कभी-कभी निछावर कर देना पड़ता है। संघ और व्यक्ति के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों पर विनय पिटक में अच्छा प्रकाश मिलता है।

बौद्ध वाङ्मय में जहाँ व्यक्ति और संघ की व्यवस्था है, वहीं संघ और भिक्षु की सापेक्षता से भी अधिक **'स्व'** और **'पर'** का विचार प्रायः सभी जगह पाया जाता है, भिक्षु का संघ से सम्बन्ध एक सीमा तक है, वह नित्य अथवा सर्वांश सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। भिक्षु की चेतना का संघ की सामुदायिक चेतना में अन्तर्निवेश तो है। किन्तु उसकी स्वयं की भी एक चेतना है, जो उसे निर्वाण की दिशा में ले जाती है।

बौद्ध सिद्धान्त में मानव समाज का विशिष्टीकरण नहीं किया गया है। सभी जीवों को समान माना गया है और सभी जीवों के हित को एक जैसा महत्त्व दिया गया है। इस कारण सर्वसत्त्व शब्द का प्रयोग किया जाता है, समाज शब्द का नहीं।

• • •

व्यष्टि एवं समष्टि की समस्या
हिन्दी-निबन्ध

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥
तस्मात् सत्त्वोपभोगार्थमात्मभावादि पालयेत् ।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात् ॥
(शिक्षासमुच्चये १, ६)

सर्वा दिशः शिवाः सन्तु सर्वेषां पथिवर्तिनाम् ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिद्ध्यतु ॥
(बोधिचर्यावतारे १०।२३)

प्राचीन बौद्धों की दृष्टि में व्यष्टि एवं समष्टि

डॉ० महेश तिवारी

व्यष्टि एवं समष्टि एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। शब्द की दृष्टि से नवीन होते हुए भी इसमें निहित अर्थ के गमक शब्द प्रारम्भिक बौद्ध चिन्तन में उपलब्ध हैं। बुद्ध ने अपने उपदेशक्रम में जिस प्रश्न पर अधिक बल दिया है, वह है **'चित्त-विशुद्धि'** का प्रश्न। चित्त ही कर्म है एवं इस रूप में वह सत्त्व के सुख दुःख के आह्वान का मूल कारण है। संक्लिष्ट चित्त से मनुष्य दुःखाभिभूत होता है तथा परिशुद्ध चित्त से वह दुःखविरहित होता है। यदि बौद्ध साधना एक ऋजुरेखा है तो उसके प्रारम्भ बिन्दु पर संक्लिष्ट चित्त है, तथा पर्यवसान बिन्दु पर परिशुद्ध चित्त है। इन दो बिन्दुओं के मध्य चित्त परिशुद्धि प्रक्रिया का आनुक्रमिक अवचरण होता है।

मनुष्य लोक में चित्त की अभिव्यक्ति एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं होती है। वह नाम तथा रूप के संघात के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसी संघात का व्यावहारिक अभिधान सत्त्व या मनुष्य है। यह मनुष्य जब संक्लिष्ट चित्त से उपेत रहता है तब वह 'पुथुज्जन' कहलाता है। जब वह परिशुद्ध चित्त से सम्प्रयुक्त होता है तो वह बुद्ध कहलाता है। इनमें पुथुज्जन ही व्यष्टि है तथा बुद्ध को समष्टि कहा जा सकता है। व्यष्टि कहने से यहाँ ऐसा पुरुष अभिप्रेत है, जिसके समस्त कार्यकलाप 'स्व' की परिधि में सीमित रहते हैं। जब 'स्व' पूर्णतः 'पर' में विलीन हो जाता है तथा जिसके समस्त कार्यकलाप परार्थ ही होते हैं, तब वह समष्टि कहा जाता है। ये दोनों अवधारणायें जीवन के उदात्त मूल्यों की दिशा में आदि तथा अनन्त बिन्दुओं पर स्थित हैं। इनके मध्य चित्त-विकास की नौ अवस्थायें हैं, जिन्हें नौ विकासोन्मुख मूल्य भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की प्रवणता में क्रमशः 'स्व' का आवरण क्षीण होता जाता है। इसका पूर्ण क्षय ही अनावरण 'पर' की अभिव्यक्ति है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित प्रकार से है।

(१) **पुथुज्जन**—यह एक ऐसे व्यक्ति का नाम है, जिसे धर्म के स्वरूप का यथार्थावबोध नहीं है। फलतः उसमें 'अहं' तथा 'मम' का प्राबल्य रहता है। उसकी सर्वदा एतादृश अभिव्यक्तियाँ हुआ करती हैं कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है, गृही प्रव्रजितों में मैं अग्रणी हूँ। सभी कुलों में मेरी पूजा होनी चाहिए, गृही तथा प्रव्रजित मेरे अनुगामी बनें आदि। उसे धर्मस्वभाव में प्रतिवेध नहीं होने के कारण समस्त

वस्तुओं का वैसा ही ज्ञान होता है, जैसा वे आपाततः उपलब्ध होती हैं। फलतः उनमें ममकार की स्थापना कर उनका अभिनन्दन करता है। इससे अविद्या तथा तृष्णा बलवती हो जाती है एवं समस्त कर्म अकुशल मूल अनुप्राणित होते हैं। यही व्यष्टि का विमूढ़तम आदि रूप है।

(२) **कल्याणपुथुज्जन**—मनुष्य की विमूढ़तम चित्तदशा में किसी कल्याणमित्र के संसर्ग से या पूर्व के कुशल संस्कारों के उदय होने से कदाचित् **'सद्धा, हिरि'** तथा **'ओतप्प'** नामक तीन मूलभूत प्रवृत्तियों की उद्भावना होती है। इससे चित्त पर व्याप्त आवरण में प्रथम प्रकम्पन होता है। उसे इस प्रकार का विश्वास सा होने लगता है कि 'स्व' के अपरित्यागपूर्वक 'पर' में रति हितकर है। ऐसा होने से उसे कुशलाकुशल मूलों से परिचय मात्र होता है। उसके मानस धरातल पर ऐसा उद्वेग होता है कि "मैं मनुष्य हूँ, प्रज्ञावान् हूँ, मनुष्यभाव अद्भुत घटना है। मेरे लिये अकुशल कर्म करना विहित नहीं है" आदि। इस आत्मगौरव के भाव से वह पाप का परित्याग करता है। उसकी यह प्रवृत्ति आगे बढ़ती है तथा उसमें लोकसम्मान के भाव अङ्कुरित हो उठते हैं। अब वह लोकमङ्गल की भावना से पापकर्म का परित्याग करता है। ऐसी मनोदशा से युक्त पुरुष को **पटिसोतगामी पुग्गल** भी कहा जाता है। इसकी 'स्व' की परिधि आवरण रूप से धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है तथा आधार के रूप में कार्यरत हो जाती है। 'स्व' का 'पर' में विलय प्रारम्भ हो जाता है तथा वह लोक की छः ईकाइयों तक व्याप्त हो अवरुद्ध हो जाता है। इसी को दिशाप्रत्याच्छादन या दिशापूजन कहते हैं। बुद्ध ने छः इकाइयों को दर्शाते हुए कहा है—

माता पिता दिसा पुब्बा,
आचरिया दक्खिणा दिसा।
पुत्तदारा दिसा पच्छा,
मितामच्चा च उत्तरा।
दासकम्मकरा हेट्ठा,
उद्धं समण ब्राह्मणा।
एता दिसा नमसेय्या,
अलमत्ते कुले गिही॥

यहाँ दिशा साङ्केतिक शब्द है एवं उनके साथ समाज की छः इकाइयों का कथन व्यवहार परिनिष्ठ है।

ऐसी मनोदशा सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा जो अन्य 'पर' उन्मुख कार्य देखे जाते हैं—वे नौ मंगल हैं, जिनका कथन मंगलसुत्त में किया गया है। 'पराभवसुत्त' तथा

'वसलसुत्त' की देशना इसके कार्यकलापों के पोषक रूप हैं। 'आलवकसुत्त' के प्रथम चार प्रश्न इसके विकासोन्मुख स्फुरण के लिए हैं। यथा—

किं सूध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं,
कस्मि सुचिण्णे सुखमावहाति।
किं सु हवे सादुतरं रसानं,
कथं जीवी जीवितमाहु सेट्ठं ॥

(३) संघगतपुरुष—कल्याण पुथुज्जन के 'स्व' का आवरण अंशतः क्षीण अवश्य हो जाता है, पर उसकी अधिकतम व्याप्ति समाज की छः इकाइयों तक ही हो पाती है। इसका अन्य परगामी विस्तार संघगत पुरुष में देखा जाता है। संघ शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से सं+हन+र करके बना है। लोक की उक्त छः इकाइयों में आबद्ध पुरुष 'धम्मं सुचिण्णे सुखमावहाति' की परीक्षा की दृष्टि से संघ में प्रवेश करता है। यहाँ पहुँच कर विभिन्न नदियों के सागरविलय के उपरान्त एकमात्र अभिधान 'सागर' सदृश उस पुरुष का जाति, गोत्र, कुल, तद्गत मर्यादा आदि की परिधि की समाप्ति पूर्वक श्रमण मात्र अभिधान रह जाता है। अब उसकी चर्या बहुजनहिताय, बहुजन-सुखाय, लोकानुकम्पाय हो जाती है पर उसकी चित्तपरिधि 'संघ' तक रूढ़ हो जाती है। संघ ही उसके लिए सर्वोपरि होता है, तथा वह संघ का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। विचार-सरणी का तटबन्ध संघ बन जाता है।

(४) समथलाभी पुरुष—'स्व' का 'पर' में पूर्णविलय सत्वर या हठात् नहीं हो पाता है। इसका कारण यह है कि 'स्व' के आदीनव तथा 'पर' के आनिशंस का विवेक उसे तब तक नहीं हुआ रहता है। इसका कारण चित्त चाञ्चल्य है। इसके निवारण के लिए वह 'समथ' का अभ्यास करता है। 'समथ' वस्तुतः एक विधा का नाम है, जिसके अभ्यास से चित्त चांचल्य के कारण नीवरण का प्रहाण, एकाग्रता के साधक अंग, ध्यानांग का उदय तथा रूपध्यान एवं अरूपध्यान का लाभ होता है। ऐसा होने से चित्त अंगणरहित विगतुपक्लेश शुद्ध एवं शान्त हो उठता है। इस दशा की प्राप्ति भी आनुक्रमिक है। रूप ध्यान की पाँच तथा अरूप ध्यान की चार अवस्थायें हैं। इन नौ अवस्थाओं में उपरोपरि क्रम से चित्त शान्त होता है तथा तद् तद् शान्त परिवेश में 'स्व' का 'आदीनव' स्पष्टतर हो उठता है, साथ ही उसका आवरण भी उसी क्रम में भग्न हो जाता है। उसे 'पर' का आनिशंस भी सुजात हो जाता है, पर दोनों का विवेक, प्रथम का त्याग, द्वितीय का ग्रहण एवं अभिवर्द्धन नहीं हो पाता है, क्योंकि धर्मस्वभाव में प्रतिवेध नहीं हुआ रहता है।

(५) **विपस्सनालाभी पुरुष**—कुशल चित्तसम्प्रयुक्त प्रज्ञा विपश्यना है। धर्म-स्वभाव का विशेष रूप से दर्शन ही इसका कार्य है। वह क्या है? धर्म का जो आपाततः उपलब्ध रूप है, वह क्रमशः मरीचिका सदृश अनुभूत होने लगता है तथा इस तथ्य का साक्षात्कार हो जाता है कि सभी संस्कार अनित्य, दुःख तथा अनात्म हैं। इससे बाह्याकार, लक्षण तथा धर्मस्वभाव का यथार्थविबोध हो जाता है। जो अनित्य है, वह दुःख है, जो दुःख है वह आत्मा नहीं हो सकता है। जब आत्म्य नहीं हैं, तो वह 'स्व' रूप से न तो ग्राह्य है, न उसका आधार ही बन सकता है। ऐसे अवबोध से आधारभूत 'स्व' की भित्ति प्रकम्पित हो जाती है। अब इस मनोदशा के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि अवबोध के धरातल पर दुर्बल रूप में 'स्व' परिज्ञात होता है, पर भावना के धरातल पर परीक्षित नहीं रहता है।

(६) **ब्रह्मविहारी**—आर्यविहार को ब्रह्मविहार कहते हैं। उससे युक्त पुरुष ब्रह्मविहारी है। वह क्या है? मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा चार उदात्त मूल्य हैं। उनसे सम्पृक्त चित्त द्वारा समस्त दिशाओं को व्याप्त कर विहार करना ब्रह्मविहार या श्रेष्ठ विहार है। यह विहार असीम है। विश्व की जिस किसी दिशा में स्थित स्थूल, सूक्ष्म या अणुरूप जो कोई प्राणी हों, वे सुखी होवें—यह मैत्री-सम्पृक्त चित्त-विहार है। समस्त दुःखी प्राणी दुःखविरहित होवें, यह करुणा-सहगत चित्त का स्फुरण है। उत्तरोत्तर विकासोन्मुख सुखसम्पन्न प्राणियों के प्रति आनन्द प्रतिलाभ ही मुदिता-सम्प्रयुक्त चित्त का विस्फार है। अबोध जनों की अबोधता के प्रति उपेक्षा-युक्त हो, उनके सम्यक् अवबोध की उदात्त कामना पूर्वक दिशास्फरण उपेक्षासम्प्रयुक्त चित्तविहार है। यहाँ चित्त में ऋजुता, मुदृता, कर्मण्यता, प्रागुण्यता आदि भाव सहज रूप से जाग उठते हैं। अकुशल वृत्तियों के गतिरोध के लिए विरतियाँ भी जाग्रत हो जाती हैं। पर इन समस्त कार्यों का क्षेम मनोधरा रहता है।

(७) **समयविमुक्त**—यह इस प्रकार के पुरुष का अधिवचन है जो समथ तथा विपश्यना का लाभ तो कर लिया रहता है, पर 'स्व' के आबन्धन रूप समस्त संयोजनों को विनष्ट नहीं किये रहता है। इसमें 'स्व' संधारण का दुर्बल आधार अंशतः विद्यमान रहता है। इसलिए इसे समयविमुक्त कहा जाता है। इसके अन्तर्गत चार मार्गस्थ तथा तीन फलस्थ पुद्गल आ सकते हैं। यहाँ पाँच **ओरंभागीय** संयोजन तो प्रहीण रहते हैं, पर **उद्धंभागीय** विद्यमान रहते हैं।

(८) **असमयविमुक्त**—समथविपश्यनालाभी समस्त संयोजनों से मुक्त पुरुष को असमयविमुक्त या पूर्णतः विमुक्त कहा जाता है। यहाँ पहुँच चित्तसन्तति में व्याप्त 'स्व'

का समस्त संस्कार प्रहीण रहता है। चित्त सर्वमलविरहित अत्यन्त परिशुद्ध रूप में अभिव्यक्त है। चित्त की यह दशा ही निर्वाण है तथा इससे उपेत पुरुष अर्हत् है। वह 'स्व' को बांधने वाले अराओं के विनष्ट होने या 'स्व' की परिधि से पार चले जाने के कारण अर्हत् कहलाता है। यह स्थिति 'स्व' का 'पर' में विलय की है। पर यह दर्शनीय है कि यह विलय 'स्व' की सरणी में है, कारण यह कि पुरुष स्व विमुक्ति से सन्तुष्ट हो विमुक्ति सुख की अनुभूति करता है।

(९) **बोधिसत्त्व**—विमुक्ति भी अपने लिए ही न हो, वरन् सबके लिए हो, इसका कार्यान्वयन व्यवहार की धरातल पर जिसके द्वारा होता है, वह बोधिसत्त्व है। 'मुझ एक के तीर्ण होने से क्या लाभ, जब कि समस्त प्रजा अतीर्ण है'—यह उद्घोष उसके द्वारा व्यवहार के धरातल पर उतारा जाता है और वह स्वमुक्ति का परमुक्ति के लिए परित्याग करता है। इतना ही नहीं, वरन् मनोधरा पर परिज्ञात मूल्यों को वह पारमिता के रूप में अपने कार्यकलापों में उतारता है। इसे वह 'पारमी', उपपारमी' तथा 'परमत्थपारमी' के रूप में काय-वची तथा मनोकर्म के धरातल पर मूर्त्त करता है। ये सभी कार्य परार्थ होते हैं। 'स्व' पूर्णतः विलीन रहता है। यहाँ मूल्यों का अपनी चर्याओं से कार्यान्वयन है, पर-प्रेरणा भी है, परन्तु सर्वत्र आक्षेपन नहीं है।

(१०) **प्रत्येकबुद्ध**—यह एक मुक्त प्राणी है। यह प्रत्येक बोधि के अधिगम से उपेत है। इसे सत्य का साक्षात्कार हुआ रहता है पर सर्वज्ञता एवं बलवशिता अप्राप्त रहती हैं। इसके मनोकर्म तथा कायकर्म बुद्धचर्या से युक्त हैं तथा उस सीमा तक परार्थ होते हैं, पर वह वाचाविन्यास पूर्वक परार्थकार्य से वंचित रहता है। अतः पूर्णतः परसमर्पित नहीं होता है।

(११) **सम्यक्सम्बुद्ध**—यह पूर्णतः मुक्त पुरुष है। यह सम्यक्सम्बोधि प्राप्त, सत्य का साक्षात्कृत, सर्वज्ञता उपेत, वलवशितायुक्त, स्वपरिधि से दूर, शुद्ध-बुद्ध पुरुष है। यह स्वयंतीर्ण तथा समस्त प्राणियों के तारण शक्ति से युक्त रहता है। वह पूर्णतः परसमर्पित होता है, फलतः उसके सभी कार्य परार्थ होते हैं। यह अम्ब्रर सदृश सर्वव्याप्त, शीतलजलभारभारित पर्जन्य सदृश सर्वहितानुकम्पी तथा सर्वदा बहुजनहिताय बहुजनसुखाय रत रहता है। ऐसे पुरुष का इन उदात्त मूल्यों से उपेतभाव ही समष्टि है।

व्यष्टि और समष्टि : बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय

मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि व्यष्टि और समष्टि के स्वरूप में तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के बारे में जो विचार यहाँ प्रस्तुत किया जायेगा, उसकी पृष्ठ-भूमि शुद्ध दर्शन की है। शुद्ध दर्शन से मेरा अभिप्राय ज्ञान-मीमांसीय एवं अस्तित्व-मीमांसीय विचारों से है। यों तो इतिहास, संगठन, धर्म-प्रचार, उपासना आदि दर्शन के अन्य आवश्यक अंग भी हैं, परन्तु इन अंगों पर भी विचार करने से शुद्ध दार्शनिक पक्ष से ध्यान हट जायेगा और एक सब से महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ का आवश्यक विशदीकरण अधूरा रह जायेगा। यही कारण है कि शुद्ध दर्शन-परक ग्रन्थों में इतिहास, संगठन, प्रचार आदि को नगण्य स्थान दिया गया है।

व्यष्टि और **समष्टि** का जो प्रत्यय हमारे मानस में बना है वह उसी रूप में बौद्ध दार्शनिकों के मानस में नहीं था। यदि रहा होता तो उस प्रत्यय के प्रयोग से उत्पन्न प्रश्नों की चर्चा उन दार्शनिकों ने अवश्य की होती। यदि आज हम व्यष्टि-समष्टि की बात उठाते हैं और उससे उत्पन्न प्रश्नों का समाधान बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में ढूँढते हैं तो दो प्रकार की प्रतिक्रिया हो सकती है। कुछ लोग, जो परम्परा और शास्त्र के अक्षरार्थ से बाहर नहीं जाना चाहते, इस प्रश्न को उपहासास्पद बताते हुए कहेंगे कि जो प्रश्न आज उठ रहा है उसका समाधान सदियों पुराने दर्शन में कैसे मिल सकता है ? यह प्रयास, इन लोगों की दृष्टि में, वेदों में बिजली, आणविक अस्त्र आदि के ज्ञान को ढूँढने के समान है अथवा दल-बदल, मतदान, चुनाव के द्वारा सरकार का गठन आदि समस्याओं पर त्रिपिटिक का मत ढूँढने के समान है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले लोग, यह मानकर चलते हैं कि बौद्धदर्शन या कोई अन्य प्राचीन दर्शन एक बन्द घर के समान है, जिसमें रखी वस्तुएँ न तो बाहर आ सकती हैं और न बाहर की वस्तुएँ भीतर जा सकती हैं। अध्येता का एकमात्र कर्तव्य है उन भीतर रखी वस्तुओं की विस्तृत सूची का निर्माण करना। इसके विपरीत कुछ दूसरे प्रकार के लोग दर्शनमात्र को एक खुली पुस्तक की तरह मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान कभी पुराना नहीं होता, उसका प्रयोग पुराना हो सकता है, पर पुराने ज्ञान का नूतन प्रयोग ज्ञान की सबसे बड़ी क्षमता है। यदि आज के सन्दर्भ में कुछ नये प्रत्यय आये हैं, और नये प्रश्न उठे हैं तो प्राचीन ज्ञान को नये सन्दर्भ में

प्रयोग करके देखा जा सकता है कि वह प्राचीन ज्ञान कितना सक्षम और प्रासङ्गिक है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले व्यक्ति को शास्त्र के अक्षरार्थ के स्थान पर भावार्थ पर बल देना होगा। इस प्रकार का उद्यम करने वाले व्यक्ति को न केवल विशद दृष्टि से सम्पन्न होना आवश्यक है बल्कि परम्परा तथा आधुनिक समस्या की गहरी पकड़ का होना भी उसके लिए अनिवार्य योग्यता है। ऐसे व्यक्ति को कुछ लोग प्रतिक्रियावादी, दुरूहतावादी, इतिहास-विलोपक कहते हैं, क्योंकि इस व्यक्ति के प्रयत्नों को प्राचीनता की ओर ले जाने के रूप में देखा जाता है। यहाँ मेरा प्रयत्न इसी दूसरी श्रेणी का है—लोग मुझे **प्रतिक्रियावादी** या **साम्प्रदायिक** (बौद्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से वर्तमान को देखने के कारण) कहेंगे, इसका मुझे भय नहीं है। हाँ यह भय अवश्य है कि प्राचीन मत का जो नवीन सन्दर्भ में प्रयोग करने जा रहा हूँ, वह कहीं गलत न हो जाये।

व्यष्टि और समष्टि को लेकर जो प्रश्न आज उठाये जा रहे हैं, उनमें से दो प्रश्नों का विशेष दार्शनिक महत्व है। पहला प्रश्न व्यष्टि और समष्टि के निजी स्वरूप के बारे में है और दूसरा प्रश्न उनमें परस्पर सम्बन्ध के बारे में। ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। क्योंकि एक के उत्तर से दूसरे का बहुत हद तक समाधान हो जाता है। यदि **व्यष्टि** अपने आप में आधारभूत **इकाई** है तो **समष्टि** को इन इकाइयों का **समूह** मानना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि समष्टि अपने आप में आधारभूत तत्त्व है तो व्यष्टि को उस समष्टि का प्रतिनिधि कहना पड़ेगा। व्यष्टि या समष्टि को आधारभूत तत्त्व मानने के पीछे कई बातें हो सकती हैं। **समष्टिगत एक चरम तत्त्व** की स्वीकृति जैसा अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है, समष्टि में दृश्यमान व्यष्टि के नानात्व की अस्वीकृति का कारण बनती है। व्यष्टि का व्यष्टित्व आभासमान और मिथ्या हो जाता है। इसी तरह व्यष्टि को अपने व्यष्टित्व में पूर्ण तत्त्व मानने पर समष्टि का समष्टित्व खण्डित हो जाता है और समष्टिगत प्रतीयमान एकत्व प्रतिभासित हो जाता है। एक तीसरा प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों को समान रूप से आधारभूत मानकर उनमें सम्बन्ध सिद्ध करने का है। समष्टि या व्यष्टि का क्या स्वरूप है इस प्रश्न का निर्धारण बहुधा उनके यथार्थरूप का वस्तुपरक विश्लेषण करके नहीं किया जाता, बल्कि पहले से अभ्युपगत दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में ही उनके रूप का निर्धारण होता है। सभी अद्वैतवादी, जिनमें **मार्क्स** के अनुयायी भी आते हैं, नाना रूपों में भिन्नाकार दिखाई देने वाली व्यष्टियों को स्वतन्त्र मानने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि ऐसा करना अभ्युपगत अद्वैत दृष्टि का व्याघात होगा। इसलिए मूल्यों का निर्धारण करते हुए कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन अन्ततोगत्वा सभी

अद्वैतवादी दर्शन में विधिमुखेन व्यष्टिगत ऐक्य को साकार करने में तथा निषेधमुखेन व्यष्टि के ऐक्य-विरोधी मूल्यों, कर्तव्यों आदि का तिरस्कार करने में पर्यवसित होता है। आज हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर विवाद करते हैं। इस विवाद के पीछे छिपा दार्शनिक प्रश्न व्यष्टि और समष्टि के बारे में अभ्युपगत दृष्टि से जुड़ा हुआ है। जनतन्त्र में किस हद तक व्यष्टि को समष्टि पर हावी होने दिया जाये या किस हद तक व्यष्टि को समष्टि की परिधि से बाहर घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता दी जाये, इन प्रश्नों का समाधान निष्पक्ष रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर समाधान के नीचे कोई दृष्टि छिपी बैठी है। व्यक्ति-पूजा, देश के एकमात्र नेता होने की स्वीकृति, आदि बातें व्यष्टि को समष्टि पर आधिपत्य जमाने का अधिकार देती हैं और लोकतन्त्र के स्थान पर व्यक्तितन्त्र की स्थापना की ओर ले जाती हैं। अधिनायक का, चाहे वह हिटलर जैसे व्यष्टि के रूप में हो या जनवादी समाज या व्यष्टि-समूह के रूप में हो, जन्म व्यष्टि या व्यष्टि-समूह का समष्टि पर आधिपत्य जमाने के प्रयत्नों में होता है। जहाँ समष्टि को अद्वैत तत्त्व से परिपूरित देखने की दृष्टि होती है वहाँ अधिनायक का जन्म आसानी से हो जाता है। क्योंकि अधिनायक अपने आपको उस ऐक्य का रक्षक या ऐक्य का मूर्तिमान् स्वरूप सरलता से सिद्ध कर सकता है। इसके विपरीत व्यष्टि यदि आसानी से समष्टि की परिधि के बाहर जा सकता है तो भय है कि कहीं समष्टि का लोप न हो जाए, क्योंकि व्यष्टि के स्वातन्त्र्य के नाम पर हर सम्भव उच्छृङ्खलता और अराजकता सही करार दी जा सकती हैं। दलों का आए दिन परित्याग, दूसरे दलों के साथ गठबन्धन, सही-गलत हड़तालों के साथ तोड़-फोड़ तथाकथित नियमानुसार काम (मानो सामान्य दिनों में नियम के विरुद्ध काम किया जाता है) आदि व्यष्टि के समष्टि की सीमा से बाहर हो जाने के परिणाम हैं। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में व्यष्टि या समष्टि के स्वरूप के कारण विकृतियाँ नहीं उत्पन्न होतीं, बल्कि उनके स्वरूप के पीछे अभ्युपगत दृष्टियों के कारण ही बुरे परिणाम मिलते हैं। अतः व्यष्टि और समष्टि के बारे में वर्तमान में उठाये गये प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध दृष्टि से है।

समस्याओं के समाधान में दृष्टि तथा दृष्टिप्रहाण का स्वरूप

दृष्टि क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है, क्योंकि दृष्टि को परिभासित करने के पीछे भी एक अन्य दृष्टि छिपी हो सकती है। इसलिए दृष्टि की परिभाषा देने के प्रयत्न के स्थान पर यदि दृष्टि के कार्य का विवरण दिया जाए तो वह अधिक उपयुक्त होगा। अपने अनुभवों की व्याख्या करने या उनमें तारतम्य,

स्वारस्य, अर्थवत्ता, प्रासङ्गिकता आदि का आधान करने के उद्देश्य से हम किसी बात को अपना आधार-केन्द्र मान लेते हैं। इसी केन्द्र की एक परिधि में समग्र अनुभवों को समेट कर देखना हमारा स्वभाव बन जाता है। समाजवाद, लोकतन्त्र, साम्यवाद, पूँजीवाद आदि के साथ-साथ आत्मवाद, अनात्मवाद, अद्वैतवाद, बहुत्ववाद आदि अनेक ऐसे केन्द्र हैं, जिनकी परिधि में हम अनुभवों को लाकर रखने का प्रयत्न करते हैं। ये केन्द्र क्यों चुने जाते हैं ? क्यों किसी को केन्द्र मान लिया जाता है ? इसका सीधा और सही उत्तर सिर्फ इतना है कि ये हमें अच्छे लगते हैं। और चूँकि ये पसन्द आते हैं इसलिए इनके पक्ष में हम अनेक युक्तियाँ, तर्क जुटा लेते हैं। इस तरह दृष्टि का चयन पहले हो जाता है और इस दृष्टि के समर्थन के कारण बाद में उद्भावित कर लिए जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो सारी युक्तियों और तर्कों के निष्कर्ष एक ही बिन्दु पर न मिल पायेंगे, हर युक्ति या तर्क अलग-अलग दिशा की ओर ले जायेगी। इस तरह **दृष्टि** वह संयोजक तत्त्व है जिसके बल से अनुभवों, विचारों और व्यवहार को इदन्ता प्राप्त होती है, उनकी एक निश्चित पहचान प्राप्त होती है।

दृष्टि-भेद के कारण एक ही प्रकार के अनुभव के अलग-अलग अर्थ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए गरीबी को लें। गरीबी का अनुभव जिस प्रकार एक देशकाल में होता है वैसा ही अनुभव अन्यत्र भी होता है। परन्तु कभी उस अनुभव को पूर्व-जन्मार्जित कर्मफल के रूप में, कभी पूँजीपतियों की शोषण-वृत्ति के परिणाम के रूप में और कभी उत्पादक के प्रयत्नों के सहयोग की कमी के परिणाम के रूप में देखा जाता है। एक ही अनुभव की भिन्न व्याख्याएँ और भिन्न-भिन्न कारणों से उसे जोड़कर उसे अर्थ देना दृष्टि-भेद के कारण ही सम्भव हो सकता है, अन्य कोई भेदक-तत्त्व नहीं दिखाई देता। यदि यह सम्भव हो कि किसी अनुभव को सिर्फ अनुभवबलेन व्याख्यात किया जाए, उनपर किसी अर्थ को आरोपित न किया जाए, तो कदाचित् दृष्टि-भेद-जनित मतभेद दूर हो सकें। इसी तरह आरोपित अर्थ का आरोप के अधिकरण से पार्थक्य दिखाते हुए अर्थ की आरोपितता बतला दी जाए तो भी मतभेद को आधारहीन सिद्ध किया जा सकता है। इसी बात का एक परिणाम यह भी निकल सकता है कि सभी दृष्टियाँ निस्सार हैं, अतः दृष्टिगत भेद के आधार पर जो लड़ाई लड़ी जाती है, वह वास्तव में छाया-युद्ध है जिसको हम वास्तविक समझ लेते हैं।

क्या **सर्व-दृष्टि-प्रहाण** सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए दो सम्भावनाएँ सामने आती हैं। एक सम्भावना तो यह है कि अलग-अलग तत्तत् दृष्टि के दृष्टित्व को किसी एक अबाधित तत्त्व का प्रतिबिम्ब मान लिया जाए, दूसरी सम्भावना यह है कि तत्तत् दृष्टि को दूसरी दृष्टि से बाधित दिखाकर दृष्टि सामान्य को

ही अस्वीकृत कर दिया जाए। पहले पक्ष में तत्तद् दृष्टि से परे एक प्रत्यक् तत्त्व की स्वीकृति आवश्यक होगी। बिना इसको माने तत्तत् दृष्टि के दृष्टित्व का प्रहाण सम्भव नहीं होगा। यदि इस सम्यक् तत्त्व को किसी श्रुति आदि प्रमाण के आधार पर स्वीकार किया जाएगा तो उस तत्त्व की स्वीकृति स्वयं दृष्टिमूलक हो जायेगी। प्रमाणों का सारा विस्तार वास्तव में दृष्टियों का ही विस्तार या प्रपञ्च है। जब तक इस तत्त्व को प्रमाणों से परे, प्रमाण-अप्रमाण से अनिर्वचनीय नहीं माना जाता, तब तक यह दृष्टि की परिधि से बाहर होकर दृष्टि का प्रहाण नहीं कर सकता; उस अवस्था में यह महादृष्टि बनकर रह जायेगा। अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया में, जिसका यह मन्तव्य है, इसीलिए ब्रह्म को अनुभवैकगम्य शुद्ध चैतन्य रूप माना गया। इस चैतन्य में विषय-विषयी के भेद को अस्वीकृत करके वेदान्त ने ब्रह्म को वस्तुतः प्रमाणातीत माना और शास्त्रों को 'अविद्यावद्विषयाणि' कहा। **ब्रह्म** की श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्धि का मुख्य प्रयोजन ब्रह्म में प्रमाणाभाव का निराकरण है जिसके कारण ब्रह्म का अभाव असिद्ध करके तटस्थ रूप में ब्रह्म का निर्देश सम्भव होता है। परन्तु प्रमाणाभाव का अभाव स्वयं में ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकता, इसीलिए ब्रह्म की प्रत्यग्-रूपता का सहारा लेना आवश्यक है। साक्षात् अपरोक्षानुभूति चूँकि विषय-विषयी अभाव के भेद को सर्वथा अतिक्रान्त करती है, इसलिए वह दृष्टिमात्र की सम्भावना से भी परे हैं। ब्रह्म की इस प्रत्यग्-रूपता का यदि विवरण देना हो तो दृष्टि का सहारा लेना आवश्यक होगा, क्योंकि यह विवरण भेद को अवश्यमेव अङ्गीकार करके ही सम्भव है। इसलिए प्रत्यक्‌रूपता का व्याख्यान, अबाधितत्व के रूप में प्रस्तुत करके ब्रह्म के प्रमाणाभाव के अभाव को ही बतलाया गया है। इस तरह ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति सकल दृष्टि, अविद्या के प्रहाण की सम्भावना प्रस्तुत करती है। अब इस अबाधितत्व को मूल मानकर बाकी तत्तत् दृष्टियों का व्याख्यान सम्भव हो जाता है।

ऊपर उल्लिखित दूसरी सम्भावना का उपस्थापन माध्यमिक बौद्धों ने किया है। जैसा कि सर्वविदित है उनके अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने सद्धर्म का उपदेश ही सर्वदृष्टि-प्रहाण के उद्देश्य से किया था। माध्यमिक प्रक्रिया में तत्तत् दृष्टियों और उन दृष्टियों द्वारा व्याख्यात अनुभवों में न केवल असामञ्जस्य दिखाया गया है बल्कि चतुष्कोटि, जो दृष्टि की चार सीमाएँ हैं, की हर कोटि में व्याघात (स्व वचन का स्व वचन से और स्व का पर वचन से) सिद्ध किया गया है। कारणता, गति, धर्म, संस्कार, निर्वाण, आत्मा, सम्बन्ध आदि सब उपलब्ध दृष्टियों का इस प्रकार खोखला-पन दिखाकर यह प्रतिपादित किया गया कि जब तत्तत् दृष्टि का अनुभव से कोई लगाव नहीं है तो दृष्टि-मात्र का लगाव भी नहीं होगा। यह भी बतलाया गया कि

अनुभव में विषय-विषयी, गुण-गुणी आदि का भेद वस्तुतः दृष्टिकृत भेद है, अनुभवगत नहीं। दृष्टि का इस प्रकार अनुभव से पार्थक्य दिखाकर अनुभव को दृष्टि के प्रपञ्च से अप्रपञ्चित और दृष्टि को स्वभाव से शून्य बतलाया गया। जब दृष्टि का कोई स्वभाव नहीं है तो उसके द्वारा यथार्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए निराधार दृष्टि दूसरी दृष्टि से निराकृत हो जाती है। अनुभव में भी दृष्टि की तरह ही अनुभूयमान वस्तु से पार्थक्य सम्भव है इसलिए तत्तत् दृष्टि की तरह तत्तत् अनुभव में भी शून्यता ही है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक् अपरोक्षानुभूति भी दृष्टि-पतित अनुभूति ही मानी जाएगी, क्योंकि विषय-विषयी के भेद की दृष्टि के बिना अनुभव भी सम्भव नहीं है। अतः दृष्टि और दृष्टि के द्वारा व्याख्यात अनुभव दोनों को तिरस्कृत कर देने के कारण माध्यमिकों के पास सर्व-प्रहाण के सिवा कोई रास्ता नहीं रह जाता। यह सर्व-प्रहाण या शून्यता स्वयं दृष्टि नहीं है, क्योंकि भाव का निषेध भावान्तर नहीं होता। भाव के निषेध को भावान्तर मानना भी एक दृष्टि ही है। जो लोग शून्यता को महादृष्टि मानने लगते हैं, वे असाध्य है, दृष्टिकृत दोषों से उनको मुक्त नहीं किया जा सकता।

हमने देखा कि दृष्टि-प्रहाण के लिए अद्वैत वेदान्त का अभिमत सकल दृष्टियों को अतिक्रान्त करने वाले अपरोक्ष अनुभव के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना है। इस तादात्म्य के बाद यदि इन दृष्टियों पर पुनः दृष्टिपात किया जाए तो हर दृष्टि उस अनुभव की एक झलक उपस्थित करती-सी प्रतीत होने लगती है। यह प्रतीति अपरोक्षानुभूति से पूर्व उदित नहीं होती। इसीलिए वेदान्ती सकल चराचर में उस ब्रह्म का नित्य स्फुरण देखता हुआ व्यवहार करता है, यही व्यवहार जीवन्मुक्ति का आचरण बनता है। माध्यमिकों के मत में सकल दृष्टि में शून्यता है और शून्यता की शून्यता में भी शून्यता ही हाथ लगती है। इसलिए सर्वदृष्टि-प्रहाण के बाद शून्यता का ही आभास होता है और इस आभास को निरन्तर अभ्यस्त करता हुआ बोधिसत्त्व पर के दुःख से कातर होकर दूसरों को भी शून्यता के मार्ग पर प्रतिष्ठित करने की देशना देता है।

व्यष्टि तथा समष्टि का विवेचन

व्यष्टि अपने आप में क्या है? इस प्रश्न का उत्तर व्यष्टि के प्रत्यय को ध्यान में रखकर दिया जा सकता है। माध्यमिक इस बात पर जोर देगा कि समष्टि के सन्दर्भ के बिना व्यष्टि की बात ही नहीं की जा सकती। समष्टि के प्रत्यय को विश्लेषित करके व्यष्टि का प्रत्यय निकाला जा सकता है। यदि व्यष्टि वस्तुतः निरपेक्ष सत् हो

तो 'यह व्यष्टि है' इस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति में व्यष्टि की इदन्ता का भान नहीं होगा, क्योंकि इदं कहने का अर्थ है इदं को तत् से पृथक् करना। जहाँ तक भाषा के प्रयोग का क्षेत्र है वहाँ तक निरपवाद रूप से इतर से पार्थक्य या इतर-सापेक्षता आवश्यक है। यही इतर-सापेक्षता भाषा की प्रपञ्चात्मकता है, जैसा चन्द्रकीर्ति ने कहा है— **'प्रपञ्चो हि वाक् प्रपञ्चयत्यर्थानिति कृत्वा'**। व्यष्टि की तरह **समष्टि** का भी प्रत्यय व्यष्टि सापेक्ष है क्योंकि बिना व्यष्टि के समष्टि सम्भव नहीं है। यदि समष्टि व्यष्टियों से पृथक् कोई पदार्थ हो तो प्रत्यक्षादि में व्यष्टियों से अलग किसी समष्टि का भी ज्ञान होना चाहिए। जब हम समष्टि का प्रत्यक्ष करने की बात करते हैं तब हम ऐसा नहीं सोचते हैं कि ये व्यष्टियाँ हैं, और यह समष्टि है। समष्टि का प्रत्यक्ष वस्तुतः अलग-अलग व्यष्टियों के प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं है और समष्टि के साथ हमारा व्यवहार वस्तुतः व्यष्टियों के साथ किए गए व्यवहार में पर्यवसित होता है। इस प्रकार समष्टि और व्यष्टि अन्योन्य सापेक्ष होने के कारण स्वयं स्वभावशून्य हैं। इसलिए समष्टि-व्यष्टि का सारा प्रश्न उस दृष्टि से जुड़ा हुआ है जिस दृष्टि से प्रेरित होकर प्रपञ्चरूप भाषा में हम इनकी चर्चा करते हैं। समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद या अन्य किसी भाषा के बाहर व्यष्टि-समष्टि के प्रश्न को उठाया ही नहीं जा सकता। यह प्रश्न भाषीय प्रश्न है और जिस भाषा में इसे उठाया जाता है उसी भाषा की परिधि में इनका समाधान भी मिल सकता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि एक प्रकार की भाषा में उठाए गए प्रश्न आवश्यक नहीं कि दूसरी भाषा में भी उठाए जाएँ। और इस प्रकार उदाहरण के लिए, साम्यवादी भाषा में प्राप्त समाधान समाजवादी भाषा पर थोपे जाएँ तो पहले वे उसमें मान्य न होंगे और दूसरे बलात् मान्य कराने के सारे प्रयत्नों में, माध्यमिकों के अनुसार, **भाषीय अधिनायकवाद** का जन्म होगा।

लोग कह सकते हैं कि व्यष्टि और समष्टि के सारे प्रश्न हमारे आज के जीवन से जुड़े प्रश्न हैं। ये जीवन को प्रभावित करते हैं इसलिए इनको भाषीय प्रश्न करार देना प्रश्न को टालना है और वास्तविकता को झुठलाना है। माध्यमिक का शायद यही उत्तर होगा कि हमारा जीवन दृष्टियों से परे नहीं है और हर दृष्टि की अलग भाषा होती है। दुःख, कष्ट आदि जो जीवन के अनुभव हैं उनका भी सम्बन्ध दृष्टियों से है। जिन समस्याओं को हम जीवन की वास्तविक समस्याएँ कहते हैं, वे भी इसीलिए वास्तविक प्रतीत होती हैं क्योंकि उनका लगाव जीवन के प्रति अपनाई गई दृष्टि से होता है। इन समस्याओं को सुलझाने का सीधा मार्ग तो **सर्व-दृष्टि-प्रहाण** है पर वह, बहुत कठिन मार्ग है, क्योंकि उस मार्ग पर प्रतिष्ठित होने के लिए सबको **बोधिसत्त्व** बनना होगा। संसार और निर्वाण के अन्तर को दूर करना होगा।

सांसारिक व्यक्ति के लिए, उस व्यक्ति के लिए जो व्यष्टि और समष्टि की बातें उठाकर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्ति का उपभोग करना चाहता है, बोधिसत्त्व मार्ग पर चलना असम्भव है, बल्कि यह बोधिसत्त्व के उपदेशों को भी सुनने के लिए तैयार नहीं होगा। तो फिर क्या हम बुद्ध के शासन को उसके भाग्य पर छोड़ दें, और यह कहकर सन्तोष कर लें कि **'ज्ञातारो भविष्यन्ति ?'** शायद निवृत्ति-प्रधान श्रमण परम्परा इस तरह कष्ट सहने और लोगों को सद्धर्म का उपदेश देने के सिवा और कर भी क्या सकती है ? परन्तु दृष्टियों के प्रहाण से जो एक शून्यता की भावना उत्पन्न होगी, उसको भरने के लिए माध्यमिक दर्शन के पास अज्ञानियों के ऊपर करुणा करने के सिवा और देने को क्या है ? प्रहीण दृष्टि व्यक्ति जब जानता है कि सारा झगड़ा दृष्टियों के कारण है, और लोगों से कहता है कि तुम सब मिथ्या दृष्टि से व्यथित हो, तब वह लोगों के उपहास का पात्र बन कर रह जाएगा। थोड़ी देर के लिए मान लें कि दृष्टि में आसक्त व्यक्तियों को कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिए वह उनके बीच जाता है, उनकी सेवा करने का महान् उद्यम करता है, इस उद्यम में वह अपने जीवन का उत्सर्ग कर देता है। पर क्या उसके इस उत्सर्ग का किञ्चित् भी अभीष्ट परिणाम निकलने की आज के युग में आशा की जा सकती है ? **महात्मा गांधी** की सेवाभावना और उनका आत्मदान क्या गांधी के किसी आदर्श को सिद्ध करने में सफल हुआ है ? मैं समझता हूँ कि गांधी के सारे उपदेश और आदर्श का आज केवल एक ही उपयोग रह गया है। गांधी का नाम लेकर वे सारे कार्य कर डालो जो गांधी की विचारधारा से एकदम भिन्न हैं।

यह विचारणीय है कि आज का व्यक्ति समाजवाद, साम्यवाद आदि के नारों से क्या पा लेता है जो उसे **बौद्ध दर्शन, गांधीवाद** या **वेदान्त** में नहीं मिलता। मैं समझता हूँ कि समाजवाद, साम्यवाद आदि दृष्टियों में समष्टि और व्यष्टि में आदान-प्रदान का बड़ा गहरा सम्बन्ध माना गया है। व्यष्टि यदि समष्टि के लिए कुछ करता है तो व्यष्टि को समष्टि से बदले में कुछ पाने का अधिकार मिल जाता है। उसी तरह समष्टि के कारण यदि व्यष्टि का कुछ लाभ होता है तो समष्टि उस व्यष्टि पर अपना अधिकार समझती है। अधिकार और कर्तव्य की यह भावना एक ओर सुख, सुविधा की कामना से और दूसरी ओर अवहेलना जनित दण्ड के भय से नियन्त्रित होती है। यदि व्यष्टि को अपेक्षित लाभ नहीं मिलता तो वह तब तक समष्टि की अवहेलना नहीं कर सकता, जब तक समष्टि के पास व्यष्टि को नियन्त्रित या दण्डित करने का साहस और सामर्थ्य है। यदि समष्टि का सामर्थ्य क्षीण हो गया तो व्यष्टि की उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता बढ़ जाती है। इस प्रकार के किसी आदान

प्रदान का सम्बन्ध माध्यमिक या अन्य किसी बौद्ध दर्शन के प्रस्थान में नहीं प्राप्त हो सकता। बोधिसत्त्व निस्पृह है, अतः उसकी करुणा अहेतुकी होती है। समष्टि से उसको कुछ नहीं पाना है। इतना ही नहीं, बोधिसत्त्व की दृष्टि में निरात्मवादी होने के कारण कोई दुःखित व्यष्टि है ही नहीं। उसकी करुणा व्यष्टि के लिए नहीं बल्कि दुःख के प्रति होती है। उसके सम्भार और उद्योग का आलम्बन दुःख है, दुःखित व्यष्टि नहीं। ऐसी अवस्था में न तो वह किसी को कुछ देता है और न स्वयं किसी से कुछ पाता है। आदान-प्रदान पर आधारित अधिकार और कर्तव्य की जो बात आधुनिक मतों और वादों की रीढ़ है, वह माध्यमिक बौद्धदर्शन में बिलकुल नहीं है। गांधीवाद की भी यही कमजोरी है क्योंकि वहाँ भो व्यष्टि का कर्तव्य सर्वोपरि है, उसका अधिकार अपने आदर्श रूप में तुच्छ है।

जो प्रश्न बौद्ध दर्शन में उठाए गए और उनका जो समाधान वहाँ दिया गया। वे सब आज के युग में तब तक निरर्थक हैं जब तक उनसे वर्तमान समस्याओं को युगापेक्षित ढंग से सुलझाने में सहायता नहीं मिलती। युग आदान-प्रदान और अधिकार-कर्तव्य की अपेक्षा करता है। माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय में आदान-प्रदान के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु बौद्धिक सन्तोष की दृष्टि से हम एक प्रयोग कर सकते हैं। हम यदि अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक दर्शनों के **सर्वदृष्टि-प्रहाणता** के सिद्धान्त का समन्वय कर पाएँ तो शायद आधुनिक समस्याओं पर नई दृष्टि से विचार हो सकता है। **वेदान्त** और **माध्यमिक** किस प्रकार दृष्टि प्रहाण तक पहुँचते हैं इसका वर्णन ऊपर किया गया। हमने देखा कि माध्यमिक निषेधमुखेन **सर्वशून्यता** का प्रतिपादन करके चुप हो जाता है, पर वेदान्ती के लिए **अपरोक्षानुभूति** में सकल निरोध का पर्यवसान होता है। यदि व्यष्टि वास्तव में सकलग्राही ब्रह्म-स्थानीय समष्टि से अभिन्न मान ली जाए तो व्यष्टि का व्यष्टित्व अज्ञानमूलक होगा। परन्तु व्यष्टि साथ ही जितना अधिक समष्टि के निकट आएगी, उसी अनुपात में उसके स्वतन्त्र व्यष्टित्व का अज्ञानमूलक बोध क्षीण होता जाएगा। दूसरे शब्दों में व्यष्टि समष्टि से अपना मोक्ष, जो चरम पुरुषार्थ है, माँगती है और इसे यह मोक्ष समष्टि में आत्मसात् होने पर मिल सकता है। व्यवहार अवस्था में भी समष्टि से विद्रोह करके नहीं, बल्कि समष्टि के निरन्तर सान्निध्य से ही व्यष्टि को उसका अधिकार मिल सकता है और सान्निध्य बनाए रखना उसका कर्तव्य हो जाता है। इस तरह व्यष्टि के अधिकार और कर्तव्य दोनों व्यष्टि के ही हाथ में हैं, वह जैसा कर्तव्य करेगा, तदनुरूप अधिकार उसे प्राप्त होगा। जो माँग समाज से करते हैं वह हर माँग वास्तव में वेदान्त की दृष्टि से,

हम अपने से ही करते हैं। जो हमने समाज को नहीं दिया, जिन वैशिष्ट्यों का हमने समाज में आधान ही नहीं किया, उनको हम समाज से कैसे पा सकते हैं? जब माध्यमिक हर दृष्टि को भाषीय प्रपञ्च कहता है तो उसका अभिप्राय यह है कि समाज से हम वही माँग सकते हैं जो हम समाज में देखते हैं। बौद्धों के अनुसार समष्टि का अपना कुछ नहीं है। वेदान्ती के अनुसार समष्टि में वह सब कुछ है जो व्यष्टि उसमें आधान करती है। पर वह इन आधान की गई बातों को अतिक्रान्त करके अवस्थित है। वेदान्त में एक आधार है जिसके चारों ओर समष्टि-व्यष्टि की बातें सँजो कर देखी जा सकती है और उस आधार को केन्द्रित करके व्यष्टि और समष्टि को भलीभाँति समझा जा सकता है। इसी कारण कम से कम व्यावहारिक स्तर पर आदान-प्रदान की न सिर्फ बात ही की जा सकती है बल्कि आदान-प्रदान भी हो सकता है। बौद्धदर्शन, विशेषतः माध्यमिक दर्शन के पास ऐसा कोई आधार नहीं है, उनकी करुणा भी निराधार है परन्तु एक बात जो उनके पास है और वेदान्त के पास नहीं है वह है दृष्टियों की भाषीयता। वेदान्त सभी दृष्टियों को अविद्या कह कर उनके खोखलेपन को उतनी स्पष्टता से नहीं दिखा पाता, जितनी स्पष्टता से प्रपञ्च को वाक् के साथ मिला कर माध्यमिक दिखलाता है। इस तरह अकेले बौद्ध दर्शन व्यष्टि-समष्टि को आधुनिक समस्या पर उतना विशद प्रकाश नहीं डाल सकता, जितना **माध्यमिक-अद्वैत वेदान्त** के सम्मिलित समन्वित दर्शन से पड़ सकता है।

● ● ●

व्यष्टि और समष्टि : बौद्ध दर्शन की दृष्टि में

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

आधुनिक समाजशास्त्रियों की दृष्टि में व्यष्टि-समष्टि की समस्या

अभी कुछ वर्षों पूर्व (सन् १९६६ में) प्रकाशित पुस्तक **'बुद्धिज्म : दि रिलिजन आफ एनालिसिस'** के लेखक **नोलन प्लिनि जैकक्सन** ने काफी विस्तार से यह दिखाया है कि व्यष्टि-समष्टि को लेकर आधुनिक समाजशास्त्रियों का जो विश्लेषण है उससे कहीं अधिक मूलग्राही और सोद्देश्य विश्लेषण बुद्ध-दर्शन का उक्त सन्दर्भ में रहा है। आधुनिक समाजशास्त्रियों के विश्लेषण की मुख्य बातें इस प्रकार हैं।

(अ) मानव-व्यक्ति की स्वतन्त्रता व शक्ति की धारणाएँ वस्तुतः कतिपय सामाजिक प्रभावों की ही अतिसूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ हैं। **एरिक फ्रोम** के शब्दों में 'आधुनिक मनुष्य स्वाधीन व्यक्ति नहीं, क्योंकि वह सामाजिक नियामकता से ही अधिकतर संचालित होता है। सामाजिक परिस्थितियाँ ही किन्हीं क्रिया-कलापों को मनुष्य के लिए अधिक पुरस्करणीय और इसलिए अधिक अनुकरणीय बनाती हैं।

(ब) अवश्य सभी व्यक्ति समान सामाजिक परिस्थितियों में संतुष्ट नहीं रहते, विशेषकर वे व्यक्ति जो परम्परा की अपेक्षा अन्तर्मन से चालित होते हैं और इसलिए समय-समय पर सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों से मनुष्य एक सामाजिक व्यवस्था से निकल कर किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था में फँस जाता है, ठीक उस मछली की तरह जिसे एक जलाशय से निकल जाने पर किसी अन्य जलाशय का शरण, जीवन-धारण के लिए आवश्यक है।

(स) अतः व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्धों को लेकर एक विचित्र-सी स्थिति पैदा होती है। सामान्यतः व्यक्ति सामाजिक परम्परा के उच्छेद का विरोधी होता है, यहाँ तक कि वे व्यक्ति भी जो किसी सामाजिक परम्परा का विरोध करते हैं उसके बदले अन्य सामाजिक व्यवस्था के पक्षधर होते हैं। समाज के प्रभाव से निर्मित व्यक्ति जैसा उसका पहरेदार है। किन्तु चूँकि प्रत्येक व्यक्ति यह भी जानता है कि वह और उसका समाज एक ही चीजें नहीं है, कहीं-न-कहीं उसके अन्तर्मन में सामाजिक नियमन-नियन्त्रण को लेकर दुश्चिन्ता भी बनी रहती है। वह जैसे सामाजिक प्रभावों से निकल अपने व्यक्ति-स्वरूप की अभिव्यक्ति चाहता है। इस जटिल मनःस्थिति को आधुनिक पाश्चात्य जगत् में भी स्थिति कहा गया है। आधुनिक समाजशास्त्री

अपनी गवेषणा के अन्तर्गत इसी मानव दुश्चिन्ता से हमारा परिचय कराते हैं, किन्तु इसका ठीक निदान या ठीक दवा उनके पास उपलब्ध नहीं है। इसी सन्दर्भ में **जैकक्सन** बौद्ध-दार्शनिक विश्लेषण को अधिक मूलग्राही और प्रगतिशील मानते हैं, क्योंकि बौद्ध-दर्शन की आरम्भिक धारणा ही यह है कि सामाजिक या सांस्कृतिक स्वायत्तता के अन्तर्गत मानव व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपलब्धि असम्भव है।

२. 'बुद्ध' का अर्थ

जैकक्सन के तुलनात्मक अध्ययन की कुछ प्राविधिक गलतियों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रथम यह कि, एक ही विषय-क्षेत्र (व्यष्टि-समष्टि) में होकर भी आधुनिक समाजशास्त्रियों और बौद्ध-दर्शन की विचार-पद्धतियाँ परस्पर बिल्कुल भिन्न हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन एक वैज्ञानिक अध्ययन होने से अन्तर्वैयक्तिक परीक्षण-निरीक्षण योग्य सामाजिक गतिशीलता और संरचना को ही मूल प्रदत्त विषय मान कर व्यक्ति को सदैव सामाजिकता के ही सन्दर्भ में नापता-तौलता और स्थिर करता है, और इसलिए वहाँ व्यक्ति का तद्-स्वरूप चिन्तन सम्भव नहीं। जैसा कि आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने बताया है—वैज्ञानिक दृष्टि से समझे और स्थिर किये गये मनुष्य का निर्वैयक्तिकरण कभी रुक नहीं सकता, फिर चाहे एक क्रान्तिकारी दार्शनिक **मार्क्स** या एक सूक्ष्म मनस्-विश्लेषक **फ्रायड** ही उसे रोकने का प्रयास क्यों न करें। दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन एक धर्म-दर्शन होने के कारण मूलतः एक **व्यक्ति-दृष्टि** प्रधान विचारधारा है। अन्य धर्म-दर्शनों की तरह इसमें भी एक मानक व्यक्ति **'बुद्ध'** की धारणा का धुरीय स्थान है जो प्रत्येक अन्य व्यक्ति के लिए उसके अपने लक्ष्य के रूप में एक शाश्वत प्रकाशबिन्दु की तरह स्थिर और अविचल है। इसीलिए यहाँ व्यक्ति को कभी एक सामाजिक ढाँचे के आधार से नहीं समझा जा सकेगा। अतः सर्वप्रथम हमें इन दो विचार पद्धतियों—**वैज्ञानिक** और **मानवतावादी** के चिन्तन सम्बन्धी उपर्युक्त मूल भेद को समझना चाहिए, जिससे कि हमें ध्यान रहे कि कहाँ समाजशास्त्रीय अध्ययन की सीमाएँ आरम्भ होती हैं, और कहाँ उनका अन्त हो जाता है और इसलिए कहाँ धर्म-दर्शन से उसकी कोई तुलना सम्भव नहीं है।

एक और बात जो जैकक्सन के अध्ययन-प्रणाली में हमें जोड़ लेनी चाहिए, वह है बौद्ध दर्शन के पूर्वगामी भारतीय दृष्टिकोण का वह अंश जो आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक समाजशास्त्रीय अध्ययन से एक महत्वपूर्ण समानता रखता है, किन्तु केवल एक सीमा तक। बौद्ध-दर्शन के पूर्ववर्ती वैदिक दर्शन में मनुष्य के लिए समष्टि को जीवन का एक अपरिहार्य पक्ष माना गया है, यद्यपि इस तरह नहीं कि व्यष्टि

उसमें डूबकर अपने स्वरूप-बोध की सारी सम्भावनाओं से ही हाथ धो बैठे और जब हम इस विचारधारा के उत्स में जाते हैं तो उसके मूल में हमें मिलता है—**सुखबोध**। यदि वैज्ञानिक दृष्टि को भी हम एक मानव दृष्टिकोण समझ कर उसके मूल में जाएँ तो हमें वहाँ भी यही सुखबोध केन्द्रस्थ मिलता है। बौद्ध-दार्शनिक दृष्टिकोण में इसके ठीक विपरीत केन्द्रस्थ स्थान **दुःखबोध** और दुःखनिरोध का है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक-वैज्ञानिक **'सुख'** और बौद्ध **'दुःख'** को परस्पर विरोधी प्रत्ययों के रूप में नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उपर्युक्त सन्दर्भ में **'सुख'** का एक अनिवार्य सन्दर्भ **'समाज'** का है, **'समष्टि'** का है, जब कि बौद्ध सन्दर्भ में **'दुःख'** अनिवार्यतः व्यक्ति से जुड़ा हुआ भाव है। 'सुख' सदैव किसी-न-किसी तरह जुड़ना है—चाहे ब्रह्म की तरह स्वरूप-एकता की सीमा तक क्यों न हो, जब कि दुःख और दुःखनिरोध भी किसी-न किसी तरह अलग होना है—चाहे निर्वाण की तरह एकान्ततः शून्यता की स्थिति तक ही क्यों न हो।

दूसरे शब्दों में, बौद्ध-दर्शन मूलतः व्यक्ति प्रधान है। कौन है यह व्यक्ति ? यह व्यक्ति है **'बुद्ध'**। अतः बौद्ध-धर्म-दर्शन या बुद्ध-देशना को समझने के लिए हमें सबसे पहले बुद्ध को ही समझना होगा। यदि हम जैकब्सन के अतिसामान्यीकरण से बचने की इच्छा रखते हों। 'बुद्ध कौन हैं ?' यह प्रश्न नया नहीं है। **सभयसुत्त** के समय परिव्राजक ने पूछा है—'बुद्ध किसे कहते हैं ?' बुद्ध का उत्तर है—'जिसने सम्पूर्ण तृष्णा का मनन कर संसार की उत्पत्ति और च्युति दोनों को जान लिया है जो तृष्णा आदि मलों से रहित तथा निर्मल है, विशुद्ध है, जिसने जन्म-क्षय को प्राप्त कर लिया है।' मानव मात्र के परम चक्षुस्वरूप स्वयं बुद्ध की आँखें हैं प्रज्ञा, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पाददर्शी और कर्म-विपाक-कोविद् हैं। वे आत्मदीप और आत्मशरण हैं। ब्रह्मचर्यवास पूर्ण कर वे ब्रह्मविहार में हैं अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की सर्वोच्च अवस्था में। मैत्री और करुणा द्वारा उनकी सर्वग्राही सहृदयता सभी मनुष्यों तथा उनके समाज के प्रति है, जबकि मुदिता और उपेक्षा के भाव उन्हें अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप (अर्थात् नैरात्म) में अविचलित रखते हैं। उनकी सर्वग्राही सहृदयता से उनके 'कर्म' का स्वरूप है—धर्मोपदेश का, और इसलिए उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा **'शास्ता'** के रूप में है।

मनुष्य मन में रहता है (अङ्गुत्तरनिकाय, १०।२१।९) और इसलिए अपने धर्मोपदेश में बुद्ध सीधे मनुष्य के मन से सम्बन्धित होते हैं। मानव-मन गतिमय है जिसे बुद्ध एक दिशा देना चाहते हैं। इसलिए उनका कथन है कि उनका धर्मोपदेश

पकड़ रखने के लिए नहीं, किन्हीं संस्कारों से मनस् गति को अवरुद्ध करने के लिए नहीं, वरन् संसार-सागर से पार जाने के लिए हैं (मज्झिमनिकाय, १।२२।४)। अतः स्वाभाविक है कि इस धर्मोपदेश की समझ की शर्त है—ब्रह्मचर्यवास और जैसा कि भारतीय परम्परा से हमें ज्ञात है यह मानव-विकास का वह अनिवार्य अङ्ग है जिसके अन्तर्गत पूर्वगृहीत रूढ़ सामाजिक संस्कारों को क्रमशः क्षीण कर व्यक्ति के अधिकाधिक दृष्टि विस्तार की व्यवस्था होती है। पुनः इस दृष्टि से श्रमण और उपासक गृहस्थ के लिए धर्मतत्त्व एक ही है। **इतिवुत्तक** के शब्दों में गृहस्थ और श्रमण दोनों ही एक दूसरे के सहयोग से कल्याणकारी सर्वोत्तम सद्धर्म का पालन करते हैं (४।८)।

सारांश यह कि यद्यपि सामान्यतः 'एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के लिए बन्धनस्वरूप है' (उदान, २।५), बुद्ध का व्यक्ति स्वरूप ऐसा है जो अन्य व्यक्तियों के लिए मोक्षकारक है। व्यक्ति-स्वरूप की इस धारणा पर आधारित समष्टि का रूप भी इसीलिए साधारण समाज का न होकर, **'धम्म-संघ'** का है।

३. बुद्ध देशना का रूप

अतः यह भी स्पष्ट है कि उपर्युक्त 'बुद्ध' व्यक्तित्व पर आधारित बुद्ध देशना में समग्र मानव-क्षेत्र व्यक्ति और समाज के लिए जगह है। बौद्ध-दर्शन के और भी अन्य व्याख्याकारों की तरह जैकक्सन ने भी यह बात भुला दी है और अति उत्साह में यह मान लिया है कि बुद्ध-देशना की रुचि केवल वैयक्तिक निर्वाण में है।

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के मत तथा बुद्ध-देशना के बीच सर्वाधिक मूल अन्तर यह है कि पाश्चात्य समाजशास्त्री मानव-दुःख, विडम्बना व अस्तित्व के संकट को व्यक्ति-बाह्य भौतिक-सामाजिक कारणों में ढूँढता है और फिर इन कारणों में हेर-फेर से उसकी स्थिति में सुधार लाना चाहता है, वहाँ बुद्ध-देशना के अन्तर्गत ये कारण स्वयं व्यक्ति के अन्तर्मन में स्थित है। 'सभी धर्म (वृत्तियाँ) पहले मन में पैदा होते हैं, मन ही मुख्य है, सब कुछ मनोमय है। यदि कोई व्यक्ति दूषित मन से कुछ बोलता है, करता है तो दुःख उसका अनुसरण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार पहिया बैल के पैरों का।⋯यदि कोई निर्मल मन से कुछ बोलता या करता है तो सुख उसकी छाया की तरह उसका अनुसरण करता है।' (धम्मपद, १-१-२) पुनः बुद्ध के अनुसार, धम्म में अभिरति ही सुख है, जबकि उसमें अरति ही दुःख है (अंगुत्तर निकाय, १०-७-६)। बैलों के पैरों का अनुसरण करने वाला पहिया एक ही धुरी में आवर्त्तमान जीवन-मरण के चक्र का द्योतक है जो एक तरह की यान्त्रिक बाध्यता के अधीन कर्मगति का अनुसरण करता है। पुनः यह कर्मगति भी चूँकि मूलतः अविद्या

से उत्पन्न है वह एक तरह की निर्वैयक्तिक नैसर्गिक-शक्ति, भारवाही बैल-शक्ति का द्योतक है जिसे भ्रमवश मनुष्य अपनी वैयक्तिक-शक्ति व स्वाधीनता का द्योतक मान बैठता है। बुद्ध-देशना का उद्देश्य मनुष्य की इस कर्मगति की यान्त्रिकता का निदर्शन कर उसके अपने यथार्थरूप के दर्शन की ओर प्रवृत्त करना है। इसीलिए बुद्ध मनुष्यों के **प्रज्ञा-चक्षु** कहे गये हैं। बुद्ध-देशना इस प्रज्ञा का प्रकाश है और इसके सहारे अन्य व्यक्तियों में भी प्रज्ञा जागृत करना उसी तरह है जैसे एक दीपक से अन्य दीपक को जलाना। इससे प्रकाश की सीमाएँ बढ़ती हैं और उसी अनुपात में अन्धकार की सीमाएँ सिमटती हैं—और ये दोनों ही सीमाएँ व्यक्ति और समाज दोनों से होकर गुजरती हैं।

व्यक्ति का समाज से अनिवार्य सम्बन्ध है, यह उसके कर्म से निश्चित होता है। और इसीलिए यह केवल आकस्मिक तत्त्व नहीं है कि बुद्ध-देशना में व्यवहार को ही मानव-प्रामाणिकता के रूप में मान्यता मिली है। अर्थात् कर्म ही मानव-स्वरूप का निर्धारक है (उदान, ६-२)। और इसलिए स्वभावतः प्रज्ञा की एक अनिवार्य अभिव्यक्ति **शील** या **आचार** है। जैसा कि **विशुद्धिमग्ग** में कहा है। शील या आचार ही धर्म का आरम्भ है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता व बंधन-मुक्ति का पहला सोपान ही शील है, क्योंकि इसी आधार से मनुष्य बन्धनकारी पञ्च नीवरणों से मुक्ति पाता है अर्थात् इनसे—कामच्छन्द (राग-तृष्णा), व्यापाद (हिंसा) स्त्यान (आलस्य-अकर्मण्यता), औद्धत्य-कौकृत्य (अनवस्थितता, खेद) और विचिकित्सा (सन्देह) से और फलतः वह शान्ति, अहिंसा, वितर्क, सुख और विपश्यना में प्रतिष्ठित होता है। उक्त नीवरण साँप की केंचुली की तरह हैं जो जब तक छोड़ नहीं दिये जाते, मानव स्वरूप से अभिन्न जान पड़ते हैं। यही अविद्या की स्थिति 'भवाङ्गो' का सतत आरम्भ है। बुद्ध-देशना का दार्शनिक पक्ष इस नाम-रूपधारी सतत प्रवर्त्तमान कारण-शृंखला का सूक्ष्म विश्लेषण करता है, और उसका मानवतावादी पक्ष एक ऐसे मानव व्यष्टि और समष्टि का पक्षधर है जिसके अन्तर्गत उक्त बंधनकारी कारण-शृंखला जो मानव शोषण व उत्पीड़न के मूल में है, से छुटकारा पा सके।

४. बौद्ध दार्शनिक विश्लेषण

इस तरह बौद्ध-दार्शनिक विश्लेषण की पूर्वपीठिका, धम्मपद के शब्दों में है—'हम जो कुछ हैं अपने विचारों के परिणाम के रूप में हैं', अर्थात् हम स्वयं प्रत्युत्पन्न हैं और हमारा स्वरूप इस तरह नहीं कि हम अपने-आप को अपने कर्मों का कारण रूप चिरन्तन द्रव्य-रूप वाला आत्मा समझें। हमारी प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक कार्य **कर्म** की एक पूर्व-शृंखला से उत्पन्न होकर पुनः पुनः एक कर्म-शृंखला को उत्पन्न करने में

कारण-रूप है। अपनी अधिक सामान्य परिणति में इसी विचार का रूप है—जो कुछ भी है उसका आधार कुछ और है, और कुछ भी बिना किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न किये नष्ट नहीं होता। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त है जिसके अनुसार सारा अस्तित्व सततरूपेण प्रादुर्भूत प्रत्ययता से प्रवृत्त एक संस्कार या धर्म-समूह है। इस प्रकार अस्तित्व, वस्तुतः सारा संसार सततरूपेण प्रवाहमान है और इसलिए शुद्धतः आकस्मिक है, यद्यपि संस्कारबद्धता उसे भासमान स्थिरता प्रदान करती दिखाई देती है। किन्तु दूसरी ओर आकस्मिकता का तात्त्विक लक्षण वाला अस्तित्व इस दृष्टि की अनिवार्यता से भी मुक्त जान पड़ता है कि जब तक उसके मूल में विद्यमान कारण-श्रृंखला को रोका नहीं जाता, अपनी आकस्मिकता में भी यह चिर-स्थायी बनी रह सकती है। मनुष्य-जन्म-मरण के चक्र में भटकता रह सकता है। किन्तु केवल मनुष्य में ही यह एक क्षमता है कि वह इस कारण-श्रृंखला को छोड़ सके। इसे इसके तात्त्विकस्वरूप अर्थात् विशुद्धतः आकस्मिकता के स्वरूप में जान लेना ही उसे तोड़ देना है। और उसके तोड़ने का अर्थ है दुःख का कारण जानकर दुःख में न पड़ना अर्थात् मानव दुःख का कारण उसके अन्तर्मन के अज्ञान में है। इसलिए उन्हें दूर करने का उपाय भी कहीं बाहर भौतिक सामाजिक परिवेश में न रहकर स्वयं अपनी भावनाओं, विचारों और व्यवहारों के उचित नियमन में है। अतः स्पष्ट है कि बुद्ध के अनुसार, ब्रह्मचर्यवास से सीधे ब्रह्मविहार के संन्यासमार्ग में पहुँचना गार्हस्थ-मार्ग में से होकर वहाँ पहुँचने की अपेक्षा अधिक सुगम है। क्योंकि प्रज्ञा का पथ प्रकाश के पथ की तरह एक बिल्कुल सीधे मार्ग में चल कर अधिक शीघ्रता और सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

आशय यह कि यन्त्र की तरह चलायमान इस सृष्टि के बीच मनुष्य ही सर्वोपरि, स्वयंभू और सर्वाधिक शक्तिशाली है। किन्तु उसका अपना स्वरूप सृष्टि से संश्लिष्ट होने के कारण अविद्या के आद्य अन्धकार से ढँका है और फलतः वह अपने-आप को नैसर्गिक-सामाजिक संस्कारों से चालित मान बैठता है। ये आद्य-अविद्या और संस्कार उसके अस्तित्व में **भूतकालिक** तत्त्व है, और इनसे क्रमशः उसके अस्तित्व के **वर्तमान-कालिक** तत्त्व विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा और उपादान उत्पन्न होते हैं। पुनः उपर्युक्त सभी तत्त्वों से मानव-अस्तित्व के **भविष्य-कालिक** तत्त्व-भव, जाति और जरामरण प्रादुर्भूत होते हैं। इस तरह मनुष्य जन्म की अविद्या से लेकर जरा-मरण में बीजतः विद्यमान पुनर्जन्म के सतत प्रवाह में अपने-आप को असहाय मान बैठता है। किन्तु ज्ञान के प्रकाश में ठीक यही मनुष्य अपनी शक्ति के आगे उपर्युक्त अविद्याचालित कारण श्रृंखला को बिखरता

हुआ देखता है। यहाँ स्मरणीय है कि चूँकि उपर्युक्त कारण-विश्लेषण सारे मानव-अस्तित्व के सम्बन्ध में है, यह मानना न्यायसंगत होगा कि वह मनुष्य के व्यष्टि-रूप तथा समष्टि-रूप दोनों पर समान रूप से प्रयुक्त है और फलतः प्रज्ञा की स्थिति भी अवश्य दोनों ही क्षेत्र में समानतः प्रयुक्त होती है। द्रष्टव्य है कि **ब्रह्मविहार** के चार गुणों में प्रकटतः प्रथम दो समष्टि-रूप के लिए और अन्य दो व्यष्टि-रूप के लिए प्रयुज्य हैं।

५. निष्कर्ष

अब संक्षेप में कुछ अन्य विचारणीय बातों को इस तरह रखा जा सकता है—

१—बौद्ध-धर्म-दर्शन के विषय में यह मत सही नहीं जान पड़ता कि उसका लक्ष्य केवल व्यक्ति का स्वरूप-ज्ञान और निर्वाण है। मनुष्य के समष्टि-रूप को भी एक विशेष तरह से समझने में उससे मदद मिल सकती है।

२—किन्तु यह सही है कि मनुष्य के समष्टि रूप की उक्त आधार से समझ कोई सहज कार्य नहीं है। विशेषतः इसलिए क्योंकि इस समष्टिरूपक दो अनिवार्य अंगों—काम और अर्थ के रूप में मानव-पुरुषार्थों को बुद्ध-देशना के अन्तर्गत पुरुषार्थ या मूल्य समझने में कुछ गम्भीर बाधाएँ हैं, क्योंकि ये उस कारण-शृंखला में अन्तर्भाव्य जान पड़ते हैं जिन्हें बुद्ध मानव-दुःख का कारण समझते हैं। अतः यह समस्या है कि शायद इन दो तत्त्वों से व्यतिरिक्त समष्टि रूप में मानव-उत्कर्ष का रूप ठीक ठीक व्याख्येय नहीं रह पाता।

३—यह विचारणीय तत्त्व है कि क्या **'संघ'** की धारणा एक नये प्रकार की समष्टि या समाज की धारणा है। अगर सचमुच ऐसा हो, तो यह स्वीकार करना होगा कि मानव-उत्पादकता का एक अनिवार्य पक्ष इससे अछूता रह जाता अर्थात् जिसमें **श्रम** के आधार से धन का उत्पादन होता है। इस पक्ष की पूर्ति के लिए **'संघ'** उपासक गृहस्थों के (संघ-बाह्य) समाज पर आश्रित रहता है। इसीलिए बौद्ध-धर्म के कुछ व्याख्याकार यह मान लेते हैं कि बौद्ध-धर्म में उपासक गृहस्थ का स्थान एक **'साधन'** के रूप में है—श्रमणों की भिक्षा की पूर्ति के साधन। किन्तु बुद्ध की सार्वभौम करुणा और मैत्री के प्रकाश में यह मत ठीक नहीं जान पड़ता।

• • •

बौद्धविचारों की दृष्टि में व्यक्ति और समाज और उनका सम्बन्ध

प्रो० कृष्णनाथ

प्राचीन धर्म और दर्शन व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं। इनकी दृष्टि में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में संघर्ष नहीं। आधुनिक काल में विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में व्यक्तिवादी और समाजवादी दो प्रकार की विचार प्रणालियों का और संगठनों का विकास हुआ। कहते हैं कि १८४० के आस-पास एक फ्रांसीसी लेखक ने अमेरीकी समाज को लक्ष्य कर कहा कि वहाँ तो व्यक्ति-वादी ढङ्ग का सङ्गठन है। इसके पहले जो चीज लक्ष्य की जाती थी वह अहंकार-ममकारवादी तो थी, किन्तु व्यक्तिवादी संज्ञा उसे नहीं दी जाती थी। जो हो, व्यक्ति-वादी के विरोध में उन्हीं दिनों यूरोप में समाजवादी आलोचना का उद्भव और विकास हुआ। फिर तो इनकी जड़ें, जैसी कि पश्चिम की चाल है, प्राचीन ग्रीस और रोम में भी ढूँढ़ ली गयीं।

परम्परागत दृष्टि से विचार करने वालों के लिए व्यक्ति और समाज के हित में कोई भेद नहीं दीखता। किन्तु पद्धति की दृष्टि से भेद हो जाता है। व्यक्ति की दृष्टि से अगर चलें तो एक प्रकार हो जाता है, समाज की दृष्टि से तो दूसरा प्रकार। इनमें पहले कौन ? प्राथमिकता का प्रश्न आ जाता है। जैसे शील के पालन को ले लें। अगर एक व्यक्ति मृषावाद से विरत रहने का व्रत ले तो चाहे समाज में झूठ चलता रहे तो भी उसे तो झूठ से विरत रहना है। उसके लिए उसका शील तो उससे शुरू होता है। यहाँ एक प्रश्न है, अगर समाज में झूठ चलता रहे तो क्या एक व्यक्ति मृषावाद से विरत रह सकता है ? जो लोग समाज पर बल देते हैं वह यह मानते हैं कि पहले समाज बदले, व्यवस्था बदले तो ही व्यक्ति बदल सकता है, अन्यथा नहीं। अब व्यक्ति प्रथम है या समाज व्यवस्था ? इसमें से जिस पर बल दिया जाए, उस हिसाब से पद्धति में अन्तर आ जाता है।

बौद्ध दृष्टि में परम्परागत रूप से व्यक्ति और समाज और उनके सम्बन्ध का विचार सीधे नहीं मिलता। व्यक्ति को अगर पुद्गल मानें और समाज को समष्टि तो बौद्ध दृष्टि में पुद्गल पञ्च-स्कन्धों की प्रज्ञप्ति है। इसी दृष्टि का विस्तार कर समाज

को व्यक्तियों की प्रज्ञप्ति माना जा सकता है। व्यक्ति स्वयं रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की राशि है, समष्टि है। इसलिए समाज समष्टि की समष्टि है। किन्तु इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। व्यक्ति और समाज दोनों ही संवृति सत्य है।

आधुनिक समाजविज्ञान की एक दृष्टि के अनुसार व्यक्ति और समाज के हित में आत्यंतिक संघर्ष नहीं है। **ऐडम स्मिथ** के अनुसार व्यक्ति अपने हित को सिद्ध करता हुआ प्रायः समाज के हित को सिद्ध करता है। व्यक्ति अपना हित-अनहित पहचानता है। इसलिए राज्य को उसके हित-साधन में कम से कम हस्तक्षेप करना अच्छा है। वह निर्बन्ध रूप से अपने हित साधन करता हुआ पूरे समाज का भी हित साधन कर लेगा। राज्य का कर्तव्य न्याय और प्रशासन की व्यवस्था और ऐसे सार्वजनिक निर्माण के काम करना है जैसे सड़क, नहर इत्यादि, जो व्यक्ति अपने तईं नहीं कर सकता। इस अहस्तक्षेपवादी दृष्टि में, राज्य का हस्तक्षेप एक हद के बाद अनावश्यक, बल्कि साफ तौर पर नुकसानदेह है। इसके विपरीत मार्क्सवादी व्याख्या में समाज को परस्पर-विरुद्ध वर्गों में देखने की चाल है। **मार्क्स** और **एंगेल्स** के अनुसार आदिम साम्यवाद की अवस्था को छोड़कर, मनुष्य जाति का इतिहास **वर्ग-संघर्ष** का इतिहास है। यह वर्ग संघर्ष ही इतिहास को गति प्रदान करता है।

समाजवादी आलोचना के प्रभाव से समाज व्यवस्था में परिवर्तन पर आजकल बल दिया जाता है। किन्तु यह भी अनुभव हो रहा है कि सत्ता-व्यवस्था, विशेषकर राजनीतिक व्यवस्था में कैसा भी परिवर्तन क्यों न हो, व्यक्ति स्वतन्त्रता और आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। मात्र सत्ता-व्यवस्था में परिवर्तन से वे बुनियादी परिवर्तन नहीं हो पाते, जिनकी भूख आजकल है।

जो भी हो, आधुनिक चिन्तन में **व्यक्तिवादी** और **समाजवादो** अन्तों पर बल दिया जाता है। चाहे इनमें समन्वय देखा जाए या संघर्ष या दोनों। जबकि परम्परागत बौद्ध दृष्टि में **स्व-पर समता** और **परिवर्तन** रहा है। जैसे कोई खुद दुःख नहीं चाहता, वैसे ही दूसरा भी दुःख नहीं चाहता; जैसे खुद हर कोई सुख चाहता है, वैसे ही दूसरा भी। इसलिए दूसरे को दुःख न दे, सुख चाहे। फिर एक भूमि के बाद 'स्व' का 'पर' में और 'पर' का 'स्व' में परिवर्तन हो जाता है, अद्वय हो जाता है। स्व-पर युगनद्ध हो जाता है। इसलिए इनमें समन्वय या संघर्ष का प्रश्न नहीं।

फिर भी अगर व्यक्ति या समाज में प्रथम कौन है इसपर जोर ही दिया जाय तो ऐसा लगता है कि परम्परागत दृष्टि में व्यक्ति ही प्रथम है। आत्म और अन्य में आत्म प्रथम है। **धम्मपद** के 'अत्तवग्गो' में कहा गया है कि पण्डित पहले अपना दमन करें, फिर दूसरे को उपदेश करें। यह भी कहा गया है कि पूरी पृथ्वी को काँटों से रहित नहीं किया जा सकता, इसलिए खुद अपने पैर में जूता पहन लें; फिर अपने में भी चित्त पहले है। चित्त जिधर जाता है उसके ही पीछे-पीछे शरीर जाता है।

परम्परागत दृष्टि में ऐतिहासिक के बजाय नैतिक दृष्टि पर बल है। ऐतिहासिक दृष्टि से दासता प्रथा, स्वामी-दास का सम्बन्ध और उसमें निहित हिंसा एक ऐतिहासिक अनिवार्यता मान ली जाती है। किन्तु नैतिक दृष्टि से जो बुरा है, वह सब देश-काल में बुरा है। उसमें ऐतिहासिक अनिवार्यता का प्रश्न नहीं है।

आत्म और अन्य में सम्बन्ध का आधार क्या है ? यह आधार एक नहीं अनेक हो सकते हैं। आधुनिककाल में उपयोगिता और अधिकतम आधार माना गया। फिर लेन-देन या विनिमय भी इसका आधार कहा जाता है। श्रम-विभाजन के समाज में कोई व्यक्ति एक चीज तैयार करे और दूसरा दूसरी और आपस में अदल-बदल कर ले तो इससे दोनों को दोनों चीजें ज्यादा मिल सकती हैं। फिर मनुष्यों में लेन-देन और अदल-बदल की एक प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इन सम्बन्धों के बीच स्पर्द्धा, संघर्ष, समन्वय, एक या दूसरा या सब कुछ देखा जा सकता है। जब कि परम्परागत दृष्टि में बहुत करके व्यक्ति और समाज के सुख में अद्वय देखा जाता रहा है। **स्व-पर समता** और **स्व-पर परिवर्तन** इस दृष्टि के अनुसार आत्म और अन्य में सम्बन्ध का आधार है। वैसे यह एक खुली हुई सूची है और इसमें कुछ भी जोड़ा या घटाया जा सकता है।

इस तरह अन्य प्राचीन प्राच्य एवं पाश्चात्य धर्म-दर्शनों की तरह, बौद्ध दृष्टि भी व्यक्ति और समाज में **अन्योन्याश्रय सम्बन्ध** देखती है, **द्वन्द्व** नहीं। आधुनिक काल में, विशेषकर उन्नीसवीं सदी के यूरोप में, एक ओर व्यक्तिवादी और दूसरी ओर समष्टिवादी दृष्टि का जोर हुआ। यह दोनों ही एकाङ्गी हैं, इसलिए मिथ्या दृष्टियाँ हैं। जब कि प्राचीन परम्परागत बौद्धदृष्टि **सम्यक्दृष्टि** है। इस दृष्टि के अनुसार व्यक्तिवाद एक अन्त में पतित होता है, तो समष्टिवाद दूसरे अन्त में। जब कि सम्यक् दृष्टि इन दोनों अन्तों का परिहार करती है।

अब प्रश्न है कि पद्धति की दृष्टि से जो व्यक्तिवादी या समाजवादी भेद आता है उसका क्या समाधान है ? जैसे शील का पालन व्यक्ति से शुरू करें तो वह एक

पद्धति है और अगर समाज व्यवस्था से तो दूसरी। किन्तु पद्धति का प्रश्न तो क्रम का प्रश्न है, फल का नहीं। व्यवहार में, काम करने का एक सिलसिला बनाया जा सकता है। पहले अपने चित्त का दमन करें, फिर दूसरे को उपदेश करें, आदि। लेकिन इस कामकाजी क्रम से व्यक्ति या समाज में से एक या दूसरे पर आत्यन्तिक बल नहीं पड़ता। यहाँ यह या वह का प्रश्न नहीं, दोनों ही का है।

फिर भी, अचेत रूप में एक भ्रम शायद भाषा के कारण हो जाता है ध्यान भावना में तो सबका भला **'भवतु सब्ब मंगलम्'** एक साथ मनाया जा सकता है, किन्तु कहने में कोई पहले, कोई बाद में आता है। भाषा पूर्वापर बाँटती है और अपनी ही कोटियों का कैदी बनाती है। एक या दूसरे में चुनने के लिए विवश करती है। जब कि कोटियाँ नहीं हैं, फिर भी वह है।

सचेत रूप में, आधुनिक पाश्चात्य विचार-व्यवहार की स्थापित प्रणालियाँ यह संशय उत्पन्न करती हैं। वह जैसे इसपर बल देती हैं कि या तो कोई व्यक्तिवादी हो या फिर समष्टिवादी, इनसे भिन्न नहीं। जैसे शीत युद्ध के दिनों में अमेरीकी और रूसी गुटों की ओर से कहा जाता था कि या तो इस गुट में रहो या उसमें। किन्तु भारत सहित एशिया-अफ्रीका, लैटिन अमेरीका के देशों ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह दोनों ही गुटों से निरपेक्ष रहकर तीसरी स्वतन्त्र शक्ति बनाएँ। इसी तरह सम्यक् दृष्टि के लिए व्यक्तिवादी या समष्टिवादी, स्ववादी या परवादी कोटियों के बन्धन में पड़ना तो प्रवाह में पतित होना है। **सम्यक् दृष्टि** में स्व-पर परिवर्तन और समता है।

अब इसमें सत्त्वों के चरित में भेद हो सकता है। कोई प्रधानता की दृष्टि से व्यक्ति-चरित हो सकता है, कोई समष्टि-चरित, व्यक्ति की ही तरह, समाज भी। प्रधानता की दृष्टि से व्यक्तिवादी या समष्टिवादी समाज हो सकता है। इस दृष्टि से उनकी चर्याओं में भेद भी होगा। किन्तु इन चर्याओं के भेद से सिद्धि में भेद नहीं। सिद्धि तो उस **अद्वय, युगनद्ध** दशा को ही प्राप्त करना है जिसमें स्व-पर का भेद नहीं।

ऐसा लगता है कि बुद्ध की सम्यक् दृष्टि में आधुनिक भार संशय पैदा करता है, जब वह व्यक्तिवादी या समष्टिवादी अन्त में पतित होने को प्रेरित करता है। जब वह भार देख लिया जाता है तो संशय जाता रहता है। व्यष्टिवादी समष्टिवादी मिथ्या दृष्टियाँ झड़ जाती हैं। सम्यक् दृष्टि इन दोनों ही अन्तों का परिहार कर मध्यस्थ रहती है। इस सम्यक् दृष्टि से ही व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध देखे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

व्यष्टि-समष्टि, संसार-निर्वाण में, व्यवहार-परमार्थ में, व्यष्टि-समष्टि शास्त्र में द्वन्द्व नहीं, किन्तु व्यवहार में हो जाता है। संसार की अपेक्षा निर्माण पर जोर पड़ता है। इसलिए हिचक के साथ संसार का काम करते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक सभी काम महत्व के हैं। कब किसके लिए क्या जरूरी है, या जरूरी नहीं, यह विचारणीय हो जाता है।

परम्परागत बौद्ध दृष्टि में व्यष्टि पर जोर पड़ गया है, इसलिए शायद समष्टि पर थोड़ा अतिरञ्जित बल देना जरूरी हो जाता है। चित्त के अन्दर ही सारा व्यापार चले तो बाह्य छूट जाता है और जो गड़बड़ियाँ हैं, वह बनी रहती हैं। फिर वह अन्तर के काम को भी गड़बड़ा देती हैं। इसलिए **प्रज्ञा** में **अद्वय** देखते हुए भी उपाय की दृष्टि से बाह्य आर्थिक, राजनीतिक-सामाजिक-कार्य का भी महत्त्व हो जाता है।

• • •

व्यक्ति और समष्टि : बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डा० सिद्धेश्वर भट्ट

प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त अपने युग की देश-काल एवम् परिस्थिति जन्य आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न चिन्तन का परिणाम होता है। अतः उसका विश्लेषण एवं मूल्यांकन भी उसकी अपनी पृष्ठभूमि के ही आधार पर होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से बौद्ध चिन्तन परम्परा में व्यक्ति एवं समाज के स्वरूप एवम् उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना समीचीन होगा। प्रस्तुत लेख तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। सर्वप्रथम व्यक्ति के स्वरूप का विश्लेषण, तदनन्तर समाज के स्वरूप का विश्लेषण और अन्त में उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण। इससे पूर्व की हम इस विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हों, कतिपय बौद्ध दार्शनिक अभ्युपगमों की ओर ध्यान देना आवश्यक होगा।

बौद्ध दार्शनिक चिन्तन का प्रादुर्भाव आनुभविक जगत में अनिवार्य रूप से व्याप्त दुःख के निदान हेतु होता है। गौतम बुद्ध ने समस्त दुःखों के मूल में तृष्णा को हेतुरूप माना है और इस तृष्णा के आधार में अनित्य वस्तुओं को नित्य मान कर उनके प्रति आसक्त होने की मनोवृत्ति को समस्त सांसारिक प्रक्रिया का प्रारम्भ बिन्दु माना है। उनके अनुसार समस्त आनुभविक तथ्य अनित्य हैं, क्योंकि वे सांघातिक हैं। यद्यपि कुछ ऐसे धर्म हैं जैसे आकाश तथा निर्वाण जो सांघातिक नहीं हैं, जिन्हें **असंस्कृत धर्म** के नाम से अभिहित किया जाता है। अतः उन्हें अनित्य नहीं माना जा सकता। परन्तु शेष धर्म निश्चित रूप से **संस्कृत** होते हैं और परिणाम स्वरूप अनित्य होते हैं। वस्तुतः संस्कृत होने और अनित्य होने में नियत सहचार है। संघात की उपस्थिति प्रतीत्यसमुत्पन्न होती है। निश्चित हेतु एवम् प्रत्यय के आधार पर अलग-अलग विशिष्ट संघातों की उत्पत्ति होती है और उन हेतु-प्रत्ययों के न रहने पर संघात भी विद्यमान नहीं रहते। जिन्हें हम तत्त्व या पदार्थ की संज्ञा देते हैं, वे धर्मरूप ही हैं। जिनमें न तो स्थायित्व है और न आधार आधेय भाव ही है। यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या **अनित्यतावाद** एवम् **क्षणभंगवाद** में भेद किया जाना चाहिए ? सम्भवतः बौद्ध चिन्तन में परम्परा के प्रारम्भिक चरण में

अनित्यता का ही प्रतिपादन अभीष्ट है और परवर्ती चिन्तन में ही अनित्यता के स्थान पर **क्षणिकवाद** का प्रस्तुतीकरण हुआ है। सत्ता के प्रति अनात्मवादी एवम् अनित्यतावादी दृष्टि एक विशेष दार्शनिक चिन्तन प्रणाली का प्रतिफल है जिसे **विभज्यवाद** के रूप में जाना जाता है। अपनी विभज्यवादी या विश्लेषणवादी दृष्टि को लेकर बुद्ध ने समस्त आनुभविक सत्ता को **सांघातिक** एवम् **प्रतीत्यसमुत्पन्न** माना है अतः व्यक्ति और समाज का स्वरूप भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

व्यक्ति का स्वरूप

व्यक्ति के स्वरूप के बारे में बौद्ध दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पञ्चस्कन्ध के सिद्धान्त के रूप में हुई है जिसका स्पष्टतम प्रतिपादन **'मिलिन्दपञ्हो'** में हुआ है। मानवीय व्यक्तित्व के रूप में किसी सातत्यवान् प्रागनुभविक अनादि एवम् अनीश्वर सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार कर बौद्ध दार्शनिक इसे **रूप** स्कन्ध, **नाम** स्कन्ध, **संस्कार** स्कन्ध, **विज्ञान** स्कन्ध एवम् **वेदना** स्कन्ध में विश्लेषित करते हैं। वैसे तो यह पाँचों स्कन्ध रूप हैं और इन्हें पुनः आणविक तत्त्वों में विश्लेषित किया जाना चाहिए था परन्तु बौद्ध दार्शनिकों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया ऐसा लगता है।

व्यक्ति की इदंता बौद्ध चिन्तन में स्वीकार की गई है परन्तु इसका **सांवृतिक** या **सांव्यावहारिक** अस्तित्व एवम् मूल्य ही यहाँ मान्य है। पारमार्थिक दृष्टि से न तो व्यक्ति की सत्ता है और न इदंता, परन्तु इस दृष्टि को जब अनात्मवाद की संज्ञा दी जाती है तो उसका तात्पर्य यह नहीं होता है कि इसमें आत्मा का निषेध किया गया है। इसका मात्र यही मन्तव्य है कि पारमार्थिक सत्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आत्मा का स्वरूप सांघातिक है, वह अनुभव प्रदत्त है और सतत परिवर्तन शील पञ्चस्कन्धों का समुदाय है। जब तक यह समुदाय अस्तित्व में रहता है, व्यक्तित्व की इदंता भी अस्तित्व में रहती है। समस्त जागतिक क्रिया-कलाप इसी पर आधारित रहते हैं। यह इदंता न केवल वर्तमान जीवन में ही समाहित रहती है वरन् भावी जीवन में भी बनी रहती है। इसी आधार पर बौद्ध विचारधारा में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकृत नहीं किया गया है। वस्तुतः इदंता की स्वीकृति न केवल आनुभविक प्रमाण से पुष्ट होती है वरन् यह स्मृति, प्रत्यभिज्ञा एवम् ममत्व की पूर्व-मान्यता भी है। व्यक्तित्व की स्वीकृति एवम् उसकी इदंता की रक्षा एक व्यावहारिक आवश्यकता है, जिसकी स्वीकृति किये बिना न तो मानव जीवन के वैयक्तिक पहलू की व्याख्या हो सकती है और न सामाजिक पहलू की। **क्षणभंगवाद** की पृष्ठभूमि में

बौद्ध विचारकों को व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्तित्व एवम् उसकी इदंता का निषेध भी अभीष्ट होता, परन्तु ऐसा करने पर अनेकों प्रश्न उनके सामने उठ खड़े होते। अतः यह स्वीकृति एक तरह उनके लिए बाध्यता ही है।

समाज का स्वरूप

व्यक्ति की तरह समाज का अस्तित्व भी बौद्ध दर्शन में सांघातिक माना गया है। समाज व्यक्तियों की संघटना है जिसका कोई पारमार्थिक अस्तित्व या मूल्य नहीं होता है। जिस तरह व्यक्ति के व्यक्तित्व की इदंता व्यावहारिक आवश्यकता है। उसी तरह समाज जो कि व्यक्तियों का समुदाय है, व्यावहारिक आवश्यकता का ही परिणाम है। न तो समाज का व्यक्तियों से स्वतन्त्र अपना कोई अस्तित्व है और न उसकी अपनी कोई विशेषता है जो उसके निर्मायक व्यक्तियों की विशेषताओं से भिन्न हो। समाज अन्य समस्त सांघातिक तथ्यों की तरह सतत परिवर्तनशील है और उसके सातत्य की अनुभूति वैसी ही भ्रान्तिमूलक है जैसी कि व्यक्ति के सातत्य की अनुभूति।

समाज के स्वरूप के बारे में बौद्ध दृष्टिकोण उसके द्वारा प्रस्तुत श्रमण परम्परा के अनुरूप है, जिसके अन्तर्गत समस्त वर्गभेद एवम् वर्णभेद का निषेध किया जाता है। समाज में विद्यमान असमानता एवम् भेद-भाव अस्वाभाविक है, जिसका उन्मूलन एक श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था का आदर्श है। पारमार्थिक दृष्टि से तो बौद्ध विचारक समाज के विदीर्ण होने की ही बात करना चाहेंगे। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सामाजिक व्यवस्था अपरिहार्य होने के कारण वे इसे **वर्ण** अथवा **वर्ग** भेद से रहित तथा **समतामूलक** स्वरूप देना चाहेंगे।

व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध

जहाँ तक व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न है, बौद्ध दृष्टि में व्यक्ति **साध्य** है और **समाज** साधन। समाज की संरचना व्यक्ति के ही लिये होती है अतः व्यक्ति का हित समाज के हित से श्रेष्ठतर माना जाना चाहिए। वस्तुतः समाज की कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, अतः सामाजिक हित नामक कोई तथ्य भी नहीं है। परन्तु जिस तरह व्यक्तियों के समूह की समाज के रूप में कल्पना की जाती है उसी तरह सामाजिक हित की भी कल्पना की जा सकती है और इससे केवल यही तात्पर्य निकलता है कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित। परन्तु यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या बौद्ध दृष्टि से सामाजिक हित के लिए व्यक्ति के हित का त्याग मान्य हो सकता है ?

व्यक्ति और समाज के अस्तित्व एवम् मूल्य में अनेक दृष्टियों से समानान्तरता है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। दोनों व्यावहारिक संरचनायें हैं परन्तु दोनों में जो मूल भेद है वह यह, कि व्यक्ति प्राथमिक स्तर की संरचना है जब कि समाज गौण स्तर की। समाज को व्यक्तियों में घटित किया जा सकता है और व्यक्तियों को पुनः नाम रूपादि स्कन्धों में। परन्तु स्कन्ध का रूप भी सांघातिक होने से उन्हें पुनः ऐसे धर्मों में घटित किया जा सकता है जो असांघातिक हों। सम्भवतः सर्वास्ति-वाद परम्परा में किया गया भूतों और चित्तों का उल्लेख इस विश्लेषण प्रक्रिया का अन्तिम चरण है।

• • •

व्यक्ति और समाज—एक विवेचन

प्रो० समदोङ् रिनपोछे

बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के विषय में विशेष लिखने की बात नहीं है। बौद्ध वाङ्मय में पुद्गल, पुरुष, जीव, मनुष्य, सत्त्व योनि आदि शब्दों का व्यवहार होता है, किन्तु व्यक्ति शब्द कहीं जीव या मनुष्य के वाचक रूप में व्यवहार में आया हो, ऐसा मुझे देखने को नहीं मिला। प्रमाण ग्रन्थों में **सामान्य** और **व्यक्ति** की चर्चा होती है। परन्तु वह यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है क्योंकि उसका प्रयोग जड़ पदार्थों के लिए भी होता है। उसी प्रकार सर्वसत्त्व, सर्व जगत्, प्रजा, जनता, जीव मात्र आदि शब्दों का प्रचुर व्यवहार हुआ है, किन्तु समाज शब्द का प्रयोग मुझको केवल **गुह्यसमाज** के नाम के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिला। यहाँ पर भी समाज शब्द की परिभाषा कुछ घटकों की अभिन्नता के बोधक रूप में है। अतः इस निबन्ध में पुद्गल की व्यक्ति और सर्वसत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध को समाज मान करके दो एक बातें निश्चित करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

व्यक्ति—बौद्धों की दृष्टि में सामान्य रूप से व्यक्ति वह होता है जो स्कन्धादि-उपादानों को लेकर बढ़ता है, पूर्ण होता है, फिर गलता है और पुनः नये उपादानों को ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्ण होने पर तथा गलने में निरन्तर परिवर्तित पुद्गल को जिसकी सन्तति आद्यन्त दोनों नहीं है अर्थात् निरन्तर गतिशील है, व्यक्ति कहा गया है।

इस प्रकार एक सन्तति-प्रवाह के रूप में निरन्तर चलने वाले पुद्गल का स्वरूप क्या है? इस पर बौद्ध सिद्धान्तों में मतभेद है। **वात्सीपुत्रीय** लोगों के अनिर्वचनीय आत्मा से लेकर **प्रासङ्गिक माध्यमिकों** की नाममात्रता वाले व्यक्ति तक की अनेक प्रकार की स्थापनाएँ हुई हैं। वात्सीपुत्रों को छोड़कर शेष सभी बौद्ध व्यक्ति को **प्रज्ञप्ति मात्र** मानते हैं किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अतिरिक्त सभी परम्परायें प्रज्ञप्त व्यक्ति की सत्ता को खोजने पर मिलने वाला मानतीं हैं। इसके अधिष्ठान के रूप में छठवें **मनोविज्ञान** अथवा **आलयविज्ञान** आदि की व्यवस्था मिलती है। यहाँ मतभेदों को छोड़कर सामान्य रूप से मनोविज्ञान को ही व्यक्ति मानकर विचार करूँगा।

मनोविज्ञान को व्यक्ति मान करके उसकी तीन विशेषताओं पर बौद्ध आचार्यों ने बल दिया है—

(क) परमार्थतः स्वलक्षणशून्य

(ख) अस्पृष्टमल चित्तस्वभाव

(ग) अविच्छिन्न सन्तति।

इससे व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास और पुरुषार्थसिद्धि की स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ बनती हैं। इतना ही नहीं, सभी व्यक्तियों की समता भी इसी आधार पर सिद्ध होती है। पूर्वसत्त्वों की चेतना की परमार्थतः निःस्वभावता में कोई अन्तर नहीं होता। इसकी सन्तति की अविच्छिन्नता तथा अस्पृष्टमल चित्तस्वभावता में लेशमात्र भी अन्तर नहीं होता। चेतना की परमार्थतः निःस्वभावता होने से और मल के चित्त की प्रकृति न होने से सभी क्लेशों अथवा मलों के प्रहाण की सम्भावना बनती है और अविच्छिन्न सन्तति के कारण चित्त के अनन्त विकास की भी सम्भावनाएँ होती हैं। अतः चित्त की धर्मता को **स्वभावगोत्र** और चित्त में स्थित अनास्रव ज्ञान के बीज को **विकास योग्य गोत्र** के रूप में प्रदर्शित किया गया है। ये दोनों गोत्र सभी सत्त्वों पर व्यापक हैं, अतः सर्वसत्त्वों के चित्र में प्रकर्ष पर्यन्त विकास की योग्यता विद्यमान रहती है। इम प्रकार व्यक्ति के अस्तित्व एवं स्थिति पर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि व्यक्ति में निहित समस्त गुण केवल बाहरी आश्रयों से ही उत्पादित नहीं, अपितु विकास की सम्भावनाएँ अन्दर ही रहती है। उसमें समाज का सहयोग उसके विकास या विनाश में मात्र सहायक होता है।

समाज—समाज मनुष्य का समूह मात्र नहीं, अपितु उसके पारस्परिक सम्बन्ध और अन्योन्याश्रय की अपेक्षाओं से बनी व्यवस्था पर आश्रित होता है। इस व्यवस्था का आधार भी व्यक्ति का चित्त ही है जिसके कारण एक सम्यक् समाज तथा दूसरा असम्यक् समाज बनता है। सम्यक् समाज का मूल आधार **प्रज्ञान** होता है वह समता स्वरूप तथा दुःख रहित होता है। असम्यक् समाज का मूलाधार अविद्या है जिससे विषम तथा दुःखी समाज बनता है। समाज के सम्बन्धों का मूल कारण व्यक्ति के चित्त के अतिरिक्त स्वतन्त्र सामाजिक चेतना जैसी किसी वस्तु की मान्यता नहीं मिलती, फिर भी सामाजिक अथवा सामूहिक कर्म और उसके फल की व्यवस्था अवश्य है।

समाज से व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव भी तभी पड़ता है जब व्यक्ति के चित्त में अविद्या विद्यमान हो। अतः समाज उसके लिए निमित्तमात्र है, मूल कारण नहीं।

इससे दो बातों को स्पष्ट रूप से मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि **व्यक्ति** अपने में **स्वतन्त्र** है, उसके विकास तथा ह्रास का मूल कारण उसके निजी चित्त में विद्यमान है, **बाह्य समाज** का प्रभाव केवल सहायक है।

व्यक्ति के ह्रास का मूल कारण **अविद्या** है जो मिथ्यादृष्टि है, और उसके विकास का मूल कारण **अनास्रव प्रज्ञान** का बीज है जो मिथ्यादृष्टि नहीं है। इसलिए ह्रास की सीमाएँ होती हैं, वह प्रकर्ष पर्यन्त नहीं जा सकता है। विकास असीमित और अपरमित होना है।

सम्यक् समाज—अविद्या अहंभावस्वरूप होती है। वह अनात्मा को आत्मा के रूप में वासित करके अहंता को ग्रहण करती है जिससे आत्मीयता के ग्रहण की भी उत्पत्ति होती है। इससे पर का भी आरोप होता है और निकट और दूरस्थ स्व और पर, मित्र और शत्रु आदि नाना प्रकार की भ्रान्तियों का जाल फैल जाता है। आत्मा तथा आत्मीय के प्रति राग, पर तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, जिससे असमानता का व्यवहार स्वाभाविक होता है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने से सम्बन्धित तथा अन्यों के प्रति विभिन्न प्रकार की असमता का व्यवहार करने लगता है। व्यक्ति और समाज दोनों की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ लोग स्व और पर के विभेद को बनाकर कुटुम्ब, देश, राष्ट्र आदि की सीमाओं में विभक्त होकर असमान और दुःखमय जगत् को स्थापित कर देते हैं। दुःखमय जगत् की समस्याओं के निराकरण के लिए जितने भी सामाजिक व्यवस्थाओं में सुधार होते रहेंगे, वे मात्र तात्कालिक उपाय होंगे—जैसे कि वृक्षों की शाखाओं को काटना आदि। जब तक समाज की व्यवस्थागत त्रुटियों के मूल कारण उसके घटक व्यक्तियों की अविद्या को निर्मूल नहीं करेंगे, तब तक स्थायी निराकरण होना सम्भव नहीं है।

अविद्या को निर्मूल करने में जब व्यक्ति लग जाता है, तब उस व्यक्ति की तात्कालिक योग्यता भेद के कारण मार्ग के दो भेद हो जाते हैं—यथा **श्रावकयान** तथा **बोधिसत्त्वयान**। जो समस्त सत्त्वों के उद्धार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकते, वे केवल अपने क्लेशों का प्रहाण करके निर्वाण का कार्य करते हैं। यदि परार्थ न भी हो तो दूसरे की किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते और अपनी ओर से हिंसा और हानि पहुँचाने की सम्भावना से सदा के लिए दूर हो जाते हैं। जितना उन्होंने क्लेशों का प्रहाण किया, उतने से ही वे सम्पन्न होते हैं। उनमें परार्थ करने की क्षमता बोधिसत्त्व के समकक्ष न रहने पर भी उनका निर्वाण और उनकी बोधि समाज के लिए हितकारक और आदर्श होते हैं। जो व्यक्ति बोधिसत्त्व मार्ग में प्रविष्ट होता है वह परार्थ अर्थात् सर्वसत्त्व के उद्धार का दायित्व अपने ऊपर लेता है। परार्थ दो प्रकार का है—तात्कालिक तथा आत्यन्तिक। **तात्कालिक परार्थ** अभ्युदय प्राप्त करना है और **आत्यन्तिक परार्थ** निःश्रेयस प्राप्त कराना है। इन दोनों कार्यों को **पृथक्जन** अथवा **अर्हतपद** प्राप्त व्यक्ति नहीं कर सकता। इसके लिए व्यक्ति

को अपने ज्ञान और उपाय का विकास पराकाष्ठा तक करना होता है, जो बुद्धत्व की अवस्था में ही सम्भव है। इसलिए बुद्धत्व की प्राप्ति और पारमिताओं की साधना में वे लग जाते हैं। बोधिसत्त्व का परार्थ का अभिलाषी होना कोई विवशता नहीं है। सम्यक् दृष्टि से स्व और पर का भेद और उसका आधार जान लेने से समस्त भेदों के आधार टूटते हैं। इस स्थिति में स्व और पर की संज्ञा तक समाप्त हो जाती है। जब स्व और पर की संज्ञा समाप्त हो जाती है तब सब का दुःख अपना दुःख होता है। वह सभी के दुःख से स्वयं को दुःखी अनुभव करता है। दुःख का निदान और सुख की अभिलाषा करना उसकी सहज प्रकृति हो जाती है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर मैं निम्नलिखित आशय प्रस्तुत करना चाहता हूँ—

(१) व्यक्ति की सत्ता स्वतन्त्र है। उसके सभी विकासों का आधार उसके ही भीतर निहित है।

(२) असम्यक् समाज का आधार मिथ्यादृष्टि है, जिसका निर्मूलन सम्भव है। सम्यक् समाज का आधार सम्यक् दृष्टि है जिसमें समता की सम्भावना निहित है।

(३) व्यक्ति और समाज दोनों के सुधार के लिए व्यक्ति को ही सुधारना है। और उसके सामर्थ्य के विकास को चरम सीमा तक पहुँचाना एक मात्र उपाय है।

(४) समाज के घटक व्यक्ति का जैसे-जैसे स्तरोन्नयन होगा, उससे सम्बन्धित समाज का भी स्तर वैसे-वैसे ही समकक्ष होगा। बौद्ध आचार्यों का यही मत होगा, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

• • •

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध और उसका विकास

पं० आनन्द झा

"बौद्ध दार्शनिक परम्परा की दृष्टि से व्यक्ति, समाज, उनका सम्बन्ध एवं उनका विकास" पर विवेचन करना है। समाज कोई भी क्यों न हो, वह व्यक्ति सापेक्ष अवश्य होता है। क्योंकि कोई भी समाज व्यक्ति के बिना किसका समाज कहलाएगा ? तात्त्विक व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध की कल्पना करके ही तो व्यक्ति के विलक्षण समुदाय को कोई भी एक समाज कहता है। गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने पर वहाँ से ही दार्शनिकों के बीच प्रबल मतभेद खड़ा होता हुआ दिखायी देता है। **गौतमीय-न्याय** और **वैशेषिक** मत के अनुसार प्रकृत कल्पना शब्द का अर्थ होता है अनुमान। अनुमान किसी विद्यमान विषय का होता ही है। अतः कल्पित होने पर भी वह व्यक्ति व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध, अवास्तव अर्थात् सर्वथा मिथ्या, फलतः अलीक नहीं होता। ऐसा होने पर समाज भी स्वतः एक स्थिर पदार्थ हो उठता है, अतः उक्त दार्शनिक दृष्टि में व्यक्ति और समाज ने बीच प्रतीयमान सम्बन्ध भी एक स्थिर सत्य पदार्थ होता है, और उसके विकास के लिए उपाय का अन्वेषण भी सही होता है। परन्तु बौद्ध दार्शनिकों को ऐसा मानने में कठिनाई है। क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में सारी व्यक्तियाँ स्व-लक्षण होती हैं। **स्व-लक्षण** का अर्थ होता है अपने में पूर्ण, तदनुसार किसी भी दूसरे से सर्वथा सम्बन्धहीन। अतः व्यक्तियों के बीच तात्त्विक सम्बन्ध मान्य न हो पा सकने के कारण विश्रृङ्खल व्यक्तियों के पुञ्ज को ही नाम मात्र के लिए समाज कह दिया जाता है। इसीलिए समाज बनता और बिगड़ता रहता है। भले ही वह समाज किसी का भी क्यों न हो, चेतन का हो या अचेतन का। आज जो आपामर साधारण जन में **"समाज"** शब्द का प्रयोग होता है उसका अभिप्रेत अर्थ मानवपुंज ही होता है अन्य किसी का कोई पुंज नहीं।

दार्शनिक दृष्टि को अपनाते हुए गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह तो मानना ही होगा कि आज की भारतीय राजनीति अप्रत्यक्षरूप में ही सही बौद्ध

दार्शनिक सम्मत विश्रृङ्खल पुंजवाद से ही पूर्णरूप में प्रभावित हैं। क्योंकि भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक भारतीय वयस्क को अपना-अपना स्वतन्त्र मताधिकार प्राप्त है। कहने का सारांश यह कि बौद्ध दार्शनिक जन जिस प्रकार अणु पुंजात्मक भूत वर्ग के प्रत्येक अणु को पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात् परमुखानपेक्षी अतएव स्वलक्षण मानते हैं, ठीक उसी प्रकार आज की राजनीति में प्रत्येक वयस्क मानव को पूर्ण स्वतन्त्र, परमुखानपेक्षी, फलतः स्वलक्षण माना गया है।

इन बातों की ओर ध्यान देने पर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जँचता है कि इस बौद्ध दार्शनिक परिसंवाद गोष्ठी के अन्दर परिसंवाद का विषय व्यष्टियों के बीच तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच मान्य सम्बन्ध को रखा गया है। यह सचमुच बौद्ध दार्शनिकों के समक्ष एक महान् प्रश्न चिह्न है कि वह सम्बन्ध क्या है और कैसे है? क्योंकि बौद्ध दृष्टिकोण में तात्त्विक स्वलक्षणता के रक्षार्थ सम्बन्ध में तात्त्विकता नहीं मानी जा सकती।

बौद्धों की ओर से इसके सम्बन्ध में गहराई से सोचने पर जो कुछ निष्कर्ष निकलता है उसमें यह ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को पारमार्थिक सत्य नहीं मानता। परन्तु **अद्वैतवेदान्त** दर्शन में जगह-जगह पर जिस प्रकार सत्यगत सापेक्षता का स्पष्ट उल्लेख किया गया मिलता है उस प्रकार बौद्ध दर्शन में स्पष्टभाव से उसका उल्लेख न होने पर भी वहाँ भी वह सामाजिक व्यवहार के निर्वाह के लिए अवश्य मान्य है। इसलिए व्यक्त्यात्मक व्यष्टियों के बीच एवं व्यक्त्यात्मक व्यष्टि और समाजात्मक समष्टि के बीच कल्पित रूप में सम्बन्ध सामान्य को मान्यता मिल सकती है। इसका आभास इस प्रकार मिलता हुआ दीख पड़ता है कि बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व बाह्यास्तित्ववादियों के यहाँ भी विशेष ही होता है, सामान्थ पारमार्थिक तत्त्व नहीं माना जाता। फिर भी उसे अनुमान प्रमाण का विषय माना गया है। अतः सामान्य में आपेक्षिक सत्यता सूचित होती है। अब रही बात इसकी की वह सम्बन्ध है क्या? तो इसके सम्बन्ध में कहना यह है कि यह बात पहले बतलायी जा चुकी है कि व्यक्ति की चेतनता और अचेतनता के आधार पर समाज को भी **चेतन समाज** और **अचेतन समाज**, इस प्रकार दो भागों में विभक्त मानना चाहिए। तदनुसार उक्त दो समाजों के अन्दर यहाँ चेतन

समाज को ही लिया जाय तो व्यक्तियों के बीच वह कल्पित सम्बन्ध होगा **"प्रयोजन साम्य"** और व्यक्ति और समाज के बीच वह होगा **कल्पित अंशांशिभाव।**

यह सही है कि बौद्ध सिद्धान्त में वास्तविक अंशांशिभाव मान्य नहीं है किन्तु उक्त युक्ति के अनुसार कल्पित तो वह माना ही जा सकता है ?

न्याय वैशेषिक दार्शनिक भी तो "न्याय" एवं प्रतिज्ञा हेतु आदि के बीच कल्पित ही अंशांशिभाव मानते हैं ? क्योंकि शब्द की निरवयवता के कारण वास्तविक अंशांशिभाव न्याय और प्रतिज्ञा आदि के बीच सम्भव नहीं। तदनुसार बौद्ध सिद्धान्त में भी व्यष्टि और समष्टि के बीच अर्थात् व्यक्ति और समाज के बीच सापेक्ष सत्यताशील कल्पित अंशांशिभाव सम्बन्ध हो सकता है।

इसके बाद सामाजिक विकास की बात आती है पर यह विकास तभी सम्भव है जब कि व्यक्तियों के माध्यम से समाज में (१) अहिंसा, (२) सत्य और (३) अस्तेय इन तीन गुणों का विकास हो। अतः तदर्थ चेष्टा होनी चाहिए।

● ● ●

विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र के अनुसार व्यष्टि एवं समष्टि का सम्बन्ध

प्रो० लालमणि जोशी

१—विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र का परिचय

विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र बौद्ध साहित्य का एक अनमोल रत्न है। यह एक महायानसूत्र है जो मूलरूप में बौद्ध संस्कृत भाषा में सम्भवतः प्रथम शती ईस्वीपूर्व में रचा गया था। दुर्भाग्यवश सहस्रों अन्य ग्रन्थों की भाँति यह सूत्र भी अब अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। प्रथम शती ईस्वी पूर्व से लगभग दसवीं शती ईस्वी तक यह सूत्र भारत में अत्यन्त प्रामाणिक एवं लोकप्रिय था। आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित **सूत्रसमुच्चय** (दो कुन् = ले तुय = पा) में **विमलकीर्तिनिर्देश** को उद्धृत किया गया है। यद्यपि **सूत्रसमुच्चय** भी अब मूल बौद्ध संस्कृत में अप्राप्य है। तथापि इस ग्रन्थ के भोटीय एवं चीनी अनुवादों से हमें ज्ञात होता है कि **विमलकीर्तिनिर्देश** आचार्य नागार्जुन के समय में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। मैं आशा करता हूँ कि अगले दो-तीन वर्षों के भीतर चीनी तथा भोटीय सामग्री के आधार पर **सूत्रसमुच्चय** का अंग्रेजी तथा हिन्दी अनुवाद भारत में प्रकाशित हो जायगा।

विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र के मूल संस्करण के नौ उद्धरण आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में, और एक उद्धरण आचार्य चन्द्रकीर्ति की **प्रसन्नपदामध्यमवृत्ति** में पहले से सुविदित हैं। हाल ही में कुछ अन्य बौद्ध संस्कृत शास्त्रों में इस सूत्र के उद्धरणों का पता चला है। **रत्नगोत्रविभागमहायानोत्तरतन्त्रशास्त्र** में, प्रथम तथा तृतीय **भावनाक्रमों** में तथा **अद्वयवज्रसंग्रह** में **विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र** के उद्धरणों की सूचनाएँ हमने अन्यत्र एकत्रित की हैं।

विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र को सात बार चीनी भाषा में अनूदित किया गया था। तीन भिन्न-भिन्न चीनी अनुवाद अभी तक सुरक्षित हैं। इस सूत्र का एक भोटीय अनुवाद कन्जूर के सभी संस्करणों में सुलभ हैं। एक अन्य भोटीय अनुवाद के खण्डांश दुन्-हुआंग से कुछ वर्ष पूर्व प्राप्त हुए थे। सोग्दियन तथा खोतानी भाषानुवादों के कुछ खण्डांश भी मध्य एशिया से प्राप्त हुए हैं। जापानी भाषा में इस सूत्र के अनेक अनुवाद प्रचलित हैं। कुछ आधुनिक पश्चिमी भाषाओं में भी **विमलकीर्तिनिर्देश-**

सूत्र के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। जर्मनी के बौद्ध भिक्षु तथा तरुण विद्वान् **डॉ० प्रासादिक** ने और **मैंने** इस सूत्र के भोटीय अनुवाद का विस्तृत अध्ययन किया है जिसके परिणामस्वरूप **विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र** का भोटीय संस्करण, संस्कृत उद्धार तथा हिन्दी अनुवाद तैयार हो चुका है। विस्तृत भूमिका तथा टिप्पणियों के साथ तीन भाषाओं में यह ग्रन्थ शीघ्र ही सारनाथ स्थित केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित होने वाला है।

इस सूत्र में बारह परिवर्त हैं। इसके प्रकाशन का मूलस्थल **वैशाली नगर** है। **विमलकीर्ति** एक बौद्ध गृहपति अथवा उपासक है जो बोधिसत्त्वचर्या में निष्णात और उपायकौशल्य में निपुण है। भगवान् बुद्ध का समकालीन यह उपासक सूत्र के बारह परिवर्तों में से ग्यारह परिवर्तों में प्रमुख वक्ता एवं शास्ता है। इसी कारण इस सूत्र को **विमलकीर्तिनिर्देश** कहा गया है।

२—व्यष्टि और समष्टि का तात्त्विक विश्लेषण

विमलकीर्तिनिर्देश अद्वयपरमार्थ का तात्त्विक विश्लेषण और विवेचन करता है। अद्वयपरमार्थ अथवा अद्वयधर्म की दृष्टि से व्यष्टि नामक कोई वस्तु कहीं है ही नहीं। पञ्चस्कन्ध के व्ययधर्मी संघात को कुछ लोग शरीर की संज्ञा देते हैं। इस नश्वर संघात में आत्मा, जीव, सत्त्व अथवा पुद्गल नाम की कोई चीज नहीं है। आत्मा के अभाव में आत्मीय का अभाव स्वाभाविक है। व्यक्ति के अभाव में भी व्यक्तित्व का अभाव सिद्ध है। तत्त्वचिन्तक की दृष्टि से व्यष्टि की सत्ता की कल्पना अविद्या की उपज है। प्रत्येक शरीर अग्नि की तरह निर्जीव, आकाश की तरह निःस्वभाव तथा वायु की तरह व्यक्तित्वरहित है। ऐसे शरीर को व्यष्टि नहीं समझा जा सकता है। यह भी स्वयं सिद्ध है कि पाँच स्कन्धों के संघात के बाहर भी व्यष्टि नाम की किसी वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती है। चूँकि व्यष्टि अनुपलब्ध है, अतः व्यष्टियों का संघात समष्टि भी बन्ध्या स्त्री के बच्चों के समूह की भाँति ही होगा। इस प्रकार परमार्थतः न व्यष्टि है और न समष्टि है। आत्मा की कल्पना के आधार पर परमात्मा की कल्पना की जाती है। आत्मा के अभाव से परमात्मा का अभाव फलित होता है। समष्टि की धारणा आत्मभाव और परभाव की कल्पना पर निर्भर करती है। आत्मभाव के अभाव में परभाव का अभाव निहित है। आत्मभाव एवं परभाव दोनों का अभाव होने से समष्टि का अभाव सिद्ध हो जाता है। अतएव **बौद्ध विचारकों ने नैरात्म्य को ही एकमात्र अद्वयपरमार्थ कहा है।** यह मत बहुत से लोगों को भयभीत कर सकता है। परन्तु बौद्ध दृष्टि के अनुसार यही मत युक्तियुक्त है और यही मत कल्याण का दरवाजा खोलता है।

आचार्य आर्यदेव ने एक स्थल पर लिखा है—

अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम् ।
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।।

चतुःशतककारिका १२-१३ (२८८)

३—व्यष्टि और समष्टि की एकता

उपर्युक्त चर्चा से यह भ्रान्ति होने का डर है कि बौद्ध मतानुसार न व्यक्ति है और न समाज, इसलिए दोनों की महत्ता की चर्चा करना और उनके सम्बन्ध पर विचार करना व्यर्थ है। वास्तव में ऐसी भ्रान्ति की कोई गुंजाइश बौद्ध परम्परा में है नहीं। परमार्थतः व्यक्ति एवं समाज दोनों ही असत् हैं। परमार्थ में न व्यक्ति है और न समाज है, अतः उन दोनों के मध्य संघर्ष अथवा सामञ्जस्य की समस्या भी परमार्थ में नहीं हो सकती है।

व्यक्ति एवं समाज के प्रश्न सांसारिक अथवा व्यावहारिक प्रश्न है, पारमार्थिक नहीं। चूँकि हम लोग परमार्थ की गवेषणा में रुचि नहीं रखते हैं इसलिए हमको परमार्थ चर्चा अच्छी नहीं लगती है। बौद्ध शास्त्रकारों को हमारी रुचि और अरुचि का ज्ञान था। इसलिए उन्होंने ऐसी विचार-प्रणाली प्रस्तुत की है जिसमें संसार को ही बुद्ध क्षेत्र समझकर व्यष्टि और समष्टि के भेदों का अतिक्रमण किया जा सकता है और इस प्रकार 'अद्वितीय शिवद्वार' का उद्घाटन भी सम्भव हो जाता है। **विमलकीर्तिनिर्देश** इसी विचार-प्रणाली की विस्तृत व्याख्या सफलतापूर्वक करता है। यहाँ पर हम परमार्थसत्य और व्यवहारसत्य (अथवा संवृति सत्य) के विचारों की चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि वे सुविदित विचार हैं। यहाँ पर हम इस विचार का स्पष्टीकरण करेंगे कि **परमार्थ एवं व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से व्यष्टि और समष्टि की मूलभूत एकता अथवा समता के आदर्श की व्याख्या बौद्ध तत्त्वचिन्तन का प्रमुख विषय है।**

बौद्ध तत्त्वचिन्तन न भौतिकवादी है, न समाजविरोधी है और न पलायनवादी है। समाज और संसार में रहने वाले प्राणियों के हित एवं सुख के स्वरूप की गवेषणा करना तथा उनके सम्पादन के उपायों का विकास करना बौद्धधर्म-दर्शन का मुख्य प्रयोजन रहा है। भगवान बुद्ध और उनके प्रमुख अनुयायी तत्त्ववेत्ताओं ने जिन उत्कृष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे देखने व सुनने में लोक में प्रचलित मतों के सर्वथा प्रतिकूल लगते हैं। यह बात भी बुद्धवाणी के अन्तर्गत स्वीकार की गयी है। **विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र** (द्वादशपरिच्छेद) में तथागत ने कहा है—"ये सूत्रान्त सर्वप्रकार से लोकमत के प्रतिकूल हैं, इन सूत्रान्तों को समझना, देखना और इनका

ज्ञान प्राप्त करना कठिन है।" "बुद्धप्रोक्त धर्म को अनेक प्राचीन ग्रन्थों में सर्वलोक-विप्रत्यनीको अयं धर्मो" कहा गया है। (अष्टसाहस्त्रिका पृष्ठ १५२, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र पृ० १४५, ललितविस्तर पृ० २८९)।

बौद्धमत की यह सम्भवतः सबसे बड़ी विशेषता है कि इसके अनुसार व्यक्ति एवं समाज की निःस्वभावता को ध्यान में रखकर ही उनकी सत्ता और महत्ता का समर्थन हो सकता है। ऊपर से देखने पर यह कथन विरोधपूर्ण अथवा 'पैराडाक्सिकल' प्रतीत होता है। परन्तु जैसा कि आप सबको विदित है, परमार्थ की समस्त चर्चा 'पैराडाक्सिकल' अथवा विरोधमय होती है, परमार्थ को भुलाकर सिर्फ व्यवहार की दृष्टि से **व्यष्टि** एवं **समष्टि** पर परिसंवाद करना भौतिकवादी अथवा लोकायतिक व्यापार करने के समान होगा। दूसरी ओर, व्यावहारिक तथ्यों से आँख-मुँख मोड़कर केवल अपने ही लिये सूखे और नीरस **'निव्वान'** की तलाश करना अत्यन्त क्षुद्र प्रयास करने के समान होगा। तीसरी और व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके, व्यक्तियों से बने समाज की सत्ता मान करके, इन दोनों के बीच भेद-भाव व संघर्ष-सन्तुलन की समस्याएँ निर्मित करके फिर उनको समझने-सुलझाने में लग जाना स्वयं टेढ़ा-मेढ़ा और गहरा कुआँ खोद करके उसमें गिर जाने के समान होगा।

विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र के अनुसार व्यक्ति और समाज अभिन्न है, एक है, समान है। दोनों ही परमार्थतः असत् हैं। इन दोनों की निःस्वभावता के कारण इन दोनों में एकरूपता है। आत्मा के अभाव में किसी व्यक्ति या पुद्गल की कल्पना नहीं हो सकती है। आत्मा अथवा आत्मभाव के अभाव का दूसरा नाम निःस्वभाव अथवा शून्य है। निःस्वभाव अथवा शून्य कोई व्यक्ति अथवा पुद्गल नहीं हो सकता है। अतएव व्यक्ति अनुपलब्ध है, असत् है। यही तर्क समाज की सत्ता पर भी लागू होता है और समाज का स्वभाव भी निःस्वभाव होने के कारण उसको असत् सिद्ध करता है। इस प्रकार व्यष्टि एवं समष्टि दोनों की एकता का अधिगम होता है। यह एकता अथवा सत्ता परमार्थ की दृष्टि से अधिगत होती है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर व्यवहार में भी व्यष्टि एवं समष्टि की अभिन्नता अधिगत हो सकती है। यह **विमलकीर्ति** का दावा है जो बौद्धमत का केन्द्रीय विचार है।

व्यवहार सत्य के अनुसार प्रत्येक प्राणी को भय और दुःख अप्रिय है। प्रत्येक प्राणी को जीवन प्रिय है, और मृत्यु अप्रिय है। प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है। यह सभी विशेषताएँ सभी प्राणियों में सर्वत्र विद्यमान हैं। इनके कारण सभी प्राणियों की एकता और समानता सिद्ध होती है। ईश्वरवादी परम्पराओं में सभी

प्राणियों की समानता का आदर्श इस मान्यता पर निर्भर करता है कि वे सभी एक सृष्टिकर्ता = पिता = ईश्वर की सन्तान हैं अथवा एक ही ईश्वर के अंश हैं। परन्तु बौद्ध-मत अनीश्वरवादी और अनात्मवादी है। इस मत में सभी प्राणियों की **समानता** एवं **अखण्ड एकता** के आधार हैं (१) सभी प्राणियों की अनात्मकता, (२) सभी प्राणियों की नश्वरता, (३) सभी प्राणियों की दुःखितावस्था, (४) सभी प्राणियों में सुखकामना, (५) सभी प्राणियों में भय के प्रति हेयभाव तथा (६) सभी प्राणियों में मृत्यु के प्रति हेयभाव का विद्यमान होना। ये छ तथ्य हैं। इन सार्वभौम एवं विश्वव्यापी तथ्यों के कारण प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है, आदरणीय है और परिरक्षणीय है। किसी एक व्यक्ति को अपने आपको विशिष्ट समझने का न तो बौद्धिक औचित्य है और न नैतिक अधिकार है। **परमार्थतः सभी प्राणी मायोपम, स्वप्नोपम अथवा खपुष्पवत् हैं। व्यवहारतः सभी प्राणी निःस्वभाव, दुःखी तथा मरणधर्मा है। अतएव सभी व्यक्ति और सभी प्राणी एक समान है, परस्पर अभिन्न है = परमार्थतः तथा व्यवहारतः दोनों ही दृष्टियों से वे सम हैं।**

उपर्युक्त दृष्टियों से विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, और व्यक्ति तथा समाज के बीच, जो भिन्नताएँ और विविध संघर्ष है, उनका मूल कारण अज्ञान अथवा प्रज्ञा का अभाव है। बौद्ध शास्त्रों के अनुसार आत्मवाद की भूमि पर पैदा होने वाला अहंकार अथवा आत्मभाव इसी अज्ञान का नामान्तर है। **अहंकार** और **आत्मभाव** में कोई अन्तर नहीं है। यह आत्मभाव परमात्मभाव का ही लघु रूप है और यही करुणा अथवा अहिंसा का शत्रु है। **प्रज्ञा की भूमि पर आत्मभाव की खेती नहीं हो सकती है और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भेद-भाव पैदा नहीं हो सकते हैं।** धम्मपद १२९–१३० में भगवद् वचन है—

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

आचार्य आर्यदेव ने एक कारिका में कहा है—

धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम्॥

—चतुःशतककारिका १२–२३ (२९८)

आचार्य शान्तिदेव ने **शिक्षासमुच्चय** कारिका की १ में कहा है—

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ।।

पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत उपर्युक्त चार श्लोकों से उन सभी विचारादर्शों की पुष्टि होती है जिनकी चर्चा हमने ऊपर की है। सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं, और सभी को जीवन प्यारा है, ऐसा जानकर अपने को दूसरे के समान और दूसरे को अपने समान, जानने वाला हिंसा व हत्या कभी नहीं कर सकता है। आचार्य आर्य देव ने तो केवल दो शब्दों में बौद्धमत का सारांश भर दिया है। अहिंसा सम्पूर्ण धर्म का सार है और शून्यता ही निर्वाण है। दूसरे शब्दों में महाकरुणा मार्ग है और महाप्रज्ञा चरमलक्ष्य है। व्यष्टि एवं समष्टि दोनों की व्यावहारिक सत्ता महाकरुणा पर आश्रित है और महाकरुणा की उपस्थिति में स्वार्थचिंता की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी विचार को दुहराते हुए आचार्य शान्तिदेव ने **बोधिचर्यावतार** ८–९० में कहा हैं—

"परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ।।"

जब "स्व" एवं "पर" में भेद नहीं है, अर्थात् **जब "मेरे" में और "आप" में एकता है, तब परात्मसमता अथवा परात्मपरिवर्तन ही एकमात्र सार्वभौम नियम रह जाता है। यही व्यक्ति एवं समाज की एकता का चरमोत्कर्ष है और विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र के अनुसार यही धर्म का सर्वस्व है।**

४. संसार का महत्व और बुद्धक्षेत्र का अर्थ

महायान सूत्रों का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है बुद्धक्षेत्र की महत्ता। बुद्धक्षेत्र क्या है? यह किसी काल्पनिक स्वर्ग का नामान्तर नहीं। अपितु हमारे इस संसार का ही एक सुन्दर नाम है। जिस खेत में बुद्धाङ्कुर उगते हैं और फलीभूत होते हैं उसे ही बुद्धखेत अथवा बुद्धक्षेत्र कहते हैं। भगवान् शाक्यमुनि का बुद्धक्षेत्र हमारा **सहालोकधातु** है। पाँच कषायों (क्लेशकषाय, दृष्टिकषाय, सत्त्वकषाय, आयुःकषाय एवं कल्पकषाय) से कलुषित इस सहालोक को तथागत शाक्यमुनि ने महाकारुण्य से ओतप्रोत होने के कारण स्वेच्छा से अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय एवं लोकानुकम्पाय उन्होंने इस संसार में अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का कार्यक्रम प्रारम्भ किया था। **व्यष्टि और समष्टि के व्यवहारतः तथा परमार्थतः मूलभूत**

एकत्व अथवा समत्व का ज्ञान उनकी महामैत्री का साधन और साध्य बनकर रह गया था। जिस प्रकार व्यष्टि और समष्टि में अभेद है उसी प्रकार संसार और निर्वाण में तथा साधन और साध्य में भी भेदाभाव है।

संसार का महत्व स्वीकार कर लेने पर और संसार को ही बुद्धक्षेत्र समझ लेने पर महाकरुणा अथवा महामैत्री बोधि का साधन मात्र नही रह जाती है। महामैत्री ही बोधि है और इसका साक्षात्कार इसी संसार में सम्भव हो सकता है, अन्यत्र नहीं। **रत्नमेघसूत्र** (शिक्षासमुच्चय पृ० २० में उद्धृत) में भगवान् तथागत ने कहा है—

"दानं हि बोधिसत्त्वस्य बोधिः।"

जो दानक्षेत्र है वही बुद्धक्षेत्र है। इसी को सूत्रों में करुणाभूमि, मैत्रीक्षेत्र, धर्मक्षेत्र एवं बोधिसत्त्वक्षेत्र कहा गया है। भगवान् बुद्ध का संघ अपरिमित और आकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ है। सभी परिरक्षणीय और मोचनीय प्राणी इस संघ की अनन्त परिधि के अनन्य अंग हैं। अतएव यह प्राणिक्षेत्र ही अनुत्तर पुण्यक्षेत्र है। अनुत्तर सम्यक्संबोधि की दृष्टि इसी क्षेत्र में निरन्तर असंख्य बोधिसत्त्वों द्वारा की जाती है। बुद्ध आकाश में नहीं होते हैं। जिस प्रकार पुण्डरीक पङ्क के ढेर में पैदा होता है और पङ्क से निर्लिप्त रहते हुए अपनी जन्मभूमि को रमणीक और सुगन्धित बनाता है, उसी प्रकार सम्यक्सम्बुद्ध का आविर्भाव भी संसार में होता है और संसार का अतिक्रमण करते हुए भी बुद्ध द्वारा बुद्धकार्य अर्थात् जनकल्याण का कार्य संसार में ही होता है। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि **बौद्ध परम्परा में संसार का असाधारण महत्त्व है। निवृत्तिपरक एवं त्याग प्रधान इस श्रमणधर्मदर्शन का आदि और अन्त संसार है।** बुद्ध, धर्म एवं संघ, भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक एवं उपासिका, अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्त्व—इन सभी की उत्पत्ति संसार में होती है, संसार के कारण होती है। यदि संसार नहीं होता तो निर्वाण का आदर्श, निर्वाण का मार्ग, और निर्वाणमार्ग के द्रष्टा कैसे और क्यों होते? **जब तक संसार है तभी तक बुद्ध और उनके धर्म का महत्त्व है।** संसार के न रहने पर बुद्ध और उनका धर्म दोनों ही निरर्थक हो जाते हैं। अतएव बौद्ध धर्म एवं संस्कृति में संसार का असाधारण महत्व है क्योंकि यही बोधिमण्ड है।

बोधिसत्त्वों की चर्या का क्षेत्र यह संसार वास्तव में बोधिसत्त्वों का क्षेत्र है, दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल्य, प्रणिधि, बल एवं ज्ञान की पूर्णता इसी संसार में होती है। **सम्यक्सम्बुद्धों की अचिन्तनीय महाबोधि के प्रकाश से**

यथाभूत रूप में परिज्ञात यह संसार ही बुद्धक्षेत्र है। महापुरुष की काय में प्रगट होने वाले बत्तीस लक्षण तथा अस्सी अनुव्यञ्जन इस संसार के प्राणियों के हित के लिए ही प्रगट होते हैं। बुद्ध के चार वैंशारद्यों, दश बलों तथा अठारह आवैणिक धर्मों की उपयोगिता, केवल इस संसार के कल्याण में ही है। पञ्चशील, अष्टशील एवं दसशील का, सभी प्रातिमोक्ष नियमों का, सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का, चार सत्यों का, समस्त प्रकार की समाधि एवं समापत्तियों का, चार अप्रमेय भावनाओं का, चार संग्रहवस्तुओं का, और तेरह धूतगुणों का—संक्षेप में सद्धर्म के समस्त तत्त्वों का सार्थक्य और औचित्य इस संसार में और संसार के लिए ही है। भगवान बुद्ध को इन तत्त्वों की कोई आवश्यकता नहीं होती है, निर्वाण में इनकी कोई सत्ता अथवा उपयोगिता नहीं रह जाती है। परन्तु इन तत्त्वों के बिना कोई भी व्यक्ति बुद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकता है। बुद्धत्व वही प्राप्त करना चाहता है जो संसार में रहता है। अतएव इन सभी तत्त्वों का महत्त्व संसार में रहते हुए ही हैं, संसार के बाहर नहीं। दूसरे शब्दों में संसार ही बुद्धक्षेत्र हैं, धर्मक्षेत्र है और संघक्षेत्र भी है। जो तत्त्वदर्शी है वह इस तथ्य को जानता है, उसके लिए व्यष्टि एवं समष्टि का भेद असम्भव है। उसके लिये संसार और निर्वाण दोनों में कोई भेद नहीं हो सकता है। ऐसे तत्त्वदर्शी के लिए यमकव्यत्यस्तता समाप्त हो जाती है। समस्त प्रपञ्चों का उपशमन हो जाता है। उसको सर्वत्र नैरात्म्य का दर्शन होता है। यह दृष्टिकोण केवल **विमलकीर्ति निर्देश** की विशेषता नहीं है। **आचार्य नागार्जुन** ने मध्यमा प्रतिपत्ति की, और अन्य तान्त्रिक सिद्धों ने सहजावस्था की सम्यक् व्याख्या में यही दृष्टिकोण अपनाया है। क्योंकि यही वस्तुतः विशुद्धि का अथवा शान्ति का मार्ग है। प्राचीन परम्परा के स्थविरों ने भी बुद्धवचनों का यह अंश पालि में सुरक्षित रखा है—

सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥ धम्मपद १७९।

आत्मदृष्टि सभी भेदों व क्लेशों का मूल है। स्व एवं पर का भेद इसी आस्रव पर आधारित है। व्यक्तिवाद और समाजवाद के पारस्परिक भेद एवं संघर्ष आत्मदृष्टि अथवा सत्कायदृष्टि के कारण हैं। **जिसका आत्मस्नेह समाप्त हो गया है ऐसे वीतराग बोधिसत्त्व के लिए न व्यष्टि है, न समष्टि हैं और न उन दोनों के बीच संघर्ष ही है।** **विमलकीर्तिनिर्देश** के प्रथम परिवर्त में तथागत लिच्छविकुमार **रत्नाकर** से कहते हैं—"कुलपुत्र, बोधिसत्त्व को बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि पूर्ण करने के लिए अपने चित्त की परिशुद्धि करनी चाहिए। ज्यों-ज्यों बोधिसत्त्व का चित्त परिशुद्ध होता है,

त्यों-त्यों बुद्धक्षेत्र की परिशुद्ध होती है।" व्यष्टि की परिशुद्धि पर समष्टि की परिशुद्धि निर्भर है। व्यष्टि की परिशुद्धि ही समष्टि की परिशुद्धि है क्योंकि व्यष्टि एवं समष्टि दो नहीं एक ही है। प्राचीन सूत्रों में इसी विचार को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है। धम्मपद १८३ में कहा है—

"सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानं सासनं॥"

स्वचित्तपरिशोधन होने से समस्त बुराइयाँ गायब हो जाती हैं और सभी अच्छाइयाँ जुट जाती हैं। यही बौद्धमत का सार है। इसी स्वचित्तपरिशुद्धि की प्रक्रिया से संसार का कल्याण हो सकता है और इसी पद्धति से व्यष्टि एवं समष्टि का द्वयभाव समाप्त हो सकता है। अतएव एक बार पुनः यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि **स्वचित्तपरिशोधन** वही सम्यक् प्रकार से कर सकता हैं जिसने स्व-भाव की धारणा का प्रहाण करके संसार का सच्चा स्वरूप पहिचान लिया है। संसार का सच्चा स्वरूप अथवा स्वभाव यह है कि इसमें "**स्व**" एवं "**पर**" का भेद नहीं है, यह निःस्वभाव है। स्वयं अपने को निःस्वभाव जानकर और संसार को निःस्वभाव जानकर जो संसार में बुद्धकार्य करता है उसके लिए यह संसार बुद्धक्षेत्र है।

• • •

बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति, समाज और उनका सम्बन्ध

श्री हरिशंकर सिंह

दर्शन की एक शाखा, समाज दर्शन अपने समीक्षात्मक और समन्वयात्मक पहलुओं के द्वारा समाज के विषय में नियामक अनुशासन की विवेचना करता है तथा सामाजिक तथ्यों और मूल्यों में समन्वय करता है। मानवजीवन के ज्वलन्त पहलुओं का अपने में अन्तर्भाव करने से इसकी प्रधान समस्या है समाज के दार्शनिक आधारों का पता लगाना और समाज विज्ञानों के निष्कर्षों का मानवजीवन के परम-मूल्यों के प्रकाश में मूल्यांकन करना।

हमारे समसामयिक युग में सांस्कृतिक संकट के आसार दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसके मूल कारकों के रूप में यन्त्रवाद, भौतिकवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, वर्ग-संघर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सामाजिकविघटन आदि प्रमुख हैं, साथ ही इसमें विज्ञान के प्रभाव का भी कम अंशदान, आज के समाजदार्शनिकों के अनुसार नहीं है। विज्ञान द्वारा शक्ति प्राप्त कर लेने पर भी मानव का चरित्र विकसित नहीं हुआ है, फलतः नये-नये प्रकार के शोषण और भ्रष्टाचार बढ़े हैं। मानव वैज्ञानिक विकास से अपने अस्तित्व के समाप्त हो जाने की आशंका से आज त्रस्त है। अतः समसामयिक विचारक मानवसमाज के मार्गदर्शन हेतु व्यग्र हैं। क्या इस दिशा में हम बुद्धदर्शन की ओर आशाभरी निगाह से देख सकते हैं?

हमें यह मानकर चलना होगा कि पाश्चात्य देशों में समाजदर्शन का किस तरह का विवेचन हुआ है और समसामयिक काल में जिस विकसित रूप में हो रहा है, उस ढंग की बात बौद्धदर्शन में नहीं ढूँढनी चाहिए, क्योंकि एक तो भारतीय दर्शनों की आत्मा भिन्न प्रकार की है और दूसरे बौद्धदर्शन का (अन्य भी भारतीय दर्शनों का) परम मूल्य के विषय में आग्रह भेद है। फिर भी उन समस्याओं की विवेचना जिन्हें समाजदर्शन पश्चात्य जगत में आजकल कर रहा है बौद्ध वाङ्मय में भी उपलब्ध है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्ति और समाज की जब हम आज बात करते हैं तो हम यह मानकर चल रहे हैं कि उनके अस्तित्व के होने को हम इनकार नहीं कर रहे हैं (चाहे यह स्वीकृति, दर्शन में, जिस नाम से कही जाय) और आगे भी उनके बने रहने की परिकल्पना कर रहे हैं।

बौद्धदर्शन जिस सत्यान्वेषी तथा सामाजिक क्रान्तिकारी के उपदेशों और आचरणों पर खड़ा होकर विकसित हुआ, संसार के विभिन्न देशों में फैला और आज भी लोगों को अनुप्राणित कर रहा है वह **'बुद्ध'** नाम के व्यक्ति थे जो वैराग्य और त्याग की प्रतिमूर्ति बनकर **बोधि** प्राप्त कर लेने पर भी सभी लोगों के दुःख, शोक एवं परिदेव के लिए जीवन धारण किये रहने का बार-बार आग्रह करते हैं, बोधिसत्त्व के रूप में सभी के दुःख विमोचन हेतु कलि के सभी कलुषों को अपने ऊपर आने का आवाहन करते हैं, रात-दिन जीवनपर्यन्त हर एक क्षण में लोगों को दुःख एवं पीड़ा से छुटकारा दिलाने हेतु प्रयास करने का व्रत लेकर तदनुकूल आचरण करते हैं। अतः बौद्ध दार्शनिकों को जिस तरह का समाज एवं उसकी व्यवस्था विरासत में मिली थी, उनमें अपने चरम मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में अभ्युदय और निःश्रेयस् की व्यवस्था उन्होंने स्थापित की।

बौद्धदर्शन वैराग्यमूलक है, वैराग्य में जो **प्रतिषेध** अथवा **निषेध** का संस्पर्श है वह माध्यमिक बौद्ध प्रणाली (प्रासङ्गिक माध्यमिकों का विशेषकर) की नाभि है। बिना निषेध के नवीन निर्माण असम्भव है। एक ऊँची स्थिति या सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिए सीमाओं को या छोटे-छोटे दायरों को (चाहे ये दायरे जिस भी तरह के हों, अहं सबसे छोटा दायरा या उसका और विस्तृत रूप में कोई बड़ा दायरा) टूटना होगा, तब वास्तविक और कल्याणकारी स्थिति प्राप्त हो सकेगी। स्व, अहं एवं उनसे सम्बद्ध 'मेरा' आदि अपने विविध रूपों में वस्तुतः मिथ्यादृष्टियाँ हैं। निषेध या प्रतिषेध इन्हीं मिथ्यादृष्टियों का होना है। ऐसी मान्यता के कारण, बौद्ध-दर्शन, व्यष्टि (व्यक्ति) एवं समष्टि (समाज) के लिए—जो कि अन्योन्याश्रित और परस्पर सापेक्ष हैं—वैराग्य की भावना को त्याग कर अभ्युदय की प्राप्ति का उपदेश नहीं देगा।

अभ्युदय और निःश्रेयस को **नागार्जुन** दो पुरुषार्थ मानते हैं।[1] इसके साथ ही इस प्रसङ्ग में **रत्नावली** में आचार्य ने जो विवेचना की है उससे समाज-व्यवस्था की एक रूप-रेखा का स्पष्ट संकेत हमें मिलता है। जो अभ्युदय को अपनाना चाहते हैं उनके लिए **दान** एवं **शीलादि** की विस्तार से विवेचना आचार्य **नागार्जुन** ने की है

१. धर्ममेकान्तकल्याणं राजन् धर्मोदयाय ते।
वक्ष्यामि धर्मः सिद्धि हि याति सद्धर्मभाजने॥
प्राग्धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैःश्रेयसोदयः।
सम्प्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात्॥ रत्नावली १।२–३

और पुण्यकर्म करने की बातें कही है जिससे उन व्यक्तियों को अभ्युदय की प्राप्ति हो सके, वे यश के भागी बनें और दूसरे जन्म में और अधिक अभ्युदय को (राजा या देवता के रूप में पैदा होने के रूप में) प्राप्त करें। गृहस्थों के लिए अभ्युदय के उपदेश में एवं **सातवाहन** राजा को प्रजा के सम्यक् पालन के उपदेश में जिन बातों को करने का **नागार्जुन** प्राविधान करते हैं उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अभ्युदय में वे भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि, शान्ति, सुव्यवस्था, सम्बन्धों की मर्यादा पर पूरा ध्यान दे रहे हैं और उसे हेय नहीं समझते। वे मोक्ष को भी ऐहिकता के बिना कुछ नहीं के रूप से घोषित करते हैं और ऐहिकता को महत्ता तथा अर्थवत्ता प्रदान कर **'सर्वहित'** या **'लोकहित'** को धर्म और नीति का लक्ष्य मानते हैं।[१] सुख को शारीरिक और मानसिक दो भागों में विभाजित कर[२] गृहस्थों के लिए दान, शील, क्षमा, सत्य आदि को धर्म बतलाना यह इङ्गित करता है कि आचार्य नागार्जुन का ध्यान व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं की सन्तुष्टि पर भी है, किन्तु इन सभी को **'करुणा'** के द्वारा परिचालित होना आवश्यक है। **'रत्नावली'** में आचार्य नागार्जुन यह भी स्पष्ट करते हैं कि श्रद्धा (औचित्य के प्रति वह निष्ठा जो राग, द्वेष, भय तथा अज्ञानादि के वशीभूत होकर डगमगाती नहीं) अभ्युदय का स्रोत है और निर्णायक तत्त्व भी है।[3] इतना ही नहीं वे अभ्युदय और निःश्रेयस के मध्य अविरोध मानते हैं। अभ्युदय पूर्ववर्ती है और निःश्रेयस का आश्रय भी तथा निःश्रेयस से कभी कटकर नहीं रहता। अभ्युदय सुख है और निःश्रेयस उसकी उत्कृष्ट स्थिति। उन्होंने स्व और पर, प्रवृत्ति और निवृत्ति, भावना और बुद्धि (रीजन) का समाहार लोकरञ्जन या लोककल्याण के रूप में किया और घोषणा की कि वह आचरण धर्म कहे जाने की पात्रता नहीं रखता, जिससे परद्रोह समाप्त न हो तथा लोक के प्रति अनुराग न हो।[४] स्पष्ट है कि यहाँ लोक का अहित अधर्म है। जो श्रद्धा अभ्युदय का साधन बतलायी गयी है वह प्रज्ञादीप्त श्रद्धा है, अन्धविश्वास नहीं। यही श्रद्धा प्रज्ञा से परिशुद्ध बनकर करुणा या **महाकरुणा** में परिवर्धित हो जाती है।

अतः बौद्ध समाज व्यवस्था (उसे बौद्ध समाजदर्शन भी कह सकते हैं) नीति-प्रधान, मूल्यात्मक और मध्यममार्गी है। अतः राजव्यवस्था को नागार्जुन धर्मप्रवण बनाना चाहते हैं और तदर्थ सत्य, त्याग, शान्ति और प्रज्ञा आदि गुणों को वांछनीय

---

१. मोक्षे नात्मा न च स्कन्धा मोक्षश्चेदीदृशः प्रियः।
आत्मस्कन्धापनयनं किमिहैव तवाप्रियम् ॥ रत्नावली १।४१

२. शारीरं मानसं चैव सुखद्वयमिदं मतम् ॥ रत्नावली २।४६

३. रत्नावली १।५। ४. रत्नावली ४।७४, ४।८१, ४।६।

समझते हैं। राजा को उदारचित्त, क्षमावान, कृपालु, त्यागी, दानशील और नीतिमान होने का उपदेश देते हैं। उनके अनुसार राज्य का प्रयोजन केवल प्रजा के सम्यक् परिपालन के लिए है। वे राजा को उपदेश देते हैं कि अपराधी को दण्ड दे तो उस को आकांक्षा से वैसा करे, द्वेष या अर्थलिप्सा के कारण नहीं।[1] वे हत्यारे के वध की भी दण्ड के रूप में स्वीकृति नहीं प्रदान करते, अपितु उसको पीड़ित करने और निर्विषय करने की बात कहते हैं।[2] उनका वैराग्य शरीर को कष्ट देने वाला, और सभी भोगों को हेय समझकर त्यागने का प्रतिपादन नहीं है। जिस **तृष्णा** को सभी अनर्थों की जड़ माना जाता है और जिसके निरोध को सभी बौद्ध आवश्यक मानते हैं उसे ही **बोधिसत्त्व** की घोषणा के द्वारा 'सर्वजनहित' रूपी जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य के लिए **'उपाय'** के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी तरह, यद्यपि दुःखनिरोध परम-लक्ष्य है, और दुःख को हेय माना गया है, तथापि जैसे काँटे से ही काँटा निकलता है, वैसे ही बोधिसत्त्व परदुःखविमोचनार्थ दुःख को सहर्ष भोगने को उत्सुक है। दुःख इस अवस्था में 'हेय' न होकर 'उपादेय' बन जाता है।

यह भी ध्यातव्य है कि आचार्य **नागार्जुन** राज्य के विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति के विषय में जिन अलग-अलग योग्यताओं एवं विशिष्ट गुणों की अनुशंसा करते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज की कल्याणकारी भावना के प्रति उनका दृष्टिकोण कितना यथार्थपरक है। भोग को वे सर्वथाभावेन तिरस्करणीय नहीं समझते अपितु किसी अधिकारी के लिए उसे विशिष्ट गुणों की श्रेणी में रखते हैं। जैसे दण्ड-नायक के प्रसङ्ग में वे लिखते हैं—

अक्षुद्रांस्त्यागिनः शूरान् स्निग्धान् संभोगिनः स्थिरान्।
कुरु नित्याप्रमत्तांश्च धार्मिकान् दण्डनायकान्॥
(रत्नावली ४।२५)

बौद्ध मत मानवतावादी है। वह मानव प्रयत्न को ही उसके कष्ट निवारण का साधन मानता है, भक्ति अथवा प्रसाद को नहीं। वह **'आप्त वचन'** को आँख मूदकर मान लेने का पक्षधर नहीं है। ऐसी स्थिति के कारण बौद्धमत जाति या प्रजाति का विभेद न कर मानव की समानता का पक्षधर है। वह अहिंसा और लोगों के हृदय परिवर्तन के द्वारा सर्वहित का हिमायती है, हिंसा द्वारा बलात् किसी व्यक्ति वर्ग या समाज को किसी विशेष मान्यता पर चलने के लिए बाध्य करने का समर्थक नहीं। व्यक्ति, पुद्गल नामरूपात्मक पञ्चस्कन्धों का संघात या अन्य जो भी संज्ञा दी जाय,

१. वही, ४।३१–३६। २. वही, ४।३७।

मनुष्य समाज के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध वाला है। अतः हम पाते हैं कि **बौद्धमत** नैतिक, आध्यात्मिक एवं मूल्यप्रधान समाजदर्शन है।

निःस्वभाववादी होने से **नागार्जुन** व्यक्ति और समाज दोनों को ही **प्रतीत्य-समुत्पन्न,** अतः **सांवृतिक** मानने हैं। उनका पक्ष यह है कि पुद्गल (व्यक्ति) और समाज अन्य हेतुओं और प्रत्ययों की अपेक्षा से व्यवहार का विषय बनता है, अतः प्रतीत्यसमुत्पन्न है। व्यक्ति को **माध्यमिक** 'व्यवहार सत् मात्र' ही मानते हैं, इनके अधिष्ठान जो पञ्चस्कन्धादि हैं उनकी पारमार्थिक सत्ता इन्हें मान्य नहीं है। प्रश्न है कि निःस्वभाववाद या शून्यतावाद में मानवतावाद, स्वार्थ एवं परार्थ के समन्वयरूप लोककल्याणवाद के समाजदर्शन का कोई तार्किक आधार भी है। आचार्य नागार्जुन ने **रत्नावली** में जो कुछ कहा है उसको मथने पर हमें इसका समाधान प्राप्त हो सकता है। उनका पक्ष है कि जिसकी अपनी स्वतन्त्रसत्ता होती है वह अन्य हेतुओं से पैदा नहीं होता और अनित्य भी नहीं होता। अतएव, यदि दुःख को अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाय तो अविद्या अथवा तृष्णा को उसका हेतु नहीं माना जा सकेगा। और तब दुःखनिरोध की भी बात व्यर्थ होगी। अतः प्रतिफलित हुआ कि जिसे भी नीति या धर्म की व्यवस्था देनी है उसे भावों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानना होगा और यह स्थिति तभी सम्भव है जब भावों की निःस्वभावता मान्य हो। आशय यह है कि ऐसा कोई भी भाव नहीं हो सकता जो कारणों से उत्पन्न न होता हुआ भी सत्तावाला (अस्तित्ववान) हो। अतः दुःख और दुःख के कारणों को केवल **निःस्वभावता** के आलोक में समझा जा सकता है। यही मध्यममार्ग हैं, जिसमें व्यष्टि और समष्टि की व्यवस्था बैठायी जा सकती है। निःस्वभावता जगत की परिस्थितियों की यथार्थता सिद्ध करती है। व्यक्ति और समाज प्रज्ञप्त हो रहा है, अतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु है वह प्रज्ञप्ति मात्र, स्वभावतः उत्पन्न नहीं। चूँकि स्वभावतः समुत्पन्न भावों का अस्तित्व नहीं होगा और अनुत्पन्न भावों का नास्तित्व नहीं होगा, अतः जो अस्ति-नास्ति व्यतिरिक्त होगा वह निःस्वभाव होगा। इस प्रकार की निःस्वभावता के प्रकट होते ही दोनों ही अन्तों की अयथार्थता सिद्ध हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अन्तों की दृष्टियाँ' वस्तुस्थिति से दूर हैं। अतः मिथ्यादृष्टियों के आधार पर निर्मित (सामाजिक) जीवन व्यवस्था भी, एकांगी, राग-द्वेष-मोह आदि से प्रेरित तथा संकुचित हितसाधन वाली होगी, निहित स्वार्थमूलक होगी। उससे सभी का कल्याण नहीं हो सकेगा। इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि व्यक्ति में **स्वभाववाद** की प्रेरणा से अहंकार तथा ममत्व की तीव्रता होती है। इसके प्रतिरोधी **निःस्वभावता** के द्वारा स्वभाववादी प्रेरणाएँ समाप्त हो जायेंगी, फलतः अहंकार और

ममत्व भी समाप्त होगा और तज्जनित छोटे-छोटे स्वार्थ के दायरे भी। अतः नागार्जुन की तरफ से कहा जा सकता है कि समाजदर्शन का आधार यथाभूत परिज्ञान ही होना चाहिए। **विग्रह व्यावर्तिनी** में आचार्य कहते भी हैं—**प्रभवति च शून्येतेयं प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः॥**

जो लोग बौद्धमत पर निषेधात्मक और भिक्षुप्रधान मत होने का दोष लगाते हैं उन्हें रत्नावली को माध्यम बनाकर समाधान मिल सकता है। महायान का निर्वाण अपने उत्कृष्ट रूप में ऐहिकता को ही महत्त्वप्रदान करने वाला है। **नागार्जुन** को जगत, मानवसमाज और उसके अभ्युदय की अवहेलना अभीष्ट नहीं है।

यह भी आक्षेप किया जाता है कि बौद्धदेशना में **'काम** और **अर्थ'** इन दो पुरुषार्थों को 'मूल्य' नहीं दिया जाता, जब कि ये दोनों समष्टि के अनिवार्य अंग हैं। किन्तु **रत्नावली** में हम इस आक्षेप का भी परिहार पाते हैं। बौद्धदेशना में यह माना गया है कि मानवसंतति अनन्तकाल तक चलती रहेगी और इसीलिए बोधिसत्त्व अनन्तकाल तक लोककल्याण में प्रयत्नरत रहने की प्रतिज्ञा करता है। जिस **अभ्युदय धर्म** की बात आचार्य नागार्जुन ने कही है। वह काम और अर्थ दोनों को अपने में अन्तर्भाव किये हुए हैं। उसके लिए मर्यादायें अवश्य बाँधी गयी हैं, किन्तु मर्यादा बद्ध होने से वे **'मूल्य'** की कोटि में नहीं रह गये, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ, उन्हें चरम पुरुषार्थ नहीं माना गया है, (परममूल्य नहीं माना गया है) और सम्भवतः साम्यवादियों तथा विशुद्ध भौतिकवादियों के अतिरिक्त कोई भी मत 'अर्थ एवं काम' को परमपुरुषार्थ नहीं मानता। दान आदि की नैतिक मूल्य के रूप में मान्यता, यह स्पष्ट कर देती है कि अर्थ का मूल्य समाज में है। किन्तु इसके उपार्जन के लिए उचित साधन को ही वांछनीय माना गया।

इस प्रकार हमारे लिए **माध्यमिक दर्शन** में वे सूत्र हैं जो हमारी आज की समस्याओं (व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्ध को लेकर जो संकट की समस्या है) को सुलझाने में आलोक प्रदान कर सकते हैं।

• • •

बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि

डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य

दर्शन जीवन सम्बन्धी चिन्तन का नाम हैं। इसमें ऐहिक और पारलौकिक जीवन का विचार किया जाता है। भारतीय दर्शन में प्रारम्भिक काल से ही जीवन के विविध पक्षों पर विचार किया जाता रहा है। बौद्ध दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यहाँ भी व्यक्ति, समाज, उनके सम्बन्ध और विकास पर विचार किया गया है।

बौद्ध विचारधारा के विविध सम्प्रदाय हैं। उनमें व्यक्ति के स्वरूप पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया गया है। कोई भी बौद्ध सम्प्रदाय शाश्वत आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः **रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा** और **संस्कार** ये पञ्चस्कन्ध ही समस्त जड़ चेतन जगत के मूल हैं। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति के अस्तित्व की प्रकल्पना की जा सकती है। किन्तु व्यक्ति इन पर आधारित इनसे भिन्न कोई परमार्थ सत् वस्तु नहीं है। यद्यपि कुछ बौद्धों ने पुद्गल नाम से व्यक्ति के एक रूप की कल्पना की थी, तथापि विद्वानों का विचार है कि वह केवल **वात्सीपुत्रीय वैभाषिकों** का मन्तव्य है। परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने उसे बुद्ध सम्मत नहीं माना। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन में व्यक्ति के लिये सत्त्व शब्द का भी प्रयोग किया गया है। वस्तुतः बुद्ध की दृष्टि से यह पुद्गल या सत्य के एकत्व की भावना विकल्पमात्र है। वहाँ व्यक्ति की व्यावहारिक सत्ता तो स्वीकार की गयी है किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं। पाँच रूपादि स्कन्धों में ही सत्त्व, व्यक्ति या पुद्गल आदि की दृष्टियाँ की जाती हैं। बुद्ध ने स्वयं कहा है—

"यथोक्तं भगवता ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेते पञ्चोपादानस्कन्धानिति (प्रज्ञाकरमति, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९०१), पृ० ४८८) जिस प्रकार उदकाहरण आदि कार्य करने के कारण रूपादि ही घट कहलाते हैं—**घट इत्यपि रूपादय एवैकार्थक्रियाकारिणस्तथा व्यपदिश्यन्ते** (न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका

(चौखम्बा, १९८२ वि०, पृ० २२६) उसी प्रकार ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि कार्य करने के कारण रूपादि का समुदाय सत्त्व, आत्मा या व्यक्ति कहलाता है। रूपादि से अतिरिक्त सत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है। बुद्ध ने तृष्णा को दूर करने के लिए एक शाश्वत आत्मा का विरोध किया था। **धर्मकीर्ति** ने प्रमाणवार्त्तिक में बतलाया है—

सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः।

यैवाहमिति धीः सैव सहजं तत्त्वदर्शनम्॥ (प्रमाणवार्त्तिक १।२०२)

इसे स्पष्ट करते हुए **वाचस्पतिमिश्र** कहते हैं—यद्यपि स्कन्ध क्षणिक हैं तथापि अनादि अविद्या की वासना से प्राणी 'यह एक अहङ्कार का आश्रय सत्त्व है इस भ्रान्ति से सुखी होऊँ, दुःखी नहीं, इस प्रकार की तृष्णा करता हुआ प्रवृत्त होता है। **"यद्यपि विशरारवः स्कन्धास्तथाप्यनाद्यविद्यावासनावशोऽयमेकमहंकारास्पदं सत्त्वमित्यभिमन्यमानः सुखी भवेयं दुःखी माभूवमिति तृष्णक् प्रवर्त्तत इत्यर्थः"** (न्याय वार्त्तिकतात्पर्य टीका, पृ० ५०७)। इस प्रकार के विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्धों के इस अनात्मवाद में शाश्वत आत्मा तो नहीं है फिर भी अहं इस प्रतीति का विषय विकल्प से जानने योग्य व्यक्ति अवश्य है। आधुनिक युग के बौद्धदर्शन के विद्वान् श्चैरवात्स्की ने बौद्धों के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

This stream of elements kept together and not limited to present life but having its roots in past existences and its continuation in future ones, is the Buddhist counterpart of the soul or the self of other systems. (Central Conception of Buddhism, London 1923-P. 22, L. 141)

बौद्ध न्याय में जो विश्व के तत्त्वों को **स्व-लक्षण** और **सामान्य लक्षण** के रूप में देखा गया है उसमें कभी-कभी स्वलक्षण को व्यक्ति का समानार्थक सा समझ लिया जाता है और यह भी मान लिया जाता है कि व्यक्ति परमार्थसत् है। तथ्य यह है कि बौद्ध न्याय में "अर्थक्रियासामर्थ्य" ही वस्तु का लक्षण है—**"अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः**। (धर्मकीर्ति, न्यायविन्दु, १. १५)। अतः रूपादि स्कन्धों के समुदाय में जो जलाहरण आदि का सामर्थ्य है, वही वस्तुसत् है। रूपादि का समुदाय वस्तु सत् नहीं। न ही समुदाय पर आश्रित कोई समुदायी या अवयवी वस्तुसत् है। इस प्रकार व्यक्ति या सत्त्व एक व्यावहारिक पदार्थ है, परमार्थ सत् नहीं, इसका ज्ञान विकल्प से होता है।

व्यक्ति के समान ही व्यक्तियों का समुदाय जो समाज है उसके विषय में भी कहा जा सकता है। किन्तु जैसा अभी ऊपर सङ्केत किया गया है बुद्ध ने तृष्णा की निवृत्ति के लिए ही आत्मा की शाश्वत सत्ता का निषेध किया था। व्यक्ति और समाज तथा इनके सम्बन्धों का उन्होंने कहीं प्रतिवाद नहीं किया। बुद्ध का समस्त जीवन जनहित में लगा रहा। बुद्ध की करुणा अनुपम है। संसार के दुःखों की पङ्क में फँसे हुए प्राणियों के उद्धार के लिए ही उन्होंने देशना की थी। **वाचस्पतिमिश्र** जैसे बौद्ध मत के आलोचक भी इसे स्वीकार करते हैं। न्यायकणिका (मेडीकल हाल, काशी, पृ० ११०-१११) परवर्ती बौद्ध दर्शन में तो यहाँ तक स्वीकारा गया है कि नैरात्म्य साक्षात्कार करने के अनन्तर ही सर्वज्ञ जनहित का उपदेश करता है (द्र० न्याय-कणिका पृ० ११२-११३)।

भगवान् बुद्ध ने स्थान-स्थान पर व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए उपदेश दिया है। उनके अष्टाङ्गिक मार्ग में कुछ व्यक्ति के लिये भी है और कुछ समाज के लिये भी। जहाँ सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प को, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि को व्यक्ति का हितकारी धर्म कहा जा सकता है, वहीं सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका और सम्यक् प्रयत्न—ये सभी समाज हितकारी कर्म ही हैं। सम्यक् जीविका और सम्यक् धर्म की यह भावना व्यक्ति को समाज में उचित कर्म करने की प्रेरणा देती है।

भगवान बुद्ध ने तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक बुराइयों, रूढ़ियों, अन्ध-परम्पराओं का अपने मधुर उपदेशों से निराकरण किया। वह सब समाज-कल्याण की भावना ही है। उन्होंने समाज में जन्म से किसी को ब्राह्मण या अन्य नहीं माना। उन्होंने स्पष्ट कहा—**न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं, अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।**

(धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो, १४) संस्कृत पुस्तकालय, चौ० वा० न० ९७, कचौड़ी गली, वाराणसी, १९७१।

पालि साहित्य से विदित होता है कि पदे-पदे सामाजिक कार्यों में होने वाले सन्देहों को उन्होंने दूर किया और समाजकल्याण के लिये आवश्यक उपदेश दिया। उनके उपदेश अमर हैं। वे सदा व्यक्ति और समाज के मङ्गल के लिए समर्थ हैं।

आयुष्मान् आनन्द को सम्बोधित करते हुए जो उन्होंने वज्जीगण के विषय में कहा था, वह आज भी गणतन्त्र राष्ट्रों के लिए एक अमूल्य उपदेश कहा जा सकता है। भगवान् ने उन्हें सात **अपरिहाणीय धर्म** के रूप में बतलाया था। वे सात धर्म हैं—(१) निरन्तर मिलकर बैठना, (२) मिलकर कर्तव्यों को पूरा करना, (३) विधान के अनुसार कार्य करना, (४) सम्माननीयों का सम्मान करना, (५) स्त्री जाति का सम्मान करना, (६) धार्मिक कृत्यों का पालन करना, (७) ज्ञानियों और धर्मवृद्धों की रक्षा करना।

महापरिनिब्बानसुत्त में ऐसे अनेक उपदेश उपलब्ध होते हैं जिनमें व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण निहित है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म और दर्शन **व्यक्ति** और **समाज** के सम्बन्धों के प्रति सदा सतर्क रहा है। उसका लक्ष्य केवल निर्वाण नहीं है, अपितु जनहित है और विश्वकल्याण है।

● ● ●

बौद्ध व्यष्टिवाद की आंशिक समष्टिवादी परिणति की सम्भावनाएँ

डॉ० हर्षनारायण

धर्म के अनेक आयाम, अनेक पक्ष सम्भव हैं। धर्म व्यष्टिपरक हो सकता है, समष्टिपरक हो सकता है; परलोकसाधक हो सकता है, लोकसाधक हो सकता है। यदि उसका अर्थ और व्यापक करें तो उसके अन्तर्गत हर प्रकार का कर्तव्याकर्तव्यविवेक आ जाता है। **व्यासभाष्य** की घोषणा है कि धर्म किसी भी वस्तु के स्वरूप का धारक है, **महाभारत** की घोषणा है कि धर्म समाज का धारक है, **अथर्ववेद** की घोषणा है कि धर्म पृथ्वी का धारक है, **तैत्तिरीयारण्यक** की घोषणा है कि धर्म सम्पूर्ण जगत् का धारक है। किन्तु **बुद्ध** का धर्म शतप्रतिशत निर्वाण-धर्म है, जिसे लोक की विवृद्धि से कोई प्रयोजन नहीं—**'न सिया लोकवड्ढनो', 'न पुत्तमिच्छे, न धनं, न रट्ठं'** ।

वस्तुतः, बुद्ध लोक के सम्बर्द्धन के प्रति कहीं भी प्रतिश्रुत, प्रतिबद्ध नहीं दिखायी देते। इनकी दृष्टि में तो लोक धाँय-धाँय जल रहा है, जिसमें फंसना नहीं बल्कि बचना ही श्रेयष्कर है। **मुहम्मद** के आरम्भिक उपदेशों में इनकी हश्र-चेतना कैसी तीक्ष्ण है ? बुद्ध की दाह-चेतना तीक्ष्णतर प्रतीत होती है वस्तुतः इतनी तीक्ष्ण कि उसकी चिन्ता में उन्हें तत्त्वज्ञान, तत्त्वमीमांसा, की बातें बिलकुल नहीं सुहातीं।

निश्चय ही बुद्ध लोक में प्रवृत्ति नहीं, लोक से निवृत्ति और निर्वृति (निर्वाण) का सन्देश लाये थे, समष्टि की समस्याएँ सुलझाने नहीं आये थे। अतः उनसे किसी समाज-दर्शन की आशा व्यर्थ है। वे प्रचलित समाजव्यवस्था की अतियों पर यदा कदा, अनुषङ्गतः कटाक्ष अथवा आक्षेप करके रह जाते थे। समाज-व्यवस्थापन उनका कार्य-क्षेत्र ही नहीं था। वे अन्य अनेक शास्ताओं, पैगम्बरों के समान कोई लौकिक कर्तव्याकर्तव्यशास्त्र, कोई शरीअत, लेकर नहीं आये थे। उन्होंने शास्त्र दिया, किन्तु श्रमणों को, अथवा श्रामण्य-प्रयोजक। यह दूसरी बात है कि उसका विनियोग समष्टि के हित में भी किया जा सकता है, जिस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

बुद्ध की समष्टि-निरपेक्षता उनका दोष नहीं मानी जा सकती। जो उनका क्षेत्र ही नहीं है उसमें उनके अप्रवेश पर चिन्ता व्यक्त करने का कोई कारण नहीं। बुद्ध उत्कट तात्त्विक दुःख-चेतना से त्रस्त मानव के मसीहा बनकर आये थे, उसके त्राणार्थ निर्वाण का सन्देश लेकर।

बौद्ध धर्म-दर्शन मूलतः एक समष्टि-निरपेक्ष धर्म-दर्शन है। सम्यक् सम्बुद्ध की सम्यक्सम्बोधि **आर्यसत्य-चतुष्टय** में सन्निहित है, उसका शेषांश—**क्षणभंगवाद** एक-विध अथवा द्विविध **नैरात्म्यवाद** आदि—विस्तार-मात्र है, अनुषंग-मात्र है। इसी प्रकार बौद्ध **निर्वाण-दृष्टि** बौद्धदर्शन की आधारशिला है, द्रव्य है, जब कि मूलतः तत्प्रयोजक, किन्तु प्रसंगतः समष्टि-साधक बौद्ध अष्टांग मार्ग, महाकरुणा, बुद्धिवाद, आदि को गुण-मात्र, पर्याय-मात्र माना जा सकता है।

तथापि गुण-भाग, पर्याय-भाग, में इतनी क्षमता निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर समष्टि के गठन में पर्याप्त सहायता मिल सकती है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

इस सन्दर्भ में **अशोक** का नाम वरवश स्मरण आता है। बौद्ध धर्म-दर्शन मूलतः समष्टि के गठन में धर्म के समष्टि-व्यवस्थापक रूप पर ही बल दिया, और निर्वाण-धर्म को एकदम भुला दिया। यह एक सारगर्भ तथ्य है कि उसके शिला-लेखों में निब्बान शब्द का उल्लेख तक नहीं होने पाया है, यहाँ तक कि निर्वाण-धर्म की उसके द्वारा की गयी इस उपेक्षा के आधार पर कई लोग उसके बौद्ध होने में ही शंका करने लगते हैं।

वस्तुतः समष्टि के प्रति बौद्ध-मनोवृत्ति सुस्पष्ट है। बौद्ध धर्म-दर्शन मूलतः एक अणुवादी (श्रमणवादी) गणवादी, तथा व्यष्टिवादी दर्शन है, जिसके अनुसार समष्टि तात्त्विक नहीं, अपितु संवृति-मात्र, सामान्यलक्षण-मात्र, नाम-मात्र, अतः भ्रान्ति-मात्र है। इस प्रकार बौद्ध दृष्टि में समष्टिदृष्टि का मिथ्यात्व ही निष्पन्न होता है। अतः यह दृष्टि सम्भूयसमुत्थान से सर्वथा वेमेल है। बौद्धसंघ समष्टि-चेतना का नहीं, अपितु सामूहिक एकात्मिकता का परिचायक है।

बुद्ध संसार को दुःखमय मानते हैं—**'सर्वं दुःखम्'**। दुःखता भी तीन प्रकार की—दुःख-दुःखता, सङ्खार-दुःखता, और विपरिणाम-दुःखता। संसार की एवंविध दुःखता, दुःख-रूपता, औपाधिक अथवा नैमित्तिक नहीं है, जो उपाधि अथवा निमित्त को दूर कर देने से दूर हो सके। **दुःख-रूपता** संसार का स्वरूप-लक्षण है, स्वाभाविक धर्म है। ऐसा नहीं कि संसार सुखरूप बन सकता था, उसे हमने दुःखरूप बना दिया है। संसार का स्वभाव ही दुःखता है। संसारोच्छेद के बिना दुःखोच्छेद असम्भव है।

वल्लभ आदि संसार और जगत् में भेद करते हुए कहते हैं कि जगत् **सत्य** और **ब्रह्मस्वरूप** है, किन्तु हमारे अज्ञान ने उसे संसार-रूप दे रखा है, जो मिथ्या है अर्थात्

संसार का वास्तविक स्वाभाविक स्वरूप कुछ और ही है और हमने उसे मिथ्या रूप दे रखा है। अनेक दार्शनिकों का मत है कि संसार को संवार कर भूतल पर स्वर्ग उतारा जा सकता है। किन्तु बुद्ध संसार के प्रति ऐसा दृष्टिकोण नहीं रखते। वे इस बात की प्रशंसा तो करते हैं कि प्राचीन काल में सब लोग स्वधर्म-स्वकर्म-निरत थे, किन्तु उनकी प्रशंसा का यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि यदि सब लोग स्वधर्म स्वकर्म के प्रति निष्ठावान् हो जायँ तो उनके **'सब्बं दुक्खं'** सिद्धान्त की सार्थकता में कोई कमी आएगी। उनके कथन का तात्पर्य बस इतना हो सकता है कि यदि संसार में रहना ही है तो धर्म-कर्म-निष्ठ होकर रहना अधिक उपादेय है। यहाँ बुद्ध लोकव्यवहार की भाषा बोलते पाये जाते हैं, और लोकव्यवहार, लोकसंवृति, उनका विषय ही नहीं है।

बुद्ध का दुःख-विश्लेषण **मार्क्स** प्रभृति समष्टिवादियों के दुःख-विश्लेषण से तत्त्वतः भिन्न है। मार्क्स के अनुसार एक प्रकार के दुःख **प्रकृति-जन्य** हैं, जो प्रकृति पर विज्ञान की उत्तरोत्तर विजय के कारण तेजी से कम होते जा रहे हैं; दूसरे प्रकार के दुःख **मानव-जन्य** हैं, जो न्यायानुप्राणित शोषणविहीन लोकव्यवस्था स्थापित करके दूर किये जा सकते हैं। **बुद्ध** व्याधि, जरा, मृत्यु रूपी दुःखों की चर्चा करते हैं। विज्ञान इन दुःखों का आमूल उच्छेद करने के लिए कटिबद्ध है। बुद्ध इन दुखों को स्वीकार करके रह जाते हैं और झट निर्वाण, संसारोच्छेद का नुस्खा पेश कर देते हैं, जबकि विज्ञान जीवन का उच्छेद किये बिना इनके उच्छेद के लिए वद्धपरिकर है, और इस दिशा में उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

दुःख चेतना, करुणा, महाकरुणा को जन्म देती है। यह करुणा श्रावक और प्रत्येक बुद्ध में सत्त्वावलम्बना होती है। दुःखग्रस्त प्राणियों के दर्शन से उत्पन्न होती है, जबकि सम्बुद्ध में वह वस्तुधर्मा होती है। वस्तुतः बुद्ध की दुःख-दृष्टि आरम्भ में तो सत्त्वावलम्बना ही होती है, किन्तु वह आगे चलकर वस्तुधर्मा होती है अर्थात् बुद्ध का दुःख अनन्तः भौतिक और मानसिक न रह कर आध्यात्मिक हो जाता है। उनकी करुणा की भी यही दशा है। सत्त्वावलम्बना दुःखता और तज्जन्य तत्त्वावलम्बना करुणा ही वस्तुधर्मा दुःखता की जनक है, और वस्तुधर्मा दुःखता वस्तुधर्मा करुणा को जन्म देती है। अतः कहा जा सकता है कि यदि प्राणी दुःख से मुक्त हो जायँ तो वस्तुधर्मा दुःखता भी निवृत्त हो जायगी।

जहाँ तक **निर्वाण** का प्रश्न है। जो बुद्ध धर्म का चरम लक्ष्य है, वह समष्टि के बहुत काम का नहीं। देखिए, सोपाधिशेष निर्वाण की दशा में अर्हत् अपने को लोक से असंपृक्त रखता है, क्योंकि उपादान-रूपी इंधन तब भी विद्यमान रहता है और

तृष्णा की अग्नि कभी भी भड़का सकता है। निरुपधिशेष निर्वाण में चित्त तो शेष रहता है, किन्तु वह बुझी हुई अग्नि अथवा प्रशान्त, गम्भीर महासागर के समान होता है, जो कि समष्टि के काम का नहीं। वस्तुतः निर्विवासु के लिए पुण्य कार्य (Moral activity) भी वर्जित ही समझिये, क्योंकि पुण्य भी संसार-साधक है, निर्वाण-साधक नहीं, निर्वाण पूर्ण नैष्कर्म्य की अवस्था है। निर्विवासु गैंडे के समान एकाकी, निर्द्वन्द्व, निस्सम्बन्ध विचरण करता है। इस सम्बन्ध में एक अमेरिकी विद्वान् Melford E. Spiro का वक्तव्य है—

'I know of no Political, social or economic action in any Buddhist society that can be systematically traced to nibbanic Buddhist, even in Asokan quize.'[१] रही भूत-दया की बात, तो उनका प्रमाण भी बौद्ध समाजों में अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक नहीं मिलता। **सर जार्ज स्काट बर्मी** बौद्धों को निर्दयता-निष्ठुरता का चित्रण करते हुए लिखते हैं—This doctrine of kamm (karma) also accounts for the equinicity and callousness with which Buddhists view human misery and the taking of human life···· they recognize apathetically the working out of inexerable destiny and watch a man drowning in the river with undisturbed tranquillity for they are not called upon or even justfied in stirring a hand to prevent it. You cannot combat manifest fate[२].

मांग मांग (Maung Maung) नामक समसामयिक बर्मी विद्वान् लिखता है—People who would give all their savings to a religious festival, toward the building of a pagoda, or covering the images at the temple with gold leaves, go about unmoved when unfortunate children under in search of homes or go waste in need of schooling[3]. इसी प्रकार **चीनी बौद्ध ताओ-वादी** भी मानवीय पीड़ा के प्रति उदासीन बतलाये जाते हैं।

उपर्युक्त विचारणा से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म मूलतः या तत्त्वतः एक नितान्त निवृत्ति-प्रधान धर्म है, जिसका लक्ष्य है संसार का आत्यन्तिक-उच्छेद और

1. Melford E. Spiro **Buddhism and Seciety** (London George Allen & Unwin, 1971) P. 431.
2. Shway yoe (Games George scott) **The Burma his life & notions** (London Macmillen & Co. 1896), P. 430.
3. Maung Maung, Law and custom in Burman (The Burmese) Family (the Hogue Marlinus Nyhoff, 1963), P. 81.

मार्ग है समष्टि से आत्यन्तिक विरक्ति। किन्तु आज **निर्वाणीय बौद्धधर्म** और **अशोकीय बौद्धधर्म** के भेद को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। अशोक ने बौद्ध-धर्म को अपनाया अवश्य, किन्तु उसके निवृत्यंश को हटा कर। बौद्ध धर्म का निवृत्यंश-निवृत्त शेषांश निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का साधक बन सकता है। **अशोक** ने उसका विनियोग समष्टि के उन्नयन में किया। अशोक-पथ के प्रशंसकों का मत है कि धर्म के किसी भी रूप के फलीभूत होने के लिए उपयुक्त लोकव्यवस्था अनिवार्य है। उपयुक्त लोकव्यवस्था के निर्माणार्थ सामाजिक न्याय, नैतिकता, आर्थिक-राजनीतिक स्थायित्व आदि परम आवश्यक हैं, और तदर्थ बुद्ध की शिक्षा की आंशिक सामाजिक-राष्ट्रिय परिणति सम्भव है। वस्तुतः **दीघनिकाय** के **चक्कवत्ति-सुत्त** (पाथिक-वग्ग ३ के तृतीय सुत्त) में एक चक्रवर्ती सम्राट की भविष्यवाणी की गयी है जो सप्तम पुत्त, लक्खण-सुत्त के अनुसार ३२ महापुरुषलक्षणों से युक्त होगा, और **धर्मचक्र-प्रवर्तन** के द्वारा धरती पर धर्म राज्य की स्थापना करेगा। ध्यातव्य है कि ३२ महा-पुरुष-लक्षण उक्त चक्रवर्ती और बुद्ध में समान होंगे। जो उक्त लक्षणों से सम्पन्न जन्म लेगा, उसके सामने दोनों मार्ग खुले हैं—वह **बुद्ध** भी बन सकता है और **चक्रवर्ती** सम्राट् भी बन सकता है, किन्तु एक साथ दोनों नहीं। इसी अवधारणा के बल पर बर्मी बौद्धों ने एक भावी राजा की कल्पना की है जो सुराज्य की स्थापना करेगा।

वस्तुतः बौद्ध धर्म में मानवीकरण की अद्भुत क्षमता विद्यमान है। उसने अनेक आदिम, प्राकृत हिंस्र, वन्य जातियों को दया-दाक्षिण्य का पाठ पढ़ा कर उन्हें संस्कृत मानव के रूप में परिणत कर दिया। इसकी तुलना ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिणति के केवल एक उदाहरण से की जा सकती है। अति प्राचीन आर्य आमिष भोगी थे, किन्तु कालान्तर में प्रायः जाति की जाति निरामिषभोगी बन गयी। धर्म, निवृत्तिपरक धर्म भी जीवन को कितना प्रभावित कर सकता है और समष्टि के लिए कितना उपयोगी हो सकता है, यह उपर्युक्त तथ्यों से भलीभाँति समझ में आ सकता है।

बुद्ध प्रव्रज्या और श्रामण्य पर बल देते हैं, किन्तु उन्होंने कई स्थलों पर उसके लाक्षणिक अर्थ किये हैं। **संयुत्तनिकाय** के **हालिद्दिकानि-सुत्त** में इस प्रकार के लाक्षणिक अर्थ अधिक स्पष्ट हुए हैं। इसके आधार पर वर्तमान परिस्थिति में संसार से शारीरिक स्तर पर नहीं बल्कि मानसिक स्तर पर निवृत्ति पर्याप्त मानी जा सकती है। आज गीता का **निष्कामकर्म** अथवा **अनासक्ति** का सिद्धान्त कुछ उसी प्रकार से समझा जाता है। ऐसी अवस्था में अहन्ता-ममता, राग-द्वेष से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति समष्टि का अंग होकर भी मन से विरक्त ही कहा जा सकता है।

● ● ●

सामाजिक संघटन की उत्पत्ति और बौद्ध दृष्टिकोण

डॉ० प्रतापचन्द्र

अनेक व्यक्त तथा अव्यक्त कारणों से भारतविदों का एक बड़ा वर्ग पालि त्रिपिटक में संगृहीत समाज दर्शन परक विचारों की अनदेखी करता आया है। प्राचीन भारत में सामाजिक संगठन सम्बन्धी चर्चाएँ सामान्यतः कुछ इने गिने संस्कृत ग्रन्थों को आधार मानकर होती आयी है। इस एकाकीपन को श्लाघ्य मानना कठिन है। इसका निदान किये बिना प्राचीन भारतीय समाज दर्शन का एक समग्र-ग्राही संतुलित तथा वस्तुनिष्ठ चित्र भी विकसित नहीं हो सकेगा। समाज की उत्पत्ति, प्रयोजन, वर्णव्यवस्था, विभिन्न वर्णों के कर्तव्य आदि अनेक प्रश्नों पर प्राचीन भारतीय मनीषी एकमत नहीं थे। वैज्ञानिक इतिहास लेखन यह माँग करता है कि विविधता को एक काल्पनिक समरूपता के आवरण में छिपाने के स्थान पर उसका उचित सम्मान किया जाय।

यह प्रश्नातीत है कि आदि **बौद्धों (थेरवादियों)** का ध्यान मुख्य रूप से उस अन्तिम लक्ष्य पर केन्द्रित था जिसे प्राप्त करने के उद्देश्य से ही नर-नारी अपना सर्वस्व त्याग कर संघ में सम्मिलित हो रहे थे। अस्तित्व मात्र की मौलिक एवं अनिवार्य दुःखमयता तथा उससे मुक्ति का उपाय—ये निश्चय ही ऐसे विषय हैं जो गहरी लगन तथा एकाग्रता की अपेक्षा रखते हैं। इसके बावजूद त्रिपिटक में ऐसे प्रसंगों का अभाव नहीं है जिनका इन परम लक्ष्यों से प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। यह भी एक प्रचलित धारणा है कि तथागत सिद्धान्ततः **तत्त्वमीमांसा** तथा **विश्व-विज्ञान** परक प्रश्नों में उलझने के विरुद्ध थे क्योंकि उनकी दृष्टि में इनका निर्वाण प्राप्ति से कोई सरोकार नहीं है। मैंने अन्यत्र बुद्ध के तथाकथित **'मौन'** का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है[1]। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मेरे विचार में बुद्ध **विश्व-विज्ञान** के प्रति उदासीन नहीं थे। परिव्राजक होते हुए भी सुगत तथा उनके सहकर्मी समाज से हटे हुए नहीं थे। वे अपनी युगान्तरकारी कुशाग्र बुद्धि द्वारा अपनी परिस्थितियों का विश्लेषण करते थे तथा जिसे अनुचित समझते थे, उसका

---

१. द आर्यन पाथ (बम्बई) के १९६९ के दो अंकों (जुलाई-अगस्त तथा सितम्बर-अक्टूबर में प्रकाशित लेखक का निबन्ध 'द अलेन साइलेन्स आव द बुद्ध'।

स्पष्ट शब्दों में प्रतिवाद भी करते थे। समाज के प्रति अपने दायित्व के प्रति वे उस युग के कुछ अन्य श्रमणों की अपेक्षा अधिक सचेत प्रतीत होते हैं।

बुद्ध की गहन मानववादी दृष्टि उनके समाज दर्शन की अन्तर्वस्तु को निर्धारित करती प्रतीत होतीं है। वे मानव को मानव होने के नाते महत्त्वपूर्ण मानते थे तथा किसी मानवेतर सत्ता को मानव का भाग्य-विधाता मानने को तैयार नहीं थे। **पहली** मान्यता का परिणाम था जन्म से सम्बद्ध कैसी भी विषमता का निरपवाद विरोध। **दूसरी** के फलस्वरूप हमें बुद्ध का पूर्णतः आत्मसंगत क्रियावाद प्राप्त होता है। त्रिपिटक में अनेक स्थानों पर सुगत ब्राह्मण वर्ण की सर्वोच्चता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए चित्रित हुए हैं, यद्यपि मेरी समझ में यह ब्राह्मण-द्वेष का साक्ष्य नहीं कहा जा सकता[१]। बुद्ध विषमता के विरोधी हैं। परिणामतः वे किसी भी वर्ण को मुक्ति प्रयास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मामले में विशेष अधिकार नहीं देते।

मानव का अर्थ है स्वयं अपने लिए निर्णय लेने में सक्षम बुद्धि से युक्त प्राणी। **अङ्गुत्तरनिकाय** का एक उद्धरण यह स्पष्ट करता है कि बुद्ध के अनुसार मानव की वर्तमान अवस्था न **ईश्वर** कृत है (इस्सरनिम्मान हेतु) और न ही **पूर्वजन्म** के कर्मों का यान्त्रिक परिणाम (पुब्बेकत हेतु)। **अकारण** (अहेतु अपच्चया) होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता[२]।

सामाजिक संघटन की उत्पत्ति का इन दोनों मौलिक मान्यताओं से सीधा सम्बन्ध है। इस संक्षिप्त निबन्ध में मेरा अभीष्ट केवल एक उद्धरण के विश्लेषण की सहायता से इस मुद्दे पर प्रकाश डालना है। यह उद्धरण है **दीघनिकाय** का **'अग्गञ्ञ-सुत्त'**[3]।

बौद्धविदों की इस सभा के समक्ष इस महत्त्वपूर्ण संवाद के अंशों को उद्धृत करना आवश्यक है। मुझे जिन पाँच बातों ने विशेष रूप से प्रभावित किया है केवल उन्हीं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा।

संवाद का प्रारम्भ ब्राह्मण-वर्ण की सर्वोच्चता के दावों के विवेचन के साथ होता है। ब्राह्मणों का कहना है कि वे सुन्दर वर्ण के हैं, शुद्ध हैं, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने वाले पुत्र हैं और फलतः ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं। इन शब्दों से स्पष्ट

---

१. लेखक की पुस्तक 'आदि बौद्ध दर्शन : अनात्मवादी परिप्रेक्ष्य' (मैकमिलन, १९७८) पृ० २४६।

२. अंगुत्तर निकाय (नालन्दा नागरी सं०) जिल्द १, पृ० १६०।

३. दीघनिकाय (नालन्दा नागरी सं०) जिल्द ३, विशेष रूप से पृ० ७३।

है कि आदि बौद्धों को **'पुरुष-सूक्त'** में वर्णित सामाजिक संघटन तथा उसके आधार का न्यूनाधिक ज्ञान था। समाज दर्शन की पदावली में इसे **'अवयवी एकता का सिद्धान्त'** कहा जाता है। इसकी विशेषता यह मानने में है कि समाज की रचना मानव ने नहीं किसी पारलौकिक सत्ता ने की है। यह व्यवस्था इस प्रकार अन्ततः दैवी बन जाती है जिसमें परिवर्तन मानव के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात हैं। यही दृष्टिकोण **गीता** के उस प्रसिद्ध उद्धरण में भी देखा जा सकता है जिसमें वर्णों की सृष्टि समझायी गयी है। इस सिद्धान्त को संवाद के पूर्वार्द्ध में मेरी समझ में पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा गया है, क्योंकि बुद्ध की विचारधारा इसके ठीक विपरीत है। ऐसा लगता है कि आधुनिक मनीषियों की ही भाँति आदि बौद्ध भी इस बात को समझ चुके थे कि सच्चा मानव-साम्य अवयवी-एकता के सिद्धान्त के आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता। **तथागत** ने अपने उत्तर में पहले यह सिद्ध कर दिया है कि जैविक दृष्टि से ब्राह्मणों तथा अन्य मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं होता। अतः ऊँच-नीच का प्रश्न निराधार है इसके बाद वे भी समाज को चार वर्णों का आकलन बताते हैं, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ कि पाप कर्म तथा सदाचरण चारों में समान रूप से पाया जाता है और यह भी कि अर्हत्व पर हर मनुष्य का समान रूप से अधिकार है। बुद्ध के स्वर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह प्रचलित धारणा से भिन्न है। यह भी स्पष्ट है कि उत्तरार्द्ध में वर्णित विश्वविकास की प्रक्रिया पूर्वार्द्ध की स्थापनाओं के समर्थन हेतु ही है। शेष चार बातें इस प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं।

(१) इतिहास को दो दृष्टियों से देखा गया है : **अनुरेख** अर्थात् एक सरल रेखा के रूप में, और **आवर्त्ती** अर्थात् एक चक्र के रूप में। पहली दृष्टि सेमिटिक धर्मों की विशेषता है। इसके अनुसार जो कुछ भी होता है, पहली ही बार होता है और दोबारा कभी नहीं होगा। आवर्त्ती दृष्टिकोण प्राचीन भारत तथा ग्रीस की विशेषता है, और यही बौद्ध विचारधारा में भी परिलक्षित होता है। जिस प्रकार **मन्वन्तर सिद्धान्त** के अनुसार चार युग एक चक्र की भाँति घूम रहे हैं, उसी प्रकार बुद्ध भी एक सतत् प्रक्रिया की बात करते हैं, यद्यपि युगों का नाम नहीं लेते। यही नहीं, जैसे **सतयुग** की अपेक्षा त्रेता, **त्रेता** को अपेक्षा द्वापर तथा **द्वापर** की अपेक्षा **कलियुग** निम्न कोटि के हैं, वैसे ही इस बौद्ध चित्र में भी पतन की शृंखला दिखाई देती है। प्रारम्भ में सब अच्छा है। विश्व का विलय हो चुका है और जीव **'आभालोक'** में जन्म लेकर आनन्द का आहार करते हुए, आत्म प्रकाश, वायु में उड़ते हुए गौरवपूर्वक रह रहे हैं। विश्व के पुनः विकसित होने पर ये ही जीव आभा-लोक से च्युत होकर मानव

रूप ग्रहण करते हैं, फिर भी यह शरीर ग्रहण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी आनन्द का आहार चल रहा है। धीरे-धीरे क्रमिक रूप से उनका पतन होता जाता है जो सम्भवतः सारे दुःख का कारण बनता है।

(२) दूसरी ध्यान देने योग्य बात है बुद्ध का वह विश्वास जिसे **रीज़ डेविड्स ने 'नार्मोलिज्म'** के नाम से निरूपित किया है। इसके अनुसार जो कुछ होता है, किसी सहज नियम के अनुसार होता है। यदृच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। **रीज़ डेविड्स** इसे भी भारतीय चिन्तन की अपनी विशेषता मानते हैं जो **सेमिटिक** विचार-विधि में उपलब्ध नहीं है। जीवों की इच्छा पर होता तो सम्भवतः वे कभी भी आभा-लोक से च्युत न होते। किन्तु चूँकि उन्हें नियमानुसार च्युत होना था, इसीलिए वे कुछ नहीं कर सके। यह कहना अनुचित न होगा कि बुद्ध की दृष्टि में सहज नियमों का यह अनन्य बन्धन ही दुःख का मूल है।

(३) यह बात विचित्र प्रतीत होती है कि पृथ्वी का उदय जीवों के अवतरण की उत्तरवर्त्ती घटना है। यह स्पष्ट नहीं है कि पृथ्वी के उदय के पूर्व अन्य महाभूत थे या नहीं। किन्तु यह स्पष्ट है कि जीवों के पतन को पृथ्वी के साथ जोड़ा गया है।

(४) पतन के कई चरण हैं, किन्तु सभी के लिये स्वयं मनुष्य उत्तरदायी हैं। सबसे पहले पृथ्वी को चखने के कारण **तृष्णा** का जन्म होता है। फलस्वरूप आत्म-प्रकाश का अन्त होता है। आनन्द का आहार पहले ही समाप्त हो चुका होगा। फिर **लिंगभेद** का जन्म अन्न खाने के फलस्वरूप बताया गया है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि **यौन सम्बन्ध** भी तभी प्रारम्भ हुए जिसे सभी लोगों ने घृणा की दृष्टि से देखा। इसके बाद सबसे अधिक अवांछनीय कार्य प्रारम्भ हुआ = **संग्रह**। संग्रह के कारण ही मौसम और फसलें प्रारम्भ हुई, व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हुआ, अपराध प्रारम्भ हुए तथा समाज को संगठित करने की आवश्यता महसूस की गयी।

आदि बौद्ध समाजदर्शन निश्चय ही **सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर** आधारित है। अपराधों की रोक थाम के लिए ही **'महा-सम्मत'** की जरूरत पड़ी। ध्यातव्य है कि सुगत का अपना **शाक्यगण** महा सम्मत को अपना प्रथम पूर्वज मानती थी, तथा महा सम्मत का विचार **महाभारत** में भी उपलब्ध है। सच तो यह है कि जो सिद्धान्त पश्चिम में आधुनिक युग में विकसित हुआ, वह ईसा से कई शताब्दी पूर्व भारत में पूर्णतः विकसित हो चुका था।

वर्ण व्यवस्था सामाजिक संघटन का ही पर्याय है चूँकि खेत की रक्षा के निमित्त संघटन प्रारम्भ हुआ था, इसलिये **'खत्तिय'** वर्ण सबसे पहले विकसित हुआ,

यद्यपि उसे सर्वोच्च सिद्ध करने का जरा भी प्रयास इस स्थान पर नहीं किया गया है। कुछ अन्य स्थानों पर बुद्ध क्षत्रियों को ब्राह्मणों से रोटी और बेटी के सर्वमान्य भारतीय मानदण्डों के आधार पर श्रेष्ठ सिद्ध करते दिखाये गये हैं,[1] किन्तु वहाँ पूरी वर्ण व्यवस्था का जिक्र नहीं है। वहाँ 'खत्तिय' वर्ण मात्र कर्म के आधार पर है, और पूरे वर्ग को राज-वर्ग मान लिया गया है।

अन्य तीन वर्णों की उत्पत्ति भी वैदिक परम्परा में बर्णित सिद्धान्त से कोसों दूर है। **'बम्हन'** शब्द का मूल 'वाहेन्ति' में है जिसका अर्थ होता है 'दूर रखना'। ब्राह्मणों को सर्वस्व त्यागी तपस्वी रूप में चित्रित किया गया है जो या तो ध्यान में लीन रहते थे (झायका) या वेद-पाठ करते थे। **'वेस्स'** का जन्म 'विस्स' से बताया गया है जिसका अर्थ होता है 'अनेक'। वैश्य वे जो अनेक कार्य करते हों। अन्त में **'सुद्द'** वे बताये गये हैं जो आखेट आदि पर निर्भर हों।

स्पष्ट है कि वर्णों की ये व्याख्यायें नितान्त मौलिक हैं। यह नहीं बताया गया है कि एक वर्ण में जन्मा व्यक्ति क्या दूसरे वर्ण को चुन सकता है ? समाज एक स्वेच्छा से किये गये समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आया है, इसलिए यह पूरी व्यवस्था मानव-कृत है तथा सम्भवतः बदली भी जा सकती है।

संवाद के शीर्षक के अनुरूप ही यह अनेक आधुनिक, विशेषकर **वामपन्थी** विचारों का 'अग्रज्ञान' जैसा प्रतीत होता है। संसार की सभी धार्मिक वैचारिक परम्पराओं ने समाज की उत्पत्ति के विषय में कुछ कहा है। उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ प्रत्यक्षतः जोड़ने का काम निश्चय ही केवल **बौद्धों** ने किया है। सम्भवतः इसके लिये भी वही वस्तुवादी मनोवृत्ति उत्तरदायी हो जो अनेक रूप में त्रिपिटक में दिखाई देती है। बुद्ध स्पष्ट ही समाज को एक अनिवार्य बुराई के रूप में मानते प्रतीत होते हैं। यदि मानव में तृष्णा और संग्रह जैसी कुप्रवृत्तियाँ न होती, और फलस्वरूप वह व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अपराधों को सम्भव न बनाता, तो सामाजिक संघटन भी न होता। यह धारणा ही अपने आप में विलक्षण है कि व्यकिगत सम्पत्ति के अभाव में अपराध भी अकल्पनीय है। पृथ्वी पर यह प्रारम्भिक युग जब धान बराबर खेतों में लगा रहता था और लोग अपनी आवश्यकतानुसार सुबह और शाम को काट लाते थे **'आदिम साम्यवाद'** का स्मरण कराता है।

---

१. उदाहरणार्थ, दीघनिकाय के तीसरे तथा अट्ठाइसवें सुत्त।

अन्त में उन बातों की चर्चा भी आवश्यक है जिन्हें स्वीकार करने में कुछ लोगों को कठिनाई होगी। प्रथमतः, इन तथ्यात्मक सूचनाओं का स्रोत क्या है? वैदिक तथा अन्य प्रकार के आप्तवचन से यह किस अर्थ में भिन्न है? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण न होता, यदि सामान्यतः बुद्ध आप्त वचन एवं शब्द-प्रमाण के विरोधी न होते। क्या यह मान लिया जाय कि यह ज्ञान भी उसी प्रकार की क्षमताओं का अंग है जिन्हें साधक अर्हत्व के साथ प्राप्त करता है? निश्चय ही बुद्ध ऐसी कई बातें करते थे जिनकी जाँच साधारण मनुष्य के वश के बाहर की बात होगी। ऐसा करना बुद्ध अपना अधिकार मानते थे क्योंकि उनके अनुसार यह उनका व्यक्तिगत अनुभव था। अन्य श्रमणों को वे ऐसी बात बोलने की अनुमति नहीं देते थे जो उनके द्वारा अनुभूत न हों[1]। दूसरे, बुद्ध यहाँ स्पष्ट ही **अध्यात्मवाद** का पक्ष ले रहे हैं। वह मूल स्थिति जिससे च्युत (अथवा पतित) होकर ही जीव विश्व-प्रक्रिया में आबद्ध होता है अवश्य ही अशरीरी कल्पित की गयी होगी। अन्यथा मात्र आनन्द के आहार पर रहना संभव न होता। तीसरे, इस चित्र में प्राकृतिक जगत् तथा मानव के बीच कोई वास्तविक समागम दिखायी नहीं दे रहा है। क्या उस युग से बुद्ध अपरिचित थे? जब विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उन्हें प्रसन्न करने तथा उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयास विशाल पैमाने पर होता था।

● ● ●

---

१. उदाहरणार्थं, दीघनिकाय (वही जिल्द) तेरहवाँ सुत्त, विशेषकर पृष्ठ २०१।

बुद्ध का स्वनियन्त्रित अध्यात्मवाद : समष्टि व्यष्टि के सन्दर्भ में

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

समाज सम्बन्धों का जाल है। बुद्ध का समाज सम्बन्ध राहित्य पर बनता है। सम्बन्ध अहङ्कार, ममकार, प्रेम, सहानुभूति आदि से बनते हैं। बुद्धत्व इन जागतिक सम्बन्धों के विच्छेद से प्राप्त होता है। संसार व्यक्ति की आत्म स्थिति से पनपता है, **बुद्धत्व** व्यक्ति की अनात्म स्थिति से पनपता है। **आत्मसत्ता** से राग तथा प्रेम दोनों विकसित होते हैं। **अनात्मसत्ता** से अराग, अलोभ और अद्वेष विकसित होते हैं। राग संसार को सङ्कीर्ण बिन्दुओं में बाधता है, प्रेम सङ्कीर्ण बिन्दुओं को सबके प्रति सहानुभूति का पाठ पढ़ाता है। मानव को मानव के प्रति सहानुभूतिशील बनाता है। व्यक्ति से परिवार की ओर उन्मुख करता है। व्यक्ति दायित्व के साथ परिवार के दायित्व की ओर बढ़ाता है। परिवार दायित्व से ग्राम, जनपद, प्रान्त, देश एवं सकल मानव-समाज के प्रति दायित्व से अपनत्वभाव को विकसित करता है। वह घर में रहता है, समाज में रहता है तथा लोक के सुखों एवं दुःखों को झेलता है, उसके झेलने में जो विकृतियाँ पैदा होती है, उनको दूर करने के लिए प्रयत्न करता है। बच्चे के लिए अपने राग का प्रहाण करता है, अपनी अभिलाषाओं को कम करता है, उसकी देखा-देखी माँ भी त्याग का भाव पनपाती है और प्रेमपूर्वक दुःख को अपने भावी सन्तान के सुखमय जीवन के लिए सहन करती है, यहाँ से समाज का बिन्दु प्रारम्भ होता है। यह बिन्दु गैर जिम्मेदाराना प्रारम्भ नहीं जीवन की असलियत है। यहाँ से दायित्वपूर्ण जीवन जब प्रारम्भ होता है तो वह सम्पूर्ण संसार में दायित्वपूर्ण कर्तव्य करने का भार अपने ऊपर ले लेता है। परिवार बिन्दु में सिमटा व्यक्ति जब सम्पूर्ण संसार को पारिवारिक मानकर चलता है तब वह **बोधिसत्त्व** बनता है। तब वह **स्थितप्रज्ञ** कहलाता है। और तब **गान्धी** पैदा होता है जो किसी भी बात को कहने के पहले अपने में उसकी परख करता है। यह दायित्वपूर्ण विचार आत्मवाद का प्रस्थान बिन्दु है।

अनात्मवाद आत्मक्लेश के समापन से प्रारम्भ होता है। वह संसार में कष्टभार से इतना दुःखी रहता है कि दूसरे के दुःख से भी आतङ्कित हो उठता है, फलतः वह

सामाजिक बन्धनों से इतना भयभीत हो जाता है कि उसे स्वीकार करने से कतराता है। यदि किसी तरह बन्धन में पड़ भी जाता है तो सांसारिक आस्वाद चखकर भी घबड़ाता है और बार-बार वह भाग खड़ा होता है। वह राजमहल में नहीं रहना चाहता, वह जंगल चला जाता है। वह परिवार, गाँव, समाज के कष्ट को दूर करने की व्यवस्था नहीं करता, वह तो उनके कष्ट के आतंक से इतना भयभीत रहता है कि जंगल पहुँच कर ही आश्वस्त हो पाता है। वह चाहता है कि प्रत्येक प्राणी इस दुःखी जीवन से सबक क्यों नहीं लेता और उसी में पड़ा-पड़ा आनन्दित क्यों हो रहा है ? क्या यह कष्ट उसके अज्ञान के कारण तो नहीं है। यह अज्ञान क्या है ? इसे कैसे मिटाया जा सकता है ? इसका स्रोत क्या है ? आदि पर विचार करता हुआ एक आश्रम से दूसरे आश्रम में पहुँचता है और इसके समापन का रास्ता पाता है। घर से भगा हुआ **बुद्ध** जंगल में भी आदमी को खोजता है क्योंकि अज्ञान की समस्या उसका गला नहीं छोड़ती। वह तपस्वियों की जमात बनाता है, उसे भी छोड़ता है फिर अकेले विचरण करता है, ज्ञानी होता है, और पुनः अज्ञान के समापन की चिन्ता से अभिभूत वह समाज में दौड़ता है, पर वह ध्यान में रखता है कि अब उसका समाज वह प्राकृत समाज नहीं होगा, जहाँ वह पैदा हुआ था। अब वह तो ऐसे समाज की कल्पना करता है जहाँ व्यक्ति तब आये, जब उसका आत्मा एवं आत्मीय की दृष्टि खो जाये। वहाँ व्यक्ति आकर पुनः परिवार में न फसे, पुनः जन्म धारण न कर सके, वहाँ से सीधे विमुक्त हो जाए, क्योंकि जब व्यक्ति ने पारिवारिकता एवं सामाजिकता की कलुषित वृत्तियों का समापन करके संघ का आश्रमण किया है तो सम्भवतः उसका भी वही मन्तव्य होगा, जो बुद्ध का रहा होगा। यही **बुद्ध की समग्र क्रान्ति** है। यही बुद्ध का सम्यग्ज्ञान है। यहीं से वह लोक को व्यवस्थित करना चाहते थे। वह आदर्श समाज से दूषित समाज का नियमन करना चाहते थे इसी अर्थ में **बुद्ध** गान्धी से बड़े थे। इसीलिए **राहुल** जी ने कहा है—

भारत के सम्पूर्ण इतिहास में यदि बुद्ध की किसी पुरुष से तुलना की जा सकती है तो वह महात्मा गांधी ही हो सकते हैं यद्यपि बुद्ध का व्यक्तित्व तब भी ऊँचा है। पर यदि और बातों में बुद्ध बहुत ऊँचे सिद्ध होंगे तो असंख्य भारतीय जनता के मुक्ति सेनानी होकर गांधी जी भी आगे बढ़े हैं। (महामानव बुद्ध, पृ० ११)

सामाजिक हित सम्पन्न करना हर विचारक का उद्देश्य होता है और इसलिए वह चिन्तन तथा मनन प्रारम्भ करता है। भारत में बहुत प्राचीनकाल से विरोधी विचार तथा विचारक पैदा होते रहे हैं, पर यहाँ विरोधी विचारकों को जलाया या समाप्त नहीं किया गया, प्रत्युत उन्हें भगवान् बनाया गया। यदि जलाया या मारा

भी गया तो उससे वह व्यक्ति भगवान् ही बना रहा। व्यक्ति सत्य ज्ञान प्राप्त करके पुनः समाज में क्यों आता है इसलिए कि समाज वाले उसे पागल न कहें, वरना उसका तत्त्वज्ञान पागलपन का ज्ञान माना जायेगा। तर्क जिस राग के आधार को नष्ट करके अपने को ज्ञान का जामा पहनाता है अगर उसे आस्था का संबल न दिया जाय तो वह अपना गला स्वयं घोट लेगा। और ज्ञानी अज्ञानी के बीच का भेद समाप्त कर देगा। ज्ञानी व्यवस्थाओं को जानकर तोड़ता है, अज्ञानी व्यवस्थाओं को आस्था-वश नहीं तोड़ पाता। पर ज्ञानी व्यवस्था तोड़कर अपने को श्रेष्ठ महसूस करता है। और अज्ञानी व्यवस्था तोड़कर अपने को हीन महसूस करता है। इन ज्ञानी अज्ञानियों में कौन श्रेष्ठ है, इस विचार से भारतीय मनीषा ज्ञानी को तब तक श्रेष्ठ नहीं मानती, जब तक वह सपूर्ण मानव की दृष्टि से उत्तम कार्य नहीं करता। साथ ही व्यक्तिगत जीवन उसका पवित्र नहीं होता। कभी कभी व्यक्तिगत जीवन श्रेष्ठ होने पर भी सामाजिक जीवन आदर्शमय न पाकर वह व्यथित हो जाता है, उस व्यथा के कारण वह समाज में पदार्पण करता है और सामाजिक गुत्थियों को सुलझाना चाहता है। वह जिन विग्रहों को अपने ज्ञान और आस्था के बल पर समाप्त किया था उन विग्रहों को समाप्त करने के लिए सामान्य जन को बतलाता है पर वे यदि उसके अनुकूल आचरण नहीं करते तो उससे उसको खीझ होती है। फलतः सामाजिक कृत्य छोड़कर आत्माभिमुखी होता है, आत्माराम को प्रसन्न करता है और उसके इस आचरण का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए लोग जंगलों में ज्ञान लेने जाते थे, क्योंकि ज्ञानी का लोगों ने अपमान किया था, उसका बदला अब लोग उसमें आस्था जताकर देना चाहते हैं। अब ज्ञानी लोगों के सच्चे भाव से ज्ञान देता है क्योंकि लोगों ने उसके ज्ञान की कद्र की है। इसीलिए वह **संसार भव** को पार करने का रास्ता बताता है।

भारत में साधु महात्माओं का बड़ा महत्त्व रहा है। **भगवान् बुद्ध** इसी कड़ी में सुमीरनी हैं। वह उपायकुशल थे, वह किसको कैसा बताना चाहिए ? यह जानते थे, वह तत्त्वज्ञ थे, लोकहितैषी थे, अतएव लोकानुकम्पा से संसार की ओर प्रवृत्त हुए। यह लोकानुकम्पा या लोकहितैषिता राजनीतिज्ञों या सेमीनारिस्टों का राजनीतिक या प्रवचन मंच नहीं था। वह दूसरे को दुःखी देखकर अपनी आँख नहीं मूँद लेते थे और अपने को कष्ट में पाकर सिद्धान्तवादी वक्तव्य नहीं देते थे या सामान्य जनों में अपनी प्रसिद्धि के लिए शास्त्रवचन नहीं कहते थे। वह शास्त्र के विरोधी थे, वह महाकारुणिक थे, उन्होंने सिंहनी शिशु की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण किया था। वह सामान्य व्यक्ति तो क्या हिंसक प्राणि के लिए भी सर्वस्व समर्पित कर सकते थे। ऐसे बुद्ध से यह समाज कुछ

ले सकता है, कुछ पा सकता है और वह **बुद्ध** व्यक्ति समाज को बदल सकता है, वह खुद समाज के पीछे-पीछे चरवाहे जैसा घूमता है, राजा नहीं बनता। व्यक्ति राजा या विचारक बनकर अपने में गौरव की अभिवृद्धि पनपाना है। चरवाहा बनने में बोझ ठोना पड़ता है। यह बोझ उत्तरदायित्व का बोझ है। राजा का पद पूँजीवाद व्यवस्था का पद है। विचारक भी बड़ा जागीरदार है। इसलिए रन्तिदेव कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्॥

अवलोकितेश्वर भी निर्वाण नगरी को जाते जाते प्राणियों के आर्तनाद को सुनकर अपनी मुक्ति का लोभ त्याग कर **'जब तक संसार मुक्त न हो जाय, तब तक वह प्राणियों को मुक्ति दिलाने के लिए चरवाहे की भाँति'** पीछे-पीछे लगे रहने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसलिए ही वह कहते हैं प्राणी अपनी मुक्ति स्वयं करेगा, बोधि-सत्त्व या बुद्ध तो उसका कल्याणमित्र बनकर मात्र राह दिखलाता है। कहा भी है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥

इस प्रकार समष्टि का निर्माण व्यष्टि, आत्मा से अर्थात् जीव से प्रारम्भ होता है। यदि समष्टि का स्वरूप उचित रखना है तो व्यक्ति (व्यष्टि) को ठीक करना पड़ेगा और इसमें मन को आधार बनाकर चलना होगा। बुद्ध ने मन पर बहुत बल दिया है। यहाँ तक कहा जाता है कि चित्त नदी यदि विवेक के साथ रहे तो वह कल्याण का रास्ता दिखाती है और यदि विवेक के बिना रहती है तो पाप का रास्ता दिखाती है। विवेक तर्क पर आधारित होता है पर तर्क, तर्क के लिए नहीं, अपितु मानवकल्याण के लिए होता है। इसीलिए **बुद्ध** कहते हैं मेरे वचनों को न तो श्रद्धा मात्र से और न केवल बड़प्पन की भावना से मानो। यदि उचित लगे अर्थात् मानव-हितकारी हैं तो मानो। उन्होंने कहा यदि किसी सिंह के भय से भगा प्राणी अपनी रक्षा के लिए नदी में कूद पड़े और नदी में उसे किसी जंगली लकड़ी का सहारा मिल जाय, और उस सहारे से नदी पार करता हुआ—'यह मेरे जीवन का रक्षक है 'मान' उसको अपने घर लाकर यदि पूजे' तो वह मनुष्य का अहित करेगा। उसी प्रकार धर्म का गाठ पकड़कर, शास्त्र की शब्दावली रट कर हम समाज का हित कराने का

ठेकेदार बनना चाहते हैं तो हम उसका कदापि हित नहीं कर सकेंगे। **राहुल जी** ने कहा है—वैज्ञानिक भौतिकवाद के दार्शनिक विचारों से अनुप्राणित, समाजवादी आन्दोलन, आरामकुर्सी पर बैठकर लेक्चर झाड़ने वाले वाक्पटु राजनीतिज्ञों की राजनीति नहीं है। इसमें पड़ने वालों को आग से खेलना पड़ता है, फिर यहाँ आचार हीन पुरुष की टांग कैसे ठहर सकती है। इनके सदाचार की नींव किसी ईश्वरीय विधान या अल्हाम पर नहीं, बल्कि बुद्ध के शब्दों में 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' है (वैज्ञा० भौति० पृ० ८९–९०)। स्तालिन कहता है—**सिद्धान्त प्रयोग के बिना बाँझ है।** इसीलिए **तिलक** ने **गीता** की प्रयोगात्मक व्याख्या की; जिसके कारण आत्मज्ञानियों को स्वतन्त्रता संग्राम में कूदना पड़ा था। आजकल का दार्शनिक सिर्फ घर में बैठकर जगत् की व्याख्या बदल रहा है। वह खुद को परिवर्तित नहीं कर रहा है। इस प्रकार घर में बैठकर व्यक्ति यदि अपने में परिवर्त्तन न करता हुआ समाज में परिवर्त्तन की बात करता है या समाज को अपने से चिन्तित ज्ञान से परिवर्त्तित मान लेता है तो यह निरा अज्ञान है। **बुद्ध** ज्ञान के लिए तथा समाज के लिए आगे बढ़े थे, राजमहल छोड़े थे। उन्होंने मनुष्य को वशीभूत करने वाली प्रवृत्तियों का त्याग किया था। वह ईश्वर का खात्मा किये थे। वह नियतिवाद के विरोधी थे। वह कार्य-कारणवाद की नयी व्याख्या किये थे जिसमें उसका खोखलापन प्रगट हुआ था। दर्शन का कार्यकारणवाद प्रकृतिजगत में लागू होता है चित्त में जगत नहीं। क्योंकि प्रकृति का विधान नियत है वर्षात् में गेहूँ तथा चना की खेती नहीं हो सकती तथा गर्मी में धान नहीं पैदा हो सकता है क्योंकि प्रकृति के विधान नियत हैं, पर व्यक्ति इच्छा स्वातन्त्र्य से व्यवस्था बना कर पैदा भी कर सकता है। यद्यपि यह कार्य दुरूह है, इसीलिए स्वतन्त्र चैतन्य शाली व्यक्तित्व में प्राकृतिक कार्यकारण भाव नहीं चलता है। इसीलिए वह पुरानी व्यवस्थाएँ बदलता है, नयी व्यवस्था बनाता है। पर आजकल के भौतिकवादियों की अव्यवस्थित व्यवस्था को भी सलाम करने की जरूरत है जो न तो पुरानी व्यवस्था को चलाने देते हैं और न नयी व्यवस्था को पनपा पाते हैं। बुद्ध पुरानी व्यवस्थाएँ तोड़ने के पक्षपाती अवश्य थे तथा **नियतिवाद, ईश्वरवाद, आत्मवाद** के भंजक थे पर नयी व्यवस्था को अनियतवाद-अनात्मवाद और अनीश्वर-वाद के आधार पर मानकर अध्यात्मवाद की प्रस्थापना किये थे। इसमें व्यक्ति

स्वातन्त्र्य है—भौतिकवादी समाजवाद की कुढ़न नहीं। इसमें व्यवस्था है, श्रद्धा है, आस्था है। क्योंकि भौतिकवादी तार्किक दर्शन की भाँति सबका खण्डन मात्र नहीं है या यह मार्क्सवाद का दिमागी पुलाव नहीं, जो दैशिक सीमाओं में फँसकर आगे नहीं बढ़ सकता। यह भारतीय अध्यात्मवाद है जहाँ आकर सारी मान्यताओं के त्याग के बाद अध्यात्म के राह का अनुगमन कर सकता है। इसको मनुष्य पा सकता है, इससे मनुष्य बदला जा सकता है, इससे समाज बदला जा सकता है और इसमें दो राय नहीं कि बुद्ध की सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यवस्था भौतिकवाद या समाजवादी व्यवस्था तथा प्रजातन्त्रात्मक विचार स्वातन्त्र्य और स्वनियन्त्रित अध्यात्मशासन की व्यवस्था का विचित्र संयोजन है जिसे समझने की जरूरत है। उस पर भाषण देकर नहीं पहुँचा जा सकता। कर्म की आवश्यकता है। कहा भी है—

जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

(तत्त्वसिद्धिः का मङ्गलाचरण)

● ● ●

बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में व्यष्टि एवं समष्टि

डॉ० केवलकृष्ण मित्तल

व्यष्टि एवं समष्टि दोनों ही परस्परापेक्षी अवधारणाएँ हैं, फिर भी साधारण व्यवहारिक चिन्तन के स्तर पर ही नहीं अपितु कतिपय दार्शनिक अभिमतों के परिप्रेक्ष्य में भी ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से व्यष्टि को आधार एवं समष्टि को आधेय माना जा सकता है। इस प्रकार व्यष्टि को **'प्रत्यय'** एवं समष्टि को **'प्रत्ययोत्पन्न'** समझा जाने के कारण द्वितीयोक्त की अपेक्षा प्रथमोक्त को मूल अवधारणा कहा जा सकता है अर्थात् ऐसा सोचा जाता है कि समष्टि की चर्चा बिना व्यष्टि के नहीं हो सकती। जबकि व्यष्टि की चर्चा बिना समष्टि के न केवल की ही जा सकती है अपितु ऐसा करना समीचीन भी है। इस प्रतीति का आधार है हमारे मानस में व्यष्टि का सम्बन्ध एकत्व से तथा समष्टि का नानात्व के साथ होने से है। प्रस्तुत लेखक को ऐसा लगता है कि सर्वसाधारण की इस प्रकार की मान्यता बौद्धदर्शन को स्वीकार्य नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें नियत इकाई के लिये कोई स्थान नहीं, और न ही ऐसी किसी समष्टि की ही चर्चा हो सकती है जो कि व्यवहारतः किसी व्यष्टि से आबद्ध न हो। समष्टि का उचित अर्थ समग्र अथवा सर्वस्व है बहुत्व नहीं। व्यष्टि एवं समष्टि के तादात्म्य सम्बन्ध के सन्दर्भ में ही, सर्वसामान्य में प्रचलित लोकोक्ति **'एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाये'** तथा प्रसिद्धि जैन दार्शनिक **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य** द्वारा लक्षित जैन आगम, आचारांग सूत्र में कथित, **'जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है** (जे एगम् जानइ से सब्बे जानइ, जे सब्बं जानइ से एगम् जानइ)' पर विचार किया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्धरित जैन उक्ति की समुचित व्याख्या या तो 'एकमेव अद्वितीयम्' की घोषणा करने वाले **अद्वैत** सिद्धान्त के सन्दर्भ में की जाती है अथवा बहुत्ववादी एवं यथार्थवादी जैन **अनेकान्तवाद** के परिप्रेक्ष्य में की जाती है व्यष्टि एवं समष्टि के क्रमशः एकत्व और नानात्व से जुड़े होने की बात से सरलता पूर्वक इनकार नहीं किया जा सकता।

कहना न होगा कि व्यष्टि एवं समष्टि को एकत्व और नानात्व से जोड़ने पर भी अथवा सम्भवतः उसी के कारण ही व्यष्टि एवं समष्टि दोनों की ही अस्मिमानता अथवा इदन्ता सिद्ध करना सम्भव नहीं, जबकि उनकी इदन्ता स्थापित किये बिना

उनके बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की चर्चा नहीं की जा सकती। व्यष्टि की इदन्ता को स्थापित करने के लिये हमें प्रत्येक प्रतीत होने वाली व्यष्टि को उसकी समष्टि में विश्लेषित करना होगा, क्योंकि बौद्धदर्शन की विचारित मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यष्टि (वस्तु अथवा व्यक्तित्व) संघात रूप है। अतः इस प्रकार व्यष्टि का आधार समष्टि है और समष्टि तो व्यष्टि के आवृत में आवद्ध है ही, और उसका भी यदि विश्लेषण करें तो व्यवहार प्रतीत व्यष्टियों (इकाइयों) में ही किया जा सकता है, यह बात भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि उक्त व्यष्टियों में से प्रत्येक भी अपने में एक समष्टि है।

व्यष्टि की इदन्ता पर विस्तृत विचार तो लेखक ने अन्यत्र किया है[1] यहाँ उसके कुछ मुख्य विन्दुओं का संक्षेप में परिचय देना पर्याप्त होगा। वे हैं—

१—हम सब इस बौद्ध मान्यता से परिचित हैं कि प्रत्येक व्यक्ति, जब तक कि निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता, जन्म, शैशव, यौवन, जरा, मरण, पुनर्जन्म तथा यों अनेक जन्मों के भवचक्र में, सदैव बदलता हुआ चलता है। लगभग ५५० जातक-कथायें भगवान् बुद्ध के उस 'व्यक्तित्व' के उदाहरण हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी के अनेक जन्मों में से होकर चलने वाला 'व्यक्ति' किस प्रकार 'वही' कहा जा सकता है जबकि वह बुद्ध मान्यता के अनुसार ही नित्य नहीं अनित्य है और परिवर्तन मात्र माया अथवा भ्रमरूप न होकर सत्रूप है और सम्भवतः ऐसी मान्यता के फलस्वरूप ही बौद्धमत में **अनात्म** की धारणा भी स्वीकृत है। व्यक्ति के एक जन्म से दूसरे जन्म में बदलाव को बौद्धमत में मात्र देशान्तरण (ट्रांसमाइग्रेशन) न मान कर परिणमन अथवा क्रमिक रूपान्तरण (ट्रांसफारमेशन) मान लेने पर यह बात कदाचित् समझ में नहीं आती कि कैसे भवचक्र के क्रम में, प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुरूप, एक के पश्चात् दूसरा अत्यन्त भिन्न रूप व्यक्तित्व उदित होता है? वह विकासोन्मुख तारतम्यता (क्रमिकता) जो हमें अवतारवाद की वैष्णव कल्पना में लक्षित होती है, बौद्ध जातकों के सन्दर्भ में उसका नितान्त अभाव है। तथापि यदि बौद्ध ऐसा दावा करें कि उनका क्रम वर्णन वस्तुस्थिति के सर्वथा अनुकूल नहीं तो वैष्णव वर्णन की अपेक्षा उसका अधिक निकटवर्ती प्रतिनिधित्व करता है तो उनके

१. जनवरी १९७६ में लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग द्वारा आयोजित एक अन्तर-राष्ट्रीय विचार गोष्ठी में प्रस्तुत लेख में; जिसका कि (हिन्दी अनुवाद) 'बौद्ध परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व की इदन्ता' शीर्षक से दार्शनिक त्रैमासिक के वर्ष २१ (अक्तूबर १९७२) के अंक ४ में प्रकाशन हुआ है।

द्वारा ऐसा मत व्यक्त किया जाना सम्भवतः गलत नहीं होगा। किसी भी 'व्यक्तित्व' को समझने का एक प्रयास उसके अनेक जन्मों में प्रकट रूपों की समष्टि में विश्लेषण द्वारा हो सकता है तथा किया जाता है किन्तु समस्या तो यह है कि हम उस व्यष्टि को उसकी तथाकथित (उस प्रकार समझी हुई) समष्टि से कैसे जोड़ें? जबकि एक जन्म का दूसरे जन्म से सम्बन्ध (परिणमन) भी हमारी साधारण बुद्धि के परे का विषय प्रतीत होता है।

२—ऐसा हमारा सर्व सुलभ अनुभव है कि हम किसी भी व्यक्ति को किसी भी समय, बदलता हुआ किन्तु **'अमुक'** करके जानते हैं और समय के अन्तर पर बदला हुआ किन्तु फिर भी **'वही'** करके पहिचानते हैं। एक ही समय पर, किसी एक व्यक्ति को जानने वाले अनेक उससे परिचित उसे विभिन्न रूपों में जानते पहिचानते हैं। बहुत से 'व्यक्तियों के व्यक्तित्वों' का अभिनय मानो एक ही 'व्यक्ति' एक ही सम-सामयिक काल में तथा कालान्तर में करता है अथवा विभिन्न समयों पर और सम-सामयिक काल में प्रकट होने वाले विभिन्न व्यक्तियों की समष्टि को हम एक ही व्यक्तित्व की व्यष्टि में व्यक्त करते हैं। इस स्थिति का द्योतन कुछ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि एक व्यक्ति उन अनेक समान, भिन्न तथा विपरीत गुण दोषों की समष्टि है जिनके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों से जाना जाता है। हाँ, उनमें से कोई भी गुण अथवा दोष ऐसा नहीं जो सदा, सर्वदा और सबके लिए एक जैसा ही विद्यमान रहता है। इसी स्थिति को पुद्गल नैरात्म्य करके जाना या समझा जाता है।

३—हम किसी **'व्यक्ति'** को पहिचानते समय 'वह कैसा दिखाई देता है'? 'कैसे दुःख-सुख का अनुभव करता है'? 'कैसे देखता है'? 'कैसे सोचता है'? और कैसे अन्य वस्तुओं एवं व्यक्तियों से प्रभावित होता है अथवा उन्हें प्रभावित करता है'? की सहायता लेते हैं अर्थात् क्रमशः रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान एवं संस्कार पाँच स्कन्धों की समष्टि द्वारा ही उसके व्यक्तित्व को आँकते हैं। ऐसा करना तो उस व्यक्तित्व की इदन्ता को स्थापित करने के लिए हैं किन्तु एक की प्रतीति को पाँच में विश्लेषित कर इदन्ता से कुछ दूर ही हटते हैं। यह दूरी असंभावना में बदलती हुई लगती है। जब हम यह जान लेते हैं कि एक भी स्कन्ध अपने आप में एक व्यष्टि न होकर अनन्त सतत् गतिमान 'अंशों' की समष्टि है। **पञ्च स्कन्धों** की अवधारणा की भाँति ही **'द्वादश आयतन'** तथा **'अष्टादश धातु'** की अवधारणाओं के आयामों में भी कुछ इसी प्रकार का ही चिन्तन किया जा सकता है। फलतः **'धर्म नैरात्म्य'** की सिद्धि होती है और इस प्रकार व्यक्तित्व की इदन्ता पूर्णतया अनिर्वचनीय ठहरती है।

अन्यथा एक स्कन्ध का दूसरे स्कन्ध के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और पाँचो स्कन्ध मिलकर किस प्रकार की संरचना करते हैं ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर उनकी अपनी इदन्ता को स्थापित किये बिना नहीं दिया जा सकता है और वैसा करने में हम अपने आप को असमर्थ पाते हैं।

४—आंग्ल भाषा में व्यक्तित्व के लिए **'पर्सनैल्टी'** शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसकी व्युत्पत्ति यूनानी धातु शब्द **'पर्सोना'** से की जाती है और पर्सोना का अर्थ है 'मुखौटा'। मुखौटा चाहे चित्र-विचित्र सामग्री लिये हुए हो अथवा एक ही रंग रूप की विभिन्न आभाओं (छायाओं) का समूह रूप हो, यथार्थ मुख की इदन्ता को ढाँपने वाला (संवृति सत्‌रूप) ही होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि परमार्थतः तो व्यक्तित्व क्या है, और कैसा है ? ऐसा ही कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि कल्पना-पोढ प्रत्यक्ष का विषय तो वह भले ही हो, वर्णन से परे है और व्यवहार में व्यक्तित्व की स्थिति किसी मुखौटे की सी ही है और कठिनाई विशेष यह है कि 'व्यक्तित्व रूपी एक मुखौटे' को उतार देने पर भी हमें कोई दूसरा मुखौटा ही मिलता है और तब तक मुख के दर्शन नहीं होते जब तक कि सभी मुखौटे उतार न दिये जाएँ, किन्तु वैसा करने पर 'मुख' कैसा है यह कहा नहीं जा सकता। अस्तु व्यक्तित्व की इदन्ता एक इकाई के रूप में स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक मुखौटा जैसे अपनी निर्वाण सामग्री के विचार से व्यष्टि रूप न होकर समष्टि रूप ही है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तित्व एक व्यष्टि भी है और समष्टि भी है या यों कहना चाहिए कि व्यक्तित्व न तो व्यष्टि ही हैं, न समष्टि ही है, न दोनों भी है और न दोनों के बिना ही है।

समष्टि को **'सर्वस्व'** अथवा **'समग्र'** रूप समझते हुए उसकी चर्चा और उस पर विचार **सर्वज्ञता** के सन्दर्भ में किया जा सकता है। प्रक्रान्त लेखक ने सर्वज्ञता पर भी विस्तृत विचार अन्यत्र किया है[1], अतः ऐसा उसे ठीक प्रतीत होता है कि उस विचार में समष्टि सम्बन्धी मूल बिन्दु की संक्षिप्त चर्चा यहाँ किया जाना उचित एवं पर्याप्त रहेगा।

---

१. फरवरी (१४–१९) १९७२ में मगध विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक अन्तरराष्ट्रीय विचारगोष्ठी में प्रस्तुत लेख में। आंग्लभाषा का यह लेख मई १९७७ के बुद्धिस्ट स्टडीज़ (दि जनरल आफ द डिपार्टमेण्ट आफ बुद्धिस्ट स्टडीज़, यूनिवर्सिटी आफ देहली, दिल्ली) में छपा है। शीर्षक है—बुद्धिस्ट व्यु आफ ओम्निसीयंस : रिलीजिएस फिलासिफिकल साइन्टिफिक…?

भारतीय दर्शन में **सर्वज्ञता** की, चार मुख्य दार्शनिक अभिमतों-वेदान्त, सांख्य, जैन तथा बौद्ध ने अपने-अपने ढंग से चार अवधारणायें प्रस्तुत की हैं। सर्वज्ञता में सर्वज्ञ किस सर्वस्व को जानता है, इस पर चारों में ही मतभेद है। यदि **वेदान्त** में 'विजातीय, स्वजातीय एवं स्वगत भेद रहित', 'एकमेव अद्वितीयम् ब्रह्म' को जान लेना; **सांख्य** में ज्ञाता तथा ज्ञेय के विवेक सहित ज्ञेय को सत्त्व, रजस, तमस समुच्चय स्वरूप प्रकृति को जान लेना; तथा **जैन** मतानुसार समस्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों को उनके 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-मय' अनन्त धर्मों—गुण दोषों, भेदों प्रभेदों आदि को सविस्तार जान लेना, सर्वस्व अथवा विश्व की समष्टि को जान लेना है तो **बौद्ध** मत में सर्वस्व को जान लेने से तात्पर्य है सब कुछ को 'दु:खमय (सर्वं दु:खम्) अर्थात् जरामरण युक्त', 'अनित्य (सर्वम् अनित्यं) अर्थात् सदा सर्वदा बदलता हुआ', और 'अनात्मरूप (सर्वम् अनात्मम्) अर्थात् किसी भी प्रकार की अस्मिमानता अथवा इदन्ता लिये हुए जान लेना है।

निश्चय ही सर्वज्ञता में 'सर्व' का उपर्युक्त अर्थ समझने पर बौद्धमत में समष्टि भी उसी प्रकार 'जरामरण भय', 'अनित्य' एवं 'अनात्म' ठहरती है जैसे कि कोई व्यष्टि। ऐसा मूलभूत धर्म-साम्य होने पर भी व्यष्टि व्यष्टि है और समष्टि समष्टि। दोनों को एक ही नहीं कहा जा सकता। और कठिनाई तो यह है कि भिन्न भी नहीं कहा जा सकता, दोनों भी, और 'दोनों नहीं' भी, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि **शून्यता** और **निःस्वभावता** व्यष्टि और समष्टि दोनों को ही समान रूप से लागू होते हैं। ऐसा कहना उचित ही प्रतीत होता है कि बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में व्यष्टि का समष्टि से और समष्टि का व्यष्टि से तनिक भी वैशिष्ट्य नहीं है।

• • •

व्यक्ति और समाज के प्रति महायान के दृष्टिकोण

आचार्य टी० छोगडुब्

सर्वविदित है कि सभी धर्म और दर्शन व्यक्ति और समाज के साथ सम्बद्ध रहते हैं। सभी धर्म-दर्शन समाज की व्यवस्था प्रदान करते हैं। पाश्चात्य समाज शास्त्रों तथा समाज विज्ञान का उद्देश्य केवल इसी जीवन की व्यवस्था करना होता है। पर भारतीय धर्म-दर्शन **व्यक्ति** तथा **समाज** को आध्यात्मिक व्यवस्था भी प्रदान करता है। **बौद्ध दर्शन** या धर्म में व्यक्ति तथा समाज की व्यवस्था तथा उनके कर्तव्य आदि सुस्पष्ट हैं।

यदि हम पिछले इतिहासों का अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि बौद्ध धर्म समाज की किस परिस्थिति में प्रादुर्भूत हुआ है। बौद्ध दर्शन **क्षणिकवाद** का दर्शन है, अतः समाज की कोई शाश्वत व्यवस्था नहीं देता है। यह दर्शन **कर्मवाद** दर्शन है, अतः व्यक्ति और समाज की उन्नति और ह्रास व्यक्ति तथा समाज के कर्मों पर आधृत है। यह दर्शन **प्रतीत्यसमुत्पादवाद** का दर्शन है, अतः व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आपेक्षित है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के कारण वर्ण-व्यवस्था तथा विविध संस्कारों को बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया। बुद्ध ने संघ में सभी वर्गों तथा सभी जाति के लोगों को सम्मिलित किया है। महिलाओं को भी संघ में स्थान दिया गया है। भिक्षु संघ की प्रणाली एक **'समाजप्रधान-प्रजातान्त्रिक'** प्रणाली है जिसमें व्यक्ति से अधिक समाज को प्रधानता दी गयी है।

समाज के विविध दुःखों के निराकरण की खोज में बुद्ध ने समुचित विचार किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्यक्ति तथा समाज में व्याप्त विविध दुःख ईश्वर जनित नहीं है, न ही अहेतुक हैं। अपितु वे अविद्या, तृष्णा से उत्पन्न हैं। अतः अविद्या तथा तृष्णा के उन्मूलन से दुःखों से मुक्ति हो सकती है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। दुःखों से सभी पीड़ित हैं। सभी दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं। दुःखों से मुक्ति सभी की हो सकती है। इसमें कोई जाति या वर्ण बाधक नहीं है। इसलिए समाज के प्रति बुद्ध का क्या दृष्टिकोण था, यह समझना कठिन नहीं है। समाज के प्रति बौद्ध दर्शन की अवधारणा क्या है, यह **'बहुजनसुखाय बहुजनहिताय'** इत्यादि वाक्य से स्पष्ट हो जाता है।

महायान की दृष्टि

बोधिसत्त्वयान का उद्देश्य समाज-कल्याण या प्राचीन शब्दावली में जगत् कल्याण है। **बोधिचित्त, महाकरुणा** और **प्रतीत्यसमुत्पाद** के सिद्धान्त सबसे प्रबल सिद्धान्त हैं जो समाज के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में अभूतपूर्व क्रान्ति लाते हैं। इसलिए महायान दर्शन की दृष्टि से समाज की प्रधानता सुनिश्चित है। **बोधिचित्त** एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जो मानव समाज को ही नहीं, अपितु समस्त जीवों को पूजनीय समझती है। अतः कहा है कि—

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते।
एतदंशानुरूप्येण सत्त्वपूजा कृता भवेत्॥ बोधि० ६।११८

बोधिचित्त से स्वार्थ भावना को समाप्त किया जाता है। बोधिसत्त्व समझता है कि सभी दुःख स्वार्थ की भावना से ही उत्पन्न होते हैं। अतः संसार में धनी वर्ग भी दुःखी है। गरीब वर्ग भी दुःखी है। शक्तिशाली राष्ट्र भी दुःखी है, निर्बल राष्ट्र भी दुःखी है। विज्ञान का दुरुपयोग करके एक दूसरे को नष्ट करने में लगे हुए हैं। इन सबके मूल में स्वार्थ की भावना है। इसके विपरीत कुछ लोग कम सम्पन्न होने पर भी सुखी दीखते हैं। इसका कारण परार्थ की भावना है। इसलिए महायान दर्शन का कहना है कि—

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया॥ बोधि० ८।१२९

बोधिचित्त तथा **प्रतीत्यसमुत्पाद** के गर्भ में सारी समाज व्यवस्था निहित है। वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा तथा रङ्गभेद आदि का इसमें कोई स्थान नहीं है। स्त्री तथा पुरुषों को भी अधिकार समान रूप से हैं। शक्तिशालियों तथा सम्पन्नों द्वारा कमजोरों का शोषण अनुचित होगा। किसी को भी किसी की इच्छा के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करना चाहिए। समाज के सभी सदस्यों को नैतिक शिक्षा मिलनी चाहिए। उसी नैतिक शिक्षा से ही समाज में नियन्त्रण रहता है।

कुछ लोग सोचते होंगे कि बौद्ध धर्म में स्थायी सामाजिक व्यवस्था के न होने से ही वह (बौद्ध धर्म) भारतवर्ष से लुप्त हो गया किन्तु यह धारणा सर्वथा गलत है। स्थायी व्यवस्था का अर्थ नित्य समाज की व्यवस्था से है तो यह बौद्ध अनुयायियों द्वारा स्वीकार्य नहीं है। नित्य व्यवस्था तो सम्भव ही नहीं है। **क्षणिकवाद** के आधार पर समाज की व्यवस्था अच्छी तरह से बनती है। समाज तथा व्यक्ति परिवर्तनशील होते हैं। यदि नित्य-व्यवस्था हो तो प्रगति असम्भव होगी। अनित्यता के आधार

पर समाज की प्रगतिशील व्यवस्था बौद्ध धर्म में है। आज बहुत से देशों में बौद्ध-धर्म राष्ट्रीय-धर्म के रूप में विकसित है। अतः किसी धर्म के किसी देश में लोप हो जाने का कारण और कोई है, बौद्ध धर्म में स्थायी व्यवस्था का अभाव इसका कारण नहीं है।

बोधिचित्त, महाकरुणा तथा **प्रतीत्यसमुत्पाद** के आधार पर बौद्ध महायान की दृष्टि से समाज की सुव्यवस्था सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक दोनों रूप में बनती है। परन्तु चिन्ता इस बात की है कि आज तथाकथित महायानी समाज में भी महायानी परम्परा के विरुद्ध कुप्रथा तथा अनैतिकता का स्थान बढ़ रहा है। अन्धविश्वास भी इन समाजों में अपना प्रभाव दिखा रहा है। इनका कारण यह नहीं है कि महायान धर्म की कोई त्रुटि पूर्ण व्यवस्था है। अपितु उस व्यवस्था का ठीक से अनुकरण नहीं हो पाना तथा उसके विषय में पर्याप्त ज्ञान का अभाव, उसका कारण है।

संक्षिप्त में हम यह समझते हैं कि महायान की दृष्टि से व्यक्ति तथा समाज एक दूसरे पर आधारित हैं। व्यक्ति के गुण तथा अवगुणों से समाज में भी गुण तथा अवगुण आते हैं। **बोधिचित्त** तथा **प्रतीत्यसमुत्पाद** की पृष्ठभूमि में जाति तथा वर्ण रहित समाज की व्यवस्था बनती है। भ्रष्टाचार तथा शोषण से मुक्त समाज का निर्माण होता है। ऐहिक तथा पारलौकिक एवं संसार तथा निर्वाणगत समस्त क्षेत्र में सबको समान अधिकार प्राप्त हैं। इस दृष्टिकोण को यथावत् प्रयोग में लाना व्यक्ति का कर्तव्य है।

• • •

महायानी साधक की दृष्टि से व्यक्ति, समाज तथा उनके सम्बन्ध

श्री टशी पलजोर

बौद्ध धर्म में वैराग्य को प्रधानता दी गयी है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने अपने विनेयजनों को धर्म की चरम सीमा पर पहुँचाने के लिए वैराग्य पर अधिक बल दिया है। बालपृथग्जनों में संसार के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है। संसार के प्रति अभिनिवेश रहने से भवसागर से कदापि मुक्ति नहीं मिल सकती। जब बौद्ध भिक्षु गुरु से विनय की दीक्षा लेता है तो उसमें संसार के प्रति अवश्य ही वैराग्य होना चाहिए। वैराग्य न हो तो उसे दीक्षा लेने पर भी संवर उत्पन्न नहीं हो सकता।

बौद्ध धर्म तथा दर्शन, दोनों ही समाज के हित के लिए **शाक्यमुनि** द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। अतः बौद्ध संस्कृति **अहिंसा** एवं **परार्थ** की भावना पर आधारित है। **हीनयानी** शास्त्रों में केवल **अहिंसा** पर ही बल दिया गया है तथा **महायानी** शास्त्रों ने **अहिंसा** एवं **परार्थ** की भावना दोनों पर बल दिया है। अहिंसा की सीमा केवल मानवमात्र तक ही नहीं है। बुद्ध की अहिंसा के अन्तर्गत त्रिलोक के समस्त प्राणी आते हैं। यही कारण है कि महायानी साधक समस्त जीवों के कल्याणार्थ सर्वप्रथम स्वयं **सर्वज्ञता** प्राप्त करना चाहते हैं। इसी की प्राप्ति के लिए वे समस्त विद्याओं का अध्ययन करते हैं। महायानी साधक तीनों यानों के मार्गों का अभ्यास करते हैं। संक्षिप्त में महायानी साधकों की शिक्षा **छः पारमिताएँ, दो नैरात्म्य, पाँच मार्ग, दशभूमि** आदि हैं।

विनय का मूल चार शिक्षायें ही है। ये हैं—**हिंसा, परिग्रह, व्यभिचार** तथा **मिथ्या भाषण** से विरति। **नशीली चीजों से विरति** के साथ ये **पंचशील** कहलाते हैं। इन्हीं पाँच मौलिक शीलों के अनेक अंग हो जाते हैं। यदि साधक इन पाँच शीलों का अपने जीवन में निष्ठापूर्वक आचरण करता है तो वह समाज का हित करता है। उसके द्वारा समाज का अहित कदापि नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति समाज में हिंसा करता है तो उससे स्वयं एवं समाज दोनों का अहित होता है। यदि साधक हिंसा न करने का व्रत लेता है तो उससे समाज में भय नहीं होता। सर्वप्रथम व्यभिचार पर ही विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इससे समाज में कितना उपद्रव पैदा

होता है। यही समाज में गृहस्थों के कलह का मुख्य कारण बन जाता है। जिससे परिवार में अशान्ति छा जाती है। उसको अपनाने वाले पुरुष और स्त्री दोनों का समाज में अपमान होता है। यही कारण है कि बुद्ध ने दस अकुशल कर्मों से बचने के लिए इन पञ्च विनयों पर अधिक जोर दिया है। यदि व्यक्ति इनका समुचित पालन करें तो समाज में अपराधियों की संख्या घट सकती है। जिससे न्यायालय तथा पुलिस आदि की अपराधियों को दण्ड देने वाली सभी संस्थाएँ स्वतः बन्द हो जाएँगी। इतना ही नहीं विश्व में युद्ध के लिये जितनी तैयारियाँ होती हैं, वे सब बन्द हो जाएँगी। युद्ध के निमित्त जितना धन व्यय किया जाता है, उसका शिक्षा एवं समाज के दलित लोगों पर व्यय हो सकेगा।

भिक्षुओं के लिए ब्रह्मचर्य के आचरण का नियम बनाया गया है तथा गृहस्थी के लिये व्यभिचार न करने का नियम है। व्यभिचार न करने वाले व्यक्ति को इस समाज में यश मिलता है तथा परलोक में सुगति उपलब्ध होती है। आचार्य **चन्द्रकीर्ति** ने **मध्यमकावतार** ग्रन्थ में कहा है कि सुगति का कारण शील ही है। इस प्रकार अन्य चारों शीलों से भी समाज का हित तथा अनाचरण से अहित दोनों उपर्युक्त की तरह होते हैं। उपर्युक्त पाँच विनयों का पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का सम्बन्ध निश्चित रूप से अच्छा होता है। नैतिक कर्तव्य का उचित ढंग से आचरण न करने पर समाज में अपमानित होना पड़ता है।

महायानी साधक समाज से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि वे परार्थ के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देते हैं। प्राणीमात्र का कल्याण करना ही महायानी साधकों का अन्तिम लक्ष्य है। बुद्ध ने भी समाज में रहने वाले दुःखी प्राणियों के लिए बोधिचित्त उत्पन्न किया है। महायानी शास्त्रों में कहा भी गया है कि समस्त बुद्धों के गुरु नरक के सत्त्व हैं। इसलिए आचार्य **चन्द्रकीर्ति** ने मध्यमकावतार के मंगलाचरण में करुणा को प्रणाम किया है। क्योंकि **करुणा** से **बोधिचित्त** उत्पन्न होता है, बोधिचित्त से **बोधिसत्त्व** तथा बोधिसत्त्व से **बुद्ध**। अतः बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों का मूल कारण करुणा ही है। करुणा भी कृत्रिम नहीं होनी चाहिए। जब तक यथार्थ महाकरुणा पैदा नहीं होगी, तब तक **महायानी** यह संज्ञा नहीं दी जा सकती। जिस समय महाकरुणा पैदा होगी उसी समय से व्यक्ति महायानी कहलाएगा। कुछ साधक समाज में साक्षात् रहकर सामाजिक प्राणियों की इच्छा के अनुसार सेवा करते हैं। इसके लिए वे केवल भिक्षुवेश में ही हों, ऐसी बात नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहकर भी समाज का कल्याण किया जा सकता है।

महायानियों की दृष्टि एवं क्षेत्र बहुत व्यापक है। साधक प्राणियों की कृपा पर पुनः पुनः विचार करते हैं। अनादिकाल से हम पर प्राणियों की बड़ी कृपा रही है। साधक दिन रात प्राणियों की सेवा में लगे रहते हैं। जब तक समस्त जीवों को सुख एवं शान्ति प्राप्त नहीं होगी, तब तक साधक अपने लिए मोक्ष की अभिलाषा भी नहीं करते। हमारे जन्म का आदि नहीं है। जब तक अर्हत् का पद प्राप्त नहीं होता, तब तक निश्चय ही संसार में जन्म लेना पड़ेगा। **भगवान् बुद्ध** ने प्राणी के जन्मों का आदि नहीं बताया। अपने-अपने कर्मों से प्राणी संसार में जन्म लेते रहते हैं। इस जन्म की भी हमारी एक माँ है। इनकी कृपा पर गम्भीरता से विचारने पर हमें ज्ञात होता है कि इनकी कृपा को कैसे चुकाएँगे। महायानी शास्त्रों में इस बात पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यही कारण है कि साधक कोई कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व, सभी सत्त्व सुख एवं सुख के कारणों से युक्त हों, सभी सत्त्व दुःखरहित होकर परमसुख से युक्त हों, सभी सत्त्व सुख एवं दुःख के कारण राग, द्वेष आदि से रहित होकर उपेक्षा में विद्यमान हों, प्राणियों के हितार्थ **बोधिसत्त्व** ऐसा चित्तोत्पाद करते हैं। **उदान वर्ग** में **बुद्ध** ने कहा है कि रात के पहरेदार को रात बड़ी लम्बी होती है, थके हुए व्यक्ति को एक योजन भी दूर होता है, इसी भाँति सद्धर्म को नहीं जानने वाले बालजनों को संसार लम्बा लगता है। महायानी साधक के पाँच मार्ग इस प्रकार हैं—

(१) **सम्भार मार्ग**—साधक के मन में बोधिचित्त उत्पन्न होते ही महायान के सम्भार मार्ग की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व का मुख्य कारण पुण्य सम्भार और ज्ञान सम्भार है प्रारम्भिक मार्ग होने के कारण इसे सम्भार मार्ग कहते हैं। बोधिचित्त न होने पर महायान के सम्भार मार्ग में भी प्रवेश नहीं हो सकता है। सम्भार मार्ग की अवस्था में मुख्य रूप से शून्यता का श्रवण एवं चिन्तन किया जाता है।

(२) **प्रयोग मार्ग**—शून्यता की भावना करके उसका अनुभव हो जाने पर प्रयोग मार्ग की उपलब्धि होती है। शून्यता को आनुभविक रूप से प्रयोग करने के कारण यह प्रयोग मार्ग कहा गया है।

(३) **दर्शन मार्ग**—धर्म नैरात्म्य या शून्यता का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर दर्शन मार्ग तथा प्रथम बोधिसत्त्वभूमि **प्रमुदिता** की प्राप्ति एक ही समय में होती है। दर्शन मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने वाले बोधिसत्त्व को **आर्य** भी कहा जाता है।

(४) **भावना मार्ग**—साक्षाद् शून्यता को जानने वाले मार्ग के द्वारा किन्हीं नौ क्लेशों के प्रशमन के लिए भावना करते समय भावना मार्ग प्राप्त हो जाता है।

यदि महायानी प्रयोग मार्ग से भावना में प्रवेश करने वाला हो, तो उन्हें **क्लेश** और **ज्ञेय** दोनों **आवरणों** को भावना मार्ग की अवस्था में प्रहीण करना चाहिए।

(५) अशैक्ष्य मार्ग—प्रहीण भावना हेय या समस्त आवरणों के प्रहीण हो जाने पर अशैक्ष्य मार्ग प्राप्त होता है। **अशैक्ष्य मार्ग** की प्राप्ति तथा **बुद्धत्व** की प्राप्ति एक ही समय में होती है। क्लेशों का क्षय करना तथा ज्ञेयों को जानना शेष नहीं रहता है। अतः यह अशैक्ष्य मार्ग कहा गया है।

चिन्तकों की दृष्टि में भेद

प्रत्येक देश एवं विदेश के समाज में अनादिकाल से समाज के हितैषी होते रहे हैं। ये चिन्तक समाज को अपनी-अपनी दृष्टि से देखते हैं। भारत, यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के अनेक विचारकों ने समाज में सुख एवं शान्ति के लिए सतत प्रयास किया है। स्वर्गीय पण्डित **जवाहरलाल नेहरु** तथा महात्मा **गांधी** जैसे महापुरुषों ने विश्व कल्याणार्थ अपने जीवन को समर्पित किया है। उन्होंने केवल भारत के हित के लिए ही नहीं, बल्कि एशिया, यूरोप एवं अन्य देशों के लिए भी सोचा। इस प्रकार पश्चिम के अनेक चिन्तकों ने भी समाज को सुखी बनाने तथा उसके उत्थान के लिए गम्भीरता पूर्वक विचार किया। इन विचारकों की दृष्टि एवं क्षेत्र महायानी साधकों की अपेक्षा सीमित और संकुचित होते हैं। महायानी साधकों के कल्याण पात्र केवल सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि त्रिलोक के समस्त जीव हैं। वे प्राणियों को सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त कराने के लिए दशों दिशाओं में विद्यमान समस्त बुद्धों एवं बोधिसत्त्वों के सम्मुख बोधिचित्त उत्पाद करते हैं। बोधिचित्तोत्पाद कर बोधिसत्त्वों की शिक्षाओं का अभ्यास करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा भी करते हैं। महायानी साधकों की शिक्षा दो प्रकार की होती है। वे अपने मन विनीत बनाने के लिए दानादि **छः पारमिताओं** का अभ्यास करते हैं तथा दूसरों के मन को विनीत के लिए **चतुःसंग्रह** का अभ्यास करते हैं। महायानी साधक प्राणियों के हितार्थ चिन्तन करते हैं क्योंकि इनका साध्य ही समाज का कल्याण करना है। वे कभी भी संसार में दुःखी प्राणियों को नहीं छोड़ना चाहते। कुछ साधक समाज में साक्षात् समाज सेवियों की तरह गाँव-गाँव घूम-फिर कर समाज की सेवा करते हैं। कुछ साधक एकान्त में रह कर त्रिलोक के प्राणियों के हित के लिए पारमिताओं का पालन करते हैं।

साधक गुरूसेवा से प्रारम्भ कर **शमथ** और **विपश्यना** तक सम्पूर्ण महायानी सूत्रों का निष्ठापूर्वक श्रवण, चिन्तन एवं भावना करते हैं। वे सूत्र पक्ष के सम्पूर्ण आगम एवं शास्त्रों का अध्ययन सम्पन्न कर तत्पश्चात् तन्त्र के बीस गुणों से युक्त गुरू से तन्त्र का अभिषेक

ग्रहण करते हैं। साधक **नागार्जुन** कृत **श्रामणेर कारिका** से लेकर **तन्त्रराज गुह्यसमाज** तक के सम्पूर्ण सूत्र एवं तन्त्रों की शिक्षा प्रामाणिक गुरु से ग्रहण करते हैं। प्रामाणिक गुरु भी **विनय, महायान** एवं **तन्त्र** के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। बौद्ध तन्त्र के मूल संवर चौदह हैं। साधक को इन चौदह संवरों का पालन करना पड़ता है। वे **उत्पत्तिक्रम** एवं **सम्पन्नक्रम** की भावना तथा अभ्यास करते हैं। तन्त्र की दीक्षा प्राप्त करने के बाद **संवर** एवं **समय** का पूर्ण पालन करना पड़ता है। तन्त्र सिद्धि का मूल संवर एवं समय है। इन दोनों के उचित पालन से ही अन्य सभी शिक्षाएँ फलदायक होती हैं।

महायानी साधकों को तीनों यानों के मार्गों का पूर्ण अभ्यास करना पड़ता है। क्योंकि भगवान् बुद्ध ने इन तीनों यानों को एक व्यक्ति के इसी अल्प जीवन में ही बुद्धत्व प्राप्त कर सकने के लिए बताया है। जब तक सभी जीवों को बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक एक महायानी साधक की समाज सेवा पूर्णरूप से सम्पन्न नहीं होती।

● ● ●

बौद्ध दृष्टि में व्यष्टि और समष्टि

गेशे-येशेस थवख्यस

परात्मसमतामादौ, भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत्[1] ॥

बौद्ध वाङ्मय के अनुसार चर्या एवं दर्शन के निम्नलिखित प्रकार हैं। मनुष्यों में पराये व्यक्तियों की अपेक्षा आत्म-स्नेह सहज रूप से उद्भूत होता है, यही कारण है कि मनुष्य सदा से स्वार्थ-सम्पन्नता के लिये लालायित रहे हैं। पर हिंसा सर्वथा त्याज्य है। किसी की भी शत्रुता, मित्रता एवं उदासीनता की पृथक्-पृथक् भावनाओं का उत्सर्ग कर सुख, दुःख एवं उपेक्षा जैसी विषमतामयी कुभावनाओं का उन्मूलन करने पर समस्त प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, द्वेष आदि भावना से रहित समताभाव से कल्याणकारी सुभावना की उत्पत्ति होती है।

कुछ कारणों तथा निर्धारित प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव की उत्पत्ति मात्र अहिंसा का तात्पर्य नहीं है, बल्कि अपने तुल्य सुख की चाह, दुख का परिहार तथा सुख-दुःख की अनुभूति करने वाले प्राणि मात्र के लिए हिंसा हेय है; केवल मनुष्य जाति के प्रति ही नहीं है। इस प्रकार परार्थसिद्धि भी कुछ या एक पक्षीय कारणों से निश्चित समाज पर या निश्चित व्यक्तियों तक ही सीमित न होकर सुखेच्छु जीव के अन्तर्गत आने वाले समस्त प्राणियों की रक्षा एवं जीवन दोनों की अनिवार्यता में है। सर्वसत्त्व की हिताकांक्षा से देवदत्त जैसे एक व्यक्ति की, किसी विशेष समाज या देश की हिंसा से विरत होकर हित सम्पन्न करने पर भी समस्त कार्य लोक के कल्याण एवं परहित में ही अहिंसा की सिद्धि होती है।

व्यक्ति अपने निजी सुख एवं सम्पन्नता के लिए, अन्यों को दुःख देना तो दूर, समाज के तात्कालिक सुख एवं स्थायी कल्याण हेतु जीवित रहता है और उचित समय पर अपना भी उत्सर्ग कर देता है। लोकहित की बलवती अभिलाषा से पुरुष अपने को शिक्षित, चरित्रवान एवं सक्षम करना चाहता है। परार्थ सम्पन्नता हेतु शिक्षित एवं सुशील व्यक्तित्व का होना नितान्त अपेक्षित है।

---

१. बोधिचर्यावतार ८।९० ।

विनय पिटक में भिक्षुसंघ, भिक्षु, व्यक्ति के व्यवहार का वर्णन आया है। सामान्यतः बौद्ध शास्त्रों में समस्त प्राणि अथवा समस्त सत्त्व की शब्दावली का व्यवहार मिलता है। परन्तु समाज या व्यक्ति (व्यष्टि) जैसे शब्दों का या उनकी व्याख्या नहीं मिलती। इसका तात्पर्य यह है कि देश विशेष, जाति विशेष या उससे सम्बन्धित किसी विशेष समाज का ही हित साध्य नहीं है, अपितु सुख की चाह एवं दुःख के परिहार के इच्छुक समस्त व्यक्ति एवं प्राणीमात्र का दुःख से छुटकारा तथा जनहित साध्य होना चाहिए।

क्षणिकता

सांसारिक ऐश्वर्य का क्षण-क्षण परिवर्तन एवं क्षय होना, उसका स्वभाव है। प्रिय बन्धु जैसे सम्बन्धी तथा उसके कार्य भाव भी, कुहासा की भाँति प्रतिक्षण नष्ट होने वाले क्षणिक धर्म हैं। कल के सुख में क्षण-क्षण अग्रसारित होता है। इसलिए वैभवों तथा प्रिय-अप्रिय के बन्धनों को तोड़कर इस तृष्णा के समाप्त होने पर लोक-गमन निर्विवाद रूप से बनता है।

इस प्रकार की क्षणभंगुरता को बार-बार विचारने के फलस्वरूप अभिनिवेश क्षीण हो जाते हैं। इस क्षणिक लघु जीवन में परस्पर द्वेष जैसी भावना अनुचित है, भेद-भाव बरतना अनर्थ एवं निःसार प्रतीत होता है। फलतः व्यक्ति सामाजिक संरचना के निर्माणार्थ दानशीलता जैसी मानवीयगुण-युक्त पारमिताओं के द्वारा जन-कल्याण में प्रवृत्त होने के लिए विवश हो जाता है।

दुःखस्वरूप

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान ये पाँच उपादान स्कन्ध हैं। जो समस्त दोषों के आधार हैं। उपादान स्कन्ध, कर्म एवं क्लेश के परिपाक हैं। व्यक्ति और समाज, कर्म एवं क्लेश के वशीभूत हैं। प्रिय तथा अप्रिय के वियोग एवं संयोग दुःख के कारण है अर्थात् सांसारिक सुख सुविधाओं के दुःख-स्वभाव के परिज्ञान से उनके प्रति अभिनिवेश, अभिमान आदि का शमन होता है। फलतः उसकी प्राप्ति की कुचेष्टाएँ त्याग कर उपाय कौशल सम्पन्न व्यक्ति निःसार सांसारिक वैभवों से उत्तम सामाजिक व्यवस्था में सतत प्रयत्नशील रहता है।

नैरात्म्य

हम लोगों की सहजबुद्धि में मम पर अहं की प्रतीत्यसमुत्पाद मात्रता है। व्यवहार से सन्तुष्ट न होकर किसी की उपेक्षा किये बिना अर्थात् स्वतन्त्र बुद्धि के

वशीभूत या आत्मदृष्टि के कारण स्व और पर की भिन्न भिन्न बुद्धि पैदा होती है। पर के प्रति भी अपने सम्बन्धित होने न होने के भेद से राग, द्वेष एवं उपेक्षा की भिन्न भिन्न भावनाएँ स्वतः उत्पन्न होती है। इस स्थिति में जब तक व्यक्ति या पुद्‌गल रहता है तब तक उसको कर्म एवं क्लेश के वशीभूत या सांसारिक पुरुष कहते हैं।

अतः सांसारिक पुरुष को राग-द्वेष आदि समस्त दोषों के आधारभूत आत्म-दृष्टि के विपरीत नैरात्म्य दृष्टि का बार-बार चिन्तन मनन करना चाहिए।

नैरात्म्य ज्ञान या विचार से लाभान्वित पुरुष अन्य व्यक्तियों की तुलना में अपने लिए अत्यन्त सुख की प्राप्ति एवं दुःख के परिहार को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्रदान करता है। दूसरों के प्रति भी मैत्री या सुख के योग का तथा कुछ के प्रति इसके विपरीत का विचार आता है। किसी के प्रति भी मैत्री या सुख के योग का तथा कुछ के प्रति इसके विपरीत का विचार आता है। किसी के प्रति उपेक्षाभाव जैसी विषम भावनाओं का शमन कर समस्त प्राणियों के प्रति समताभाव का उत्पाद करना नितान्त आवश्यक है।

सारांश

यद्यपि स्वयं की महत्ता एवं स्वार्थसिद्धि सर्वोपरि है फिर भी **परार्थ सिद्धि** में असमर्थ व्यक्ति को अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु परहिंसा या हानि से विरत होने की चर्या का पालन सदैव करना चाहिए। व्यक्ति तथा समाज के अहित तथा दुःखदायी चर्या की हेतु व्यक्तियों की आत्मदृष्टि तथा अज्ञानता ही है। हमें इस राग, द्वेष तथा अज्ञानता में दोष देख, व्यक्ति तथा समाज के स्वार्थ को सर्वोपरि मान, इस तुच्छ मनोवृत्ति को तिजांजलि देना चाहिए; तब बहुजन हिताय की महत्ता बढ़ती है। असंख्य प्राणियों के हित सम्पादन के लिए उद्योग श्रेयष्कर है। क्रमशः व्यक्ति या समाज में प्राणीमात्र के सुखसम्पादन एवं दुःखपरिहार करने का भार या उत्तर-दायित्व अपने ऊपर सहर्ष ग्रहण करने का मनोबल या उत्साह जब कभी भी उत्पन्न करता है तभी वह **महायान** में प्रविष्ट होता है, इस प्रकार वह एक महायानी व्यक्ति या समाज को बनता है। यह चर्या तथा दर्शन असाधारण है। इस प्रकार की दृष्टि एवं चर्या में अवतरित व्यक्ति जिस किसी के भी सामाजिक सम्पर्क में आने पर व्यक्तिगत लाभांश तथा उत्तरदायित्वों की उपेक्षा कर सामाजिक रचनात्मक कार्यों को निःसन्देह सर्वोपरि मान्यता प्रदान करता है, पर इसमें व्यक्ति एवं व्यक्तिगत दायित्वों की अव-हेलना भी इष्ट नहीं है। क्योंकि प्राणी मात्र का हित सम्पादन करना ही उसका साध्य है।

यद्यपि महायान पिटकों में लोक हित को अधिक प्रधानता प्रदान की गयी है तथापि सामाजिक या व्यक्तिगत, तत्कालिक अहित को भी किसी समय-विशेष पर पुण्य या सुकर्म कहा गया है।

अपने में क्षणिकता एवं दुःख स्वभावता का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति में आसक्ति तथा अभिमान का क्षय होता है। यही दृष्टि प्राणीमात्र के उदय के साक्षात्कार की है जो प्राणिमात्र को दुःखों से छुटकारा दिलाने की करुणा देती है तथा सुख से संयोग और मैत्री भाव उत्पन्न कराने वाली है।

समस्त लौकिक ऐश्वर्य कर्म क्लेश के वशीभूत होने से दुःख स्वभावता के कारण परार्थ नहीं होते, वे निर्धारित क्षमता वाले हेतुओं के अनुगमन से परिवर्तनशील एवं क्षणिक हैं। **स्व** और **पर** से स्वतन्त्र सिद्ध नैरात्म्य ज्ञान सर्व-धर्म-परतन्त्र होते से प्रतीत्यसमुत्पन्न स्वभाव में होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद मात्र में समस्त सामाजिक व्यवस्था संगत होती है, ऐसा जानकर समस्त दोषों के आधारभूत अज्ञानता मूलक राग-द्वेष सर्वथा हेय हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त सुख का हेतु प्रज्ञा एवं जनकल्याण ही है।

भवन्त्वक्षयकोशाश्च यावद्गगनगञ्जवत् ।
निर्द्वन्दा निरूपायासाः सन्तु स्वाधीनवृत्तयः ॥

(बोधिचर्यावतार परि० १०, श्लो० २८)

• • •

बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति का विकास

डॉ० हरिशंकर शुक्ल

व्यक्ति और समष्टि अत्यन्त व्यापक विषय है। इसका अध्ययन तो सभी सामाजिक विज्ञानों में किया जाता है, लेकिन हमारे सामने कठिनाई यह आती है कि समाज के बारे में सभी सामाजिक विज्ञानों का दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न हैं। राजनीति शास्त्र में समाज का तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से समझा जाता है। अर्थशास्त्र समाज को आर्थिक क्रियायें करने वाले व्यक्तियों के समूह के रूप में देखता है। मानवशास्त्र आदिम समुदायों को ही समाज कहता है तथा समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न रूपों में व्यष्टि तथा समष्टि का अध्ययन करते हैं। इनके अध्ययन का अपना अलग-अलग क्षेत्र है। कोई भी शास्त्रसमाज के सभी पक्षों का अध्ययन नहीं करता है। साथ ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास किस प्रकार सम्भव है, इसका विवेचन किसी एक शास्त्र में उपलब्ध नहीं है; जबकि बौद्धशास्त्र व्यष्टि तथा समष्टि के सर्वाङ्गीण रूपों का अध्ययन करता है। वह सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि रूपों में इसका अध्ययन करता है। अतः इस पर कई दृष्टियों से प्रकाश डाला जा सकता है। समाज, नीति, दर्शन आदि इसके कई दृष्टिकोण हैं। हम धरती के मानव प्राणी हैं एवं हमारी मूलभूत समस्यायें भी हैं। यह धरती का मनुष्य यहाँ सुखद परिवेश बना सके, यह हम सबको इष्ट है। फलतः विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण से बौद्ध चिन्तन के अनुसार व्यक्ति एवं समष्टि का कैसे पूर्ण विकास हो सकता है, इस तथ्य को इस निबन्ध में प्रस्तुत करना है।

पालि साहित्य में व्यष्टि अर्थात् व्यक्ति के लिए **पुग्गल, मनुस्स** आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के लिए न होकर व्यापक रूप में हुआ है। हाँलाकि बौद्ध दर्शन में व्यक्ति की कल्पना **पञ्च स्कन्धों** के रूप में है। वहीं व्यक्तिवाद का खण्डन किया गया है। अतः इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इस व्यावहारिक जगत में जिसे हम व्यक्ति की संज्ञा देते हैं, वही पञ्चस्कन्ध है, जो **अर्हत्व** प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। उपर्युक्त आधार पर बौद्ध चिन्तन की दृष्टि से पञ्चस्कन्धों के समुदाय को ही **समाज** कहा जा सकता है। सामान्यतः त्रिपिटक में समाज या समष्टि शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, लेकिन भगवान् बुद्ध

ने समाज या समष्टि के लिए **'बहुजन'** शब्द का प्रयोग विनयपिटक में किया है, जिसकी पुष्टि **'महावग्ग'** की निम्नलिखित पंक्ति से होती है—**चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्तायहिताय सुखाय देवमनुस्सानं** (म० व० पृ० २३)।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थात् पञ्चस्कन्धों के समुदाय को ही समाज कहा जाता है। यह सर्वविदित है कि जिस प्रकार के व्यक्ति होंगे, उसी प्रकार के समाज का गठन भी होगा। इस दृष्टि से यह अवश्य है कि व्यक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास हो तथा वे शील सम्पन्न हों, जिससे कि एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् बुद्ध ने तो भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिए ही उपदेश किया है न कि सामान्य जनों अर्थात् गृहस्थों के लिए। इससे यह तो सम्भव है कि सामान्य जनों अर्थात् गृहस्थों की एक स्वस्थ समष्टि का निर्माण हो सकता है। इससे तो केवल भिक्षु समुदाय ही लाभान्वित हो सकता है। लेकिन इस प्रकार की धारणा बिल्कुल निराधार एवं तथ्य हीन है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षु गृहस्थ दोनों के लिए उपदेश किया है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने गृही जीवन के समस्त अंगों पर विचार करते हुए उसके सर्वांगीण विकास की पृष्ठभूमि में ही **सिगालोवादसुत्त** का उपदेश दिया था। साथ ही यह तो उनके प्रथम उपदेश से भी प्रकट है, जब उन्होंने भिक्षुओं को बहुजनहिताय बहुजनसुखाय की भावना से अनुप्राणित कर लोक कल्याण में विचरण करने के लिए कहा था। ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश करते समय भिक्षुओं को ही पुनः-पुनः सम्बोधित किया है और सम्भवतः उस सम्बोधन को ही देखकर ऐसी धारणा बन गयी है कि बुद्ध के उपदेश भिक्षुओं के लिए ही हैं। **आचार्य बुद्धघोष** ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि परम कारुणिक **तथागत** के उपदेश को इस प्रकार सीमित करना उचित नहीं है। उपदेश क्रम में भिक्षुओं का सम्बोधन तो एक देशना की विधि मात्र है। जिस प्रकार राजा के आगमन से मंत्री-गण, अंगरक्षक, सेनापति आदि का आगमन स्वतः अभिप्रेत है, उसी प्रकार सम्बोधन के रूप में भिक्षु शब्द के प्रयोग के साथ उनकी चार प्रकार की परिषद् समाविष्ट है। उस शब्द से **भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक** तथा **उपासिका** सबका कथन इष्ट समझना चाहिए (सु० वि० ३–६८)। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि परम कारुणिक तथागत की वाणी गृही तथा प्रव्रजित सबके हित के लिए है।

अब यह विचारणीय है कि भगवान् बुद्ध ने व्यष्टि तथा समष्टि के विकास के लिए कौन-कौन सी बातें कहीं हैं। इस क्रम में यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के सामने

समाज का विशेषकर मनुष्य मात्र का सर्वाङ्गीण विकास इष्ट था। इसलिए उन्होंने समष्टि में मधुमय वातावरण बनाने के लिए जो जो कार्य उपयुक्त हैं, उन सबका विधान किया है। इस दिशा में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

मनुष्यों को मुख्यतः चार प्रकार के क्लेशयुक्त कर्म नहीं करने चाहिए। वे हैं— **प्राणातिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिच्छाचार** एवं **मुसावाद**—(दी० नि० ३–१४४)। इनमें प्रथम तीन कायिक दुष्कर्म है तथा चौथा वाचिक दुष्कर्म है।

प्राणातिपात जीवहिंसा, प्राणिबध आदि का ही नाम है। बौद्ध परम्परा के अनुसार आत्मा तथा आत्मीय कुछ नहीं है। जो मनुष्य है, वह पाँच स्कन्धों का संघातमात्र है। मनुष्य के व्यक्तित्व में पाँच स्कन्धों के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसे आत्मा या आत्मीय कहा जा सकता है। तब बध किसका होता है? जिसके द्वारा इन पाँच स्कन्धों का संधारण होता है, वह जीवितेन्द्रिय है, उसका उपच्छेद ही प्राणिबद्ध है। ऐसा जानते हुए किसी प्राणी को उसके जीवन से पृथक् कर देना प्राणिबध कहा जाता है।

आचार्य **बुद्धघोष** ने इस पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि प्राणी शब्द व्यवहार में सत्त्व के लिए आया है। परमार्थरूप में वह जीवितेन्द्रिय का नाम है। इसलिए उस जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद के लिए काय तथा वची द्वार से प्रवृत्त वधक-चेतना ही प्राणातिपात है। इस कर्म के होने में पाँच बातों का होना आवश्यक है— प्राणी हो, वह प्राणी है ऐसा ज्ञान हो, उसके प्रतिघात के लिए बाधक चित्त हो, वध के लिए यत्न हो तथा उसके फलस्वरूप मरण हो। इस प्रकार प्राण हिंसा के लिए जो बधकचेतना है, उसका परित्याग ही प्राणातिपात से विरति है, जिसको जीवन में उतारना समष्टि अर्थात् समाज के सम्यक् विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अदिन्नादान दूसरा क्लेशयुक्त कर्म है, जिसका अर्थ होता है चोरी। जो वस्तु न दी गयी हो, उसको ग्रहण करना या दूसरे की वस्तु का हरण करना चोरी है। यह दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने की चेतना है। उसको लेने के लिए यत्न हो, इन सबके साथ जो स्तेय चेतना उत्पन्न होती है, वह अदिन्नादान है। समाज से सम्यक् विकास के लिए यह आवश्यक है कि लोग चोरी से विरत रहें, जिससे समाज से सदा सद्भावना एवं मैत्री का वातावरण बना रहे।

कामेसुमिच्छाचार तीसरा क्लेशयुक्त कर्म का नाम है। यह व्यभिचार का द्योतक है। गृही के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यभिचार से विरत रहे। वह अपनी

एक भार्या में संतुष्ट होकर जीवन व्यतीत करे। इस प्रसंग में यह भी कहा गया है कि मैथुन-समाचार, मिथ्या-आचरण, लाभकाचार आदि एकान्ततः मिथ्याचार है। शरीर या वचन से किसी स्त्री के साथ संसर्ग करना या मन से चिन्तन करना व्यभिचार के अन्तर्गत है। इस प्रसंग में यह भी दर्शाया गया है कि पुरुष किसी प्रकार से भी पर स्त्री में अनुरञ्जन न करें। साथ ही कुछ बालिकाओं का भी उल्लेख हैं जो प्रत्येक स्थिति में अगमनीय है। वे हैं—माता द्वारा रक्षित, पिता द्वारा रक्षित, भाई द्वारा रक्षित आदि। इसलिए सामाजिक सुव्यवस्था एवं सामाजिक अनुकूल परिवेश बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक प्राणी अकुशल कर्मों का परित्याग करे।

इस क्रम में **मुसावाद** या असत्यकथन भी एक प्रकार का दोष माना जाता है। जो बात अतथ्य हो, उसे तथ्य के रूप में कहना, या जो बात घटित ही नहीं हो वह हो चुकी है, इस प्रकार असत्य वस्तु को सत्य के रूप में कहने की जो वचोविज्ञप्ति को उत्पन्न करने वाली बधक चेतना है, उसे मुसावाद कहते हैं। इसके लिए भी चार बातों का होना आवश्यक है—असत् वस्तु, उसको सत्य के रूप में कथन का चित्त, उसके लिए यत्न एवं उस बात को जानना। इस प्रकार जो झूठ बोलने की प्रक्रिया है, उससे विरत रहना ही समाज को सुव्यवस्थित एवं सुखी रूप प्रदान करने में सहायक हो सकता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के पाप कर्मों से विरत रहने के लिए भगवान् बुद्ध ने उपासकों को कहा है क्योंकि ये चारों पापकर्म हिंसा में अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करने के लिए इनसे विरत रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भी भगवान् बुद्ध ने कुछ अकुशल कर्मों की चर्चा की है तथा उनसे भी विरत रहने के लिए कहा है। वे हैं—पिशुनवचन, परुषवचन, सम्प्रलाप, अभिध्या, व्यापाद तथा मिथ्यादृष्टि आदि।

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में कुछ परिस्थितियों का भी उल्लेख है जिनसे वशीभूत होकर मनुष्य पाप कर्म करता है इन परिस्थितियों में छन्द, द्वेष, मोह तथा भय प्रसिद्ध है। इनके कारण सम्यक् पथ का परित्याग कर मनुष्य मिथ्या पथ को अपनाता है। उसे जान लेना चाहिए कि इनके प्रभाव में जो कर्म होते हैं, वे सभी हीन होते हैं। इसलिए इनके प्रभाव में आकर अशुभ कर्मों को नहीं करना चाहिए क्योंकि ये चारों अकुशल धर्म ऐसे प्रबल हैं कि इनसे या इनके कारण सम्यक् मार्ग का अतिक्रमण हो जाता है। ऐसा होने से मनुष्य का यश वैसे ही क्षीण होने लगता है, जिस प्रकार कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ क्षीण होती हैं। (दी० नि० ३–१४०)।

आचार्य **बुद्धघोष** ने इन चार अकुशल प्रवृत्तियों के प्रभाव से होनेवाले दुष्कर्मों की चर्चा करते हुए कहा है कि मनुष्य छन्द अर्थात् राग के कारण अनुचित गति से गमन करते हुए अकर्तव्यों को कर्तव्य के रूप में करता है। द्वेष के कारण अनुचित मार्ग का अनुसरण करते हुए किसी व्यक्ति के प्रति वैर भावना को विकसित करता है। मोहवश या ज्ञान के अभाव में अस्वामी को स्वामी मानता है। मनुष्य भय के कारण भी पापकर्म करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अकुशल आस्रवों को जानकर विभिन्न वस्तुओं के प्रति अपने चित्त को लगाने तथा जो भी काम करे, उसे ठीक से करे।

इस क्रम में **भगवान् बुद्ध** ने कुछ ऐसे कार्यों का भी उल्लेख किया है, जो गृहस्थ आदि के लिए हानिकारक हैं। उन कार्यों को करके वह अपने संचित भोग या कोष को विनष्ट करता है। साथ ही साथ वह लोगों में अयश को प्राप्त करता है। उन कार्यों में मद्यपान, असमय में यत्र-तत्र घूमना, ऐसा स्थान जहाँ विभिन्न स्वभाव वाले लोगों का समागम होता है वहीं विचरण करना, जुआ खेलना, पापी मित्रों के साथ रहना तथा आलस्य से युक्त रहना आदि।

साथ ही उन्होंने इनमें से प्रत्येक के दोषों का स्पष्टतः दिग्दर्शन कराया है (दी० नि० ३–१४२)। यथा—मद्यपान से धन की हानि, कलह की वृद्धि, रोगों की उत्पत्ति आदि प्रकार की हानियाँ होती हैं। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने इन कार्यों से होने वाली हानियों को स्पष्ट रूप में दर्शाया है।

भगवान् बुद्ध ने एक अन्य उपयोगी अंग पर भी बल दिया है और वह है—अप्रमाद। इस सम्बन्ध में तो भगवान् बुद्ध ने यहाँ तक कहा है कि प्रमाद मृत्युपद है और अप्रमाद अमृतपद। जो लोग प्रमाद को छोड़कर अमृतपद की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं, वे शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अपार सुख की अनुभूति करते हैं। बुद्ध की अन्तिम वाणी में भी कहा गया है कि मनुष्य को अप्रमादी होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लग जाना चाहिए। प्रमादी अर्थात् आलसी मनुष्य तो कभी भी अपने कार्य को यथासमय नहीं करता है। फलस्वरूप उसका जीवन कष्टप्रद रहता है तथा इससे बुद्धि, धन आदि की हानि होती है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है—

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता॥

इस क्रम में भगवान् बुद्ध ने व्यक्ति के सम्यक् विकास के लिए जीवन के एक एक क्षण के सदुपयोग को भी आवश्यक बतलाया है क्योंकि सभी पद विनयशील है

तथा आयु के क्षण भी नष्ट होते जा रहे हैं। जिस प्रकार उद्यान के फूलों का सदुपयोग कर सुन्दर मालाएँ बनायी जा सकती हैं, उसी प्रकार जीवन के क्षणों का सदुपयोग कर कुशल कर्म किये जा सकते हैं। जिस प्रकार यदि उपवन के फूलों का सदुपयोग न हो तो वे भी जीर्ण-शीर्ण हो गिर जायेंगे, उसी प्रकार यदि जीवन के क्षणों का उपयोग न हो तो वे भी व्यर्थ में नष्ट हो जाएगें (ध० प० २२१)। इसलिए हमें इस जीवन में भौतिक लाभ के साथ आध्यात्मिक लाभों का भी संतुलन रखना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य यहाँ भी सुखी रह सकता है तथा अन्यत्र भी सुखी हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भौतिक लाभों का संग्रह करें, पर वह धर्ममय भावना से पुनः मनुष्य जिस धन का संग्रह करता है, उसे चार भागों में विभक्त कर दो भाग को भोजन में, दो भाग को अन्य आवश्यक कार्यों में लगाए तथा शेष भाग को आपत्काल के लिए सुरक्षित रखे। इस प्रकार की बचत योजना को यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में काम लाये तो देश में कभी भी मुद्रास्फीति की स्थिति नहीं हो सकती है। फलस्वरूप मँहगाई की समस्या भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। लोक व्यवहार में सर्वदा तत्पर एवं अप्रमादी वन, विपत्तियों से घबड़ाये नहीं, अच्छे मित्रों का संग्रह करें, दानी, प्रियवादी, समभाव रखने वाला, उदार एवं उत्तम लक्ष्य में रत रहे। उसे यह समझना चाहिए कि लोक में जो संग्रह है, वे न माता-पिता, न पुत्र आदि के लिए है, वरन् संग्रह का उद्देश्य सत्कर्म की अभिवृद्धि पूर्वक जीवन यापन करना है। मनुष्य माता-पिता या पुत्र के कारण लोक में यशस्वी नहीं हो सकता है, वरन् धर्माचरण एवं उत्तम गुणों के कारण ही वह महान् बन सकता है एवं यश का भागी हो सकता है (दी० नि० ३, १४९)। इसलिए भगवान् ने कहा है कि पुण्यकारी यहाँ भी आनन्द करता है और परलोक में भी आनन्द करता है। वह सर्वत्र आनन्द करता है (ध० प० १०)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भगवान् बुद्ध के उपदेशों का मुख्य केन्द्र बिन्दु यह है कि इस लौकिक जीवन का सफल निर्माण भौतिक तथा आध्यात्मिक उपकरणों के आधार पर ही हो।

इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों के आधार पर व्यष्टि के सर्वाङ्गीण विकास के अनन्तर एक स्वस्थ समष्टि अर्थात् समाज का उदय होता है। जो आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि दृष्टि से विकसित रहता है। उस समाज की आर्थिक दशा बड़ी ही सुदृढ़ रहती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती है। इसलिए आर्थिक विषमता का प्रश्न ही नहीं उठता है। साथ ही उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति

विशेष का अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त संघ के आधार पर स्थापित समष्टि की सामाजिक दशा भी अनुपम अर्थात् मनोरम होती है। इस प्रकार की समष्टि में जाति विशेष का नाम नहीं रहता है अर्थात् जातिविहीन समष्टि का उद्भव होता है, जिसकी कल्पना हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी की थी। धार्मिक दृष्टि से भी वह विकसित एवं स्वस्थ समाज होता है। इस प्रकार के समाज में किसी विशेष धर्म की प्रधानता नहीं होती है। लोग बाह्य आडम्बर से अलग रहते हैं। वे मूर्तिपूजा, ईश्वर आदि में विश्वास न करके अपने कुशल कर्मों पर विश्वास करते हैं क्योंकि कर्म ही सुख-दुःख का कारण होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बुद्ध के उपदेशों के आधार पर हर दृष्टि से विकसित व्यष्टि द्वारा एक स्वस्थ एवं सर्वाङ्ग विकसित समष्टि अर्थात् समाज का निर्माण किया जा सकता है।

• • •

व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्धों की अवधारणा

डॉ० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा

व्यक्ति, समाज एवं उनके सम्बन्धों पर भारतीय मनीषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से विचार करना प्रारम्भ किया था और आज भी वह विचार का विषय बना है। क्योंकि यह एक अत्यन्त गहन प्रश्न है जिस पर सोचना, समझना तथा विचार करना आवश्यक ही नहीं अत्यन्त उपयोगी है। व्यक्ति और समाज को सुन्दर सुव्यवस्थित और आदर्श मार्ग पर प्रतिपन्न कराना भारतीय ऋषियों एवं चिन्तकों का परम कर्त्तव्य रहा है। जबतक व्यक्ति आदर्शों से युक्त नहीं होगा, तबतक समाज भी आदर्श नहीं बन सकता और समाज के पथभ्रष्ट हो जाने पर सारी मानवता पतन के गर्त में गिर सकती है। जब-जब समाज में पथभ्रष्टता, लोलुपता, निरंकुशता एवं अनैतिकता का प्रचार प्रसार हुआ, तब तब भारतीय महर्षियों ने अपनी पैनी दृष्टि एवं सूक्ष्म प्रज्ञा से आदर्श समाज की कल्पना की। फलस्वरूप दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, साहित्य एवं समाजशास्त्र आदि का सृजन हुआ। दर्शन ने सर्वकल्याण की चेतना को उदय कर उसको आध्यात्मिक धरातल दिया, नीतिशास्त्र ने उसे नैतिक मूल्य प्रदान किया, साहित्य ने उसे कोमल एवं मनोहर भाव प्रदान किए तथा समाजशास्त्र ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को उजागर किये। इस प्रकार भारतीय चिन्तकों ने व्यक्ति और समाज को एक ऐसा मूल्य प्रदान किया जिससे व्यक्ति समाज को तथा समाज व्यक्ति को सुख-सुविधा प्रदान कर सके। इस सन्दर्भ में दर्शन की क्या भूमिका रही है यह द्रष्टव्य है। भारतीय दर्शन सबकी मंगल कामना से प्रवर्तित होता है। न केवल मानव समाज वरन् प्राणि मात्र का मंगल उसका प्रमुख विषय है।

ऋषि महात्माओं के द्वारा जिस अध्यात्म विद्या की शिक्षा दी गई, वह अपने व्यवहार पक्ष में मैत्री एवं करुणा से सदा ही बँधी रही। सभी प्राकृतिक भूतों और मानव तथा पशु एवं वनस्पति जगत् के साथ भी भारत में सदा शान्ति और समन्वय का ही व्यवहार रहा है। सभी स्थावर और जंगम प्राणियों को वह मैत्रीभावना से ओत-प्रोत करता रहा है तथा उनके साथ पारस्परिक सामंजस्य और कल्याण की भावना की स्थापना में ही उसने परमार्थ के दर्शन किये हैं। समन्वय, त्याग, वैराग्य आदि धर्म भारतीय संस्कृति के मूलमंत्र रहे हैं। जिनकी सामाजिक अभिव्यक्ति कभी संकुचित राष्ट्रीयता के रूप में न होकर सदा व्यापक तथा विश्वजनीनता के रूप में

हुई है। जिसके क्षेत्र में पशु, पक्षी और वनस्पति जगत् भी सम्मिलित है। भारत की राष्ट्र उपासना जिस सार्वजनीन कल्याण बुद्धि को लेकर हुई है उसे राग, द्वेष और प्रतियोगिता की भावना पर प्रतिष्ठित आज के लोग नहीं समझ सकते।

व्यक्तिपूजा से समाजसेवा को श्रेष्ठ समझा गया और **तथागत** भी स्वयं पूजित हुए, संघ की पूजा के द्वारा[१] ही। सर्वलोकहित ही भारतीय चिन्तन का गन्तव्य स्थान रहा। **भवतु सब्ब मंगलं** की भावना हमारे सामाजिक जीवन को सदा प्रेरणा देती रही। परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए तुम परम कल्याण को पाओगे, ऐसी सामाजिक अनुभूति सम्भवतः भारत में ही सर्वप्रथम की गई। इसी आधार पर हमारी आध्यात्मिक संस्कृति का शिलान्यास हुआ। कालान्तर में इसी के अव्यवस्थित और विकृत हो जाने पर चारों वर्णों की शुद्धी[२] के द्वारा सम्यक् सम्बुद्ध ने विशुद्धिकरण का प्रयत्न किया तथा सभी दिशाओं को मैत्रीभावना की विमल धारा से आप्लावित करने का सन्देश दिया[3]। मित्र की दृष्टि से ही सभी को देखा गया तथा कभी कोई दुःख न पाये इसके लिए प्रयत्न किया गया। मैत्री और सर्वकल्याणमयी वृत्ति के लिए बुद्धशासन में जो महत्वपूर्ण स्थान दिया गया, उसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि तथागत संक्षेपतः अहिंसा को ही धर्म कहते हैं[४]। मैं अपनी इस जीवन विधि से किसी को भी हानि न पहुँचाऊँ, न चर को, न अचर को[५] यही भगवान् तथागत की सदा भावना रहती थी। और ऐसा ही करने के लिए उन्होंने उपदेश दिया। भगवान् बुद्ध के समान अनुकम्पा करने वाले अन्य शास्ता जगत् में बहुत कम हुए। जिस करुणामय बुद्ध ने अंगुलीमाल डाकू को भी आ भिक्षु कहकर सम्बोधित किया[६], और अम्बपाली गणिका के यहाँ भोजन स्वीकार कर उसे कृतार्थ किया[७]। उस समदर्शी महात्मा के लिए धर्म सारिपुत्र का यह कथन सर्वथा उपयुक्त था "भगवान् बुद्ध अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर

---

१. सङ्घे ते दिन्ने अहं चेव पूजितो भविस्सामि सङ्घो चाति। पब्बज्जा सुत्त०

२. न जच्चा बसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो, कम्भुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो। ध० प०; बिज्जाचरण सम्पन्नो सो सेट्ठो देव मानुसो। अ० सु० दी० नि०

३. मैत्री चित्त के लिए द्र० मि० प० (ओपम्मवग्गा) महाराहुलोवाद सुत्त, दीघ नि०।

४. धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागताः। चतुःशतक। सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः। बु० च० (९।१७)।

५. इमायाहं इरियाय न किञ्चि व्यावाधेमि, तसं वा थावरं वा (वितक्क सु० इति बु०)

६. अंगुलिमाल सु० (म० नि० २।४।६)

७. परिनिब्बान सु० (दी० नि०)

अंगुलीमाल के प्रति, धर्मपाल हाथी के प्रति और पुत्र राहुल के प्रति भी समान बुद्धि रखते थे[१]। मैत्री विहार को चार आर्य विहारों में प्रतिष्ठित कर भगवान् ने उसके स्वरूप की व्यापकता दी जो भारतीय दर्शन में एक मौलिक विचार है[२]। भिक्षुओं यदि चोर डाकू दोनों ओर वाले—अरे से तुम्हारे एक अंग को काटे, वहाँ पर भी जो मन दूषित करे वह मेरे शासन के अनुकूल आचरण करने वाला नहीं है[३]। मैत्री-भावना के रहते मनुष्य के मल नष्ट न हो जाय, यह कभी सम्भव नहीं है। क्योंकि आवुसो! मैत्री चित्त विमुक्ति व्यापाद का निस्सरण है[४]। अतः सद्धर्म में प्रतिष्ठित भिक्षु मित्रभावयुक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण करके विहरता है, दूसरी दिशा, तीसरी दिशा, चौथी दिशा, इसी प्रकार उपर-नीचे-दायें-बायें सम्पूर्ण मन से, सबके लिए, सारे लोक को मित्रभावयुक्त विपुल, महान् अपरिमाण, वैर रहित, द्रोह रहित चित्त से स्पर्श करता, विहरता है[५]। इस प्रकार तथागत ने अबैर से ही बैर की शान्ति का उपदेश देकर[६] भिक्षुओं को प्राणीहिंसा से विरत रहने का अनुशासन कर[७] अनेक उपदेशों में मैत्री विहार की ही प्रशंसा कर[८] बहुजनों के हित सुख और कल्याण के लिए देव और मनुष्यों पर अनुकम्पा कर भिक्षुओं को चारो दिशाओं में विचरण करने का उपदेश दिया[९]। वे स्वयं भी सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर अपने परिनिर्वाण के अन्तिम क्षणों तक अमृतोपम धर्मोपदेश करते हुए सदा लोकहित

---

१. बधके देवत्तम्हि चोरे अंगुलिमालके, धनपाल राहुले च सब्बत्थ समको मुनि। (मि० प० ओपम्मकथा) एकं च बाहं वासिया तच्छेय्य कुपितमानसा एकं च बाहं गन्धेन ओलिम्पेय्य पमोदिता। अमुस्मि पटिघो नत्थि रागो अस्मि न विज्जति। पठवी समचित्ता ते तादिसा समणा ममाति। मि० प० (ओपम्म कथा)।
२. द्र० महाराहुलोपाद सु० (म० नि०)
३. महाहत्थिपदोपम सु० (म० नि० १।३।८।)
४. महाराहुलोवाद सुत्त (म० नि०) बुद्धचर्या ५०३।
५. महाराहुलोवाद सु० (म० नि०) तेविज्ज सुत्त (दी० नि०)
६. नहिं वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं, अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो। ध० प० १।६। ध० प० १।३। ध० प० २६।८।
७. भिक्खु पाणातिपातं पहाय पाणातिपाता पटिविरतो होति। तेविज्ज सुत्त (दी० नि०)
८. मेत्तसुत्त (सु० नि०) कालाम सु० (अं० नि०) तेविज्ज सुत्त (दी० नि०)।
९. चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ति।
देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलं परिपुण्णं ब्रह्मचरियं पकासेथ। (महावग्ग)

में ही लगे रहे। इस प्रकार बौद्ध दर्शन बहुजन की मंगल भावना से अनुप्राणित है। इसके सामने बहुजन की समस्या है। संसार में दुःख व्याप्त है, सब कुछ जल रहा है, सभी पीड़ित हैं। अतः इस व्यापक दुःख को कैसे दूर किया जाय, इसकी चिन्ता है। इसीलिए भगवान् ने चार आर्य सत्यों के द्वारा इस व्यापक रोग को दूर करने का निदान बतलाया है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार व्यक्ति जड़ चेतन का समुच्चय है। इसे **पञ्चस्कन्ध** का सम्पुञ्जन भी कहा जा सकता है। इसी को संक्षेप में नाम रूप से अभिहित किया गया है। जो कुछ स्थूल है, वह रूप है तथा जो चित्त चैतसिक सूक्ष्म धर्म हैं उसे नाम कहा गया है। इस प्रकार 'मनुष्य' या पुद्गल कोई एक शुद्ध सत्ता नहीं है, वरन् वह मानसिक और भौतिक अनेक अवस्थाओं का समुदायमात्र है। सभी भौतिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम **रूप** है। और सभी मानसिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम **'नाम'** है। रूप स्कन्ध में भी चार महाभूत और उनसे उत्पन्न उपादा रूपों का समूह है तथा शेष चार स्कन्ध **वेदना, संज्ञा, संस्कार** और **विज्ञान** 'नाम' है। इसे ही चित्त चैतसिक के द्वारा व्यक्त किया गया है। ये सभी उत्पत्ति और विनाश के निरन्तर क्रम में घूमा करते हैं। जब हम **व्यक्तित्व** या **'सत्त्व'** जैसी बात करते हैं तो इनके समुच्चय मात्र का निर्देश करते हैं। वस्तुतः **'आत्मा'** नामक पदार्थ की अलग सत्ता नहीं है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अङ्गों के आधार पर 'रथ' की संज्ञा होती है, उसी प्रकार **पञ्चस्कन्धों** के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है। अर्थात् व्यक्ति केवल नाम के लिए है, व्यवहार के लिए है, न की उस प्रकार की कोई शाश्वत सत्ता का बोधक है, इसीलिए यह प्रज्ञप्ति सत् है, पर द्रव्य सत् नहीं हैं। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि दुःख ही यहाँ है किन्तु 'दुःखित' कोई नहीं है, क्रिया है किन्तु 'कारक' नहीं, निर्वाण है किन्तु निर्वृत नहीं, मार्ग है किन्तु गमन करने वाला नहीं। **"दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितो, कारको न क्रिया च विज्जति। अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गं अत्थि गमको न विज्जति[1]।"** तात्पर्य यह है कि प्रतीत्यसमुत्पन्न सभी बाह्य और अन्दर के धर्मों का छान-वीन करने पर उनमें कोई ऐसा स्थित तत्त्व नहीं मिलता, जिसको अपना या **'आत्मा'** करके ग्रहण किया जा सके, क्योंकि वे सभी अनित्य हैं, क्षणिक है, और दुःख रूप हैं। जो अनित्य है, क्षणिक है, दुःख रूप हैं वे अपना नहीं हो सकते। अतः इन्हें अपना कहना मिथ्या-दृष्टि है, अज्ञानता है। त्रिपिटक के अनेक सुत्तों में इन स्कन्धों को **प्रतीत्यसमुत्पन्न,**

---

१. विशुद्धिमग्ग।

अनित्य, क्षणिक, दुःख और **अनात्म** रूप में समझाया गया[1] है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में सत्ता सम्बन्धी प्रश्न का अस्ति नास्ति में कोई उत्तर नहीं दिया गया है। वरन् पञ्चस्कन्धों का विश्लेषण करके यह दिखला दिया गया है कि सब प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अनित्य और दुःखस्वरूप है, इनमें कहीं भी 'आत्मा या सत्त्व' जैसा कोई नित्य पदार्थ नहीं मिलता है।

उपर्युक्त बातों से यह फलित होता है कि व्यक्ति के अस्तित्व के सन्दर्भ में गतिहीनता या नित्यता के लिए किसी प्रकार की भी गुंजाइश नहीं है। क्योंकि इनकी दृष्टि में वस्तु सतत् परिवर्तनशील और गतिमान है। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को उसी प्रकार नदी के प्रवाह की भाँति सभी वस्तु सतत् परिवर्तन की अवस्था में है। इसी को यहाँ 'धम्म-सन्तति या सत्त्वसन्तति' कहा गया है। सभी वस्तुएँ उत्पन्न और विनष्ट होती हैं और अपने विनाश के साथ दूसरे को उत्पन्न करती रहती हैं। उत्पत्ति के साथ बिनाश की यह अनिवार्यता ही व्यक्ति के अस्तित्व का द्योतक है। इसलिए इसका बौद्धिक आकलन सामान्यगत प्रवाह के रूप में ही किया जा सकता है।

इस तरह बौद्धदर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं में न तो नित्य एवं रहस्य है और न तो उसके निर्माण में किसी अचिन्त्य बाह्य शक्तियों का हाथ है। वरन् प्रतीत्य-समुत्पन्न है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में एक ओर नाम एवं रूप का सहवर्तित्व है तो दूसरी ओर चित्त और चैतसिकों का सहयुक्तत्व एवं अन्योन्याश्रितत्त्व। जड़ से चेतन या चेतन से जड़ का यहाँ प्रश्न नहीं है बल्कि ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरी की स्थिति यहाँ मान्य नहीं है। जैसा कि अभिधम्मावतार में कहा गया है कि **'यमकं नामरूपं च उभो अञ्ञोञ्ञनिस्सिता। एकस्मिं भिज्जमानस्मिं, उभो भिज्जन्ति पच्चया'**॥ इससे यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति को अपने जीवन के साथ ही कुछ प्राकृतिक साधन एवं सहज एषणाएँ प्राप्त हैं जो उसके व्यक्तित्व के साथ जुड़ी हैं।

इस जीवनधारा में बौद्धों का **कर्म सिद्धान्त** अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो पूर्व से पर के जीवन को जोड़ता है। भगवान् ने कर्म को चेतना कहा है। कर्म के मूल में एक चेतना है। जो मानस व्यापार के रूप में स्थित है। यह काय, वाक् आदि अन्य सभी व्यापारों का प्रेरक है। सभी कर्म चेतना के रूप में व्यक्तित्व से अभिन्नता प्राप्त

१. मू० प० सु० (म० नि०) १।१।१, महानिदानसुत्त (दी० नि० २।२), महानिदानसुत्त (दी० नि०), महासतिपट्ठानसुत (दी० नि० २।९), छछक्कसुत्त (म० नि० ३।५।६), सं० नि० २१।७।

करते रहते हैं। ऐसी दशा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं होती। कुशल, अकुशल, अच्छा, बुरा, उचित, अनुचित, पाप, पुण्य, नीति, अनीति के निर्धारण में तथा एक का निषेध कर दूसरे को ग्रहण करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है। अतः व्यक्तित्व की अनन्यता की पहचान उसकी स्वतन्त्रता है। व्यक्ति अपना स्वामी स्वयं है, वह आत्मदीप और अनन्यशरण है। उसमें अपना निरीक्षण करना और अपनी बुद्धि के आधार पर हेय और उपादेय का निर्णय लेना स्वभावतः होना चाहिए। ऐसे निर्णय की प्रामाणिकता का आधार श्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त करना है। इस प्रक्रिया से व्यक्ति में गुणात्मक विकास का अवसर मिलता है। अपने असद्प्रवृत्तियों के विरोध में स्वयं ही सद्वृत्तियों को अपनाकर श्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए **'पुग्गलपञ्ञत्ति'** ग्रन्थ में व्यक्तियों की एक लम्बी सूची दी गई है जिसमें हीन पुरुष से लेकर श्रेष्ठ पुरुष तक का नामोल्लेख किया गया है। हीन पुरुष में **पृथक्जन** तथा श्रेष्ठ पुरुष में **सम्यक् सम्बुद्ध** हैं, जो व्यक्तित्व के आदर्श गुणों से युक्त हैं। इन्हीं दो बिन्दुओं के मध्य में व्यक्ति का विकास देखा जा सकता है।

'समाज' समान आचार विचार वाले व्यक्तियों के समूह को कहते हैं। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज आदि का निर्माण होता है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में सापेक्ष सम्बन्ध होता है। सम्बन्धों के आधार पर समाज का निर्माण होता है तथा समाज से व्यक्ति प्रभावित होकर तदनुकूल आचरण करता है। अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ रखता है। अतः व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है इसलिए धर्म एवं दर्शन व्यक्ति को सम्यक् मार्ग प्रदान कर महान बनाता है। व्यक्ति की चेतना यदि त्याग, बलिदान मैत्री और ज्ञान से युक्त होगी तो उसका व्यक्तित्व महान होगा। और ऐसे महान व्यक्तियों के संगठन से महान एवं आदर्श समाज की स्थापना होगी। सम्भवतः इसी आदर्श समाज का उदाहरण भगवान् का भिक्षुसंघ है। भिक्षुसंघ एक आदर्श समाज है जहाँ त्याग, मैत्री एवं ज्ञान का आलोक है। इस समाज में सभी समान हैं। सबके लिए एक जैसी बात है, एक ही नियम है, किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। संघ एक स्वचालित संस्था है जिसका विधान गणराज्यों के समान होता है। **महापरिनिब्बान** सुत्त में **अजातशत्रु** द्वारा महामन्त्री **वर्षकार** को भेजे जाने पर **भगवान्** ने **आनन्द** से जो बातचीत की है, उससे यह पता चलता है कि भगवान् बुद्ध **गणतन्त्र** को श्रेष्ठ समझते थे। जिन सात **अपरिहाणीय** धर्मों की चर्चा वहाँ की गई है, वे प्रत्येक गणतन्त्र के आवश्यक शर्तें हैं जिसके कारण प्रजातन्त्र का सञ्चालन सुचारु रूप से हो सकता है।

सामान्य सामाजिक व्यवस्था के प्रति बुद्ध का क्या मन्तव्य था, उसका आकलन कूटदन्त सुत्त, महासुदस्सन सुत्त, अग्गञ्ञ सुत्त, सिंगालोवाद सुत्त, मज्झिम निकाय के मखादेव सुत्त, मधुर सुत्त, अस्सलायन सुत्त, वासेट्ठ सुत्त, समागम सुत्त के अध्ययन से किया जा सकता है। कुछ लोगों का यह कहना कि बुद्ध ने कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं दी है, निराधार है। यह ठीक है कि बुद्ध ने सामाजिक व्यवस्था के लिए **मनुस्मृति** जैसी किसी पुस्तक का प्रणयन नहीं किया, पर त्रिपिटक के उन-उन स्थलों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध किस प्रकार की समाज व्यवस्था को उत्तम मानते थे। **दीघ निकाय** तथा **मज्झिम निकाय** के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय जो सामाजिक व्यवस्था प्रचलित थी वह दोषपूर्ण थी। इसीलिए बुद्ध ने **संघीय व्यवस्था** कायम की जो आदर्श समाज व्यवस्था के रूप में व्यवस्थित हुई। यह समाज कभी भी एकजातीय ओर एकदेशीय नहीं रहा अपितु बहुजातीय एवं बहुदेशीय रहा और इसकी भावना सार्वजनीन कल्याण की रही।

इस प्रकार स्थविरवाद की दृष्टि से व्यक्ति का विकास पृथक्जन से लेकर आदर्श पुरुष सम्यक्सम्बुद्ध तक तथा सामाजिक विकास सामान्य समाज (उपासक, उषासिका संघ) से लेकर आदर्श समाज (भिक्षुणी संघ एवं भिक्षु संघ) तक माना जा सकता है।

• • •

व्यष्टि एवं समष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्मविहार, बोधिचित्त और ज्वलिता चण्डाली

डॉ० सुनीतिकुमार पाठक

बौद्ध-साधना की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का भारतीय सामाजिक विकास के आधार पर विशेष महत्त्व है। ई० पूर्व ५ वीं सदी से लेकर अब तक बौद्ध साधना की परम्परा चली आ रही है। अतः सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ बौद्ध धर्म-दर्शन में भी विचार बदलते गये हैं जिससे बौद्ध विनयधरों की अलग-अलग परम्पराएँ बनी थीं। भिक्षु संघ में सम्प्रदाय भेद, दार्शनिक विचारों का खंडन-मंडन, त्रियान और अयान के विकास विभिन्न रूप में मिलते हैं। परन्तु बौद्ध-साधना की दृष्टि से तरह-तरह की परम्पराएँ होने पर भी मूलधारा में कोई बाधा नहीं पहुँची थी। इसके स्पष्टीकरण के लिए **'ब्रह्मविहार', 'बोधिचित्त' और 'ज्वलिता चण्डाली'** ये तीन शब्द चुने गये हैं। जिसमें बौद्ध-साधना की मूलधारा की गति का निर्णय किया जा सकता है। इस साधना के द्वारा भारतीय व्यक्ति और समाज किस प्रकार प्रभावित हुआ था इसका एक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि भारतीय धर्म और साधना में 'मोक्ष' 'मुक्ति' एवं 'विमोक्ष' शब्दों में ही व्यक्ति का उद्देश्य सूचित है। कारण, संसार बन्धन है, उससे मोक्ष अर्थात् मुक्ति मिलती है। जब भव-बन्धन प्रत्येक जीव का बन्धन है, तब उससे मोक्ष प्रत्येक जीव का अलग-अलग ही मोक्ष है। इस प्रकार निर्वाण भी वैयक्तिक है, सामाजिक नहीं है, यह दृष्टि बड़ी सामान्य दृष्टि है। अन्ततोगत्वा यह प्रमाणित है कि बौद्ध साधना तथा भारतीय साधना में सामाजिक कल्याण या "बहुजनहित बहुजनसुख" ही सिद्ध है। बौद्धदृष्टि से यह सिद्धांत 'ब्रह्मविहार', 'बोधिचित्त' और 'ज्वलिता चण्डाली' शब्दों के द्वारा देशित है।

ब्रह्मविहार

भगवान् बुद्ध ने जो कुछ देशना दी थी वह **त्रिपिटक** में उपलब्ध है। इस संकलन का ऐतिहासिक मूल्यांकन आज इतना जरूरी नहीं है, क्योंकि परम्परागत रूप से तरह-तरह के संस्करण अलग-अलग भाषा में मिलते हैं। लेकिन बौद्ध साधना की दृष्टि में इनमें भेद नहीं मालूम पड़ता है। जैसे ब्रह्मविहार, बोधिचित्त आदि की

चैतसिक स्थिति व्यक्ति पर आधारित है। जब बौद्ध योगि का चित्त 'बहुजन के हित, बहुजन के सुख तथा देव और मनुष्यों के हित सुख के साथ' ध्यान, समाधि, समापत्ति से संप्रयुक्त होकर लौकिक और लोकोत्तर भूमि में विराजमान रहता है, तब उनके सामने पुद्गल का नाम और रूप तथा सत्काय दृष्टि नहीं रहती है।

अविद्या से सत्काय दृष्टि का उद्भव है। पृथिव्यादि धातुओं के रूपान्तर लक्षणात् वह रूप है, और वेदनादि चैतसिक धर्मो के नमनलक्षणात् नाम हैं। इन नाम रूप से **'अहम्'** भावना या **'अस्मिता'** पैदा होती है। सिद्धाचार्यों में **धम्मपाद, काण्ह-पाद** और **भुसुकपाद** ने इसका नाम **'चण्डाली'** कहा है। इस 'अहम्' की भावना तथा 'अस्मिता' या ममत्व के बोध के कारण व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ-बुद्धि में बँधा रहता है। अपने-अपने विचार से बाहर निकलकर सामूहिक कल्याण एवं समाज का हित नहीं करता है। लेकिन, जो बौद्ध भिक्षु एवं उपासक साधनमार्ग में 'ब्रह्मविहार' की भावना से प्रबुद्ध हैं, वह व्यक्ति अपना सुख और स्वार्थ-बुद्धि भूल जाता है। उसके सामने न लौकिक स्वार्थ सिद्धि है, न लोकोत्तर स्वार्थ सिद्धि है। सदा ही समाज की सेवा में अपनी सिद्धि एवं उत्सर्ग करता है।

भगवान् बुद्ध की **'सम्यग् दृष्टि'** ही धर्माधिष्ठानात्मक सद्धर्म है। यह सम्यग् दृष्टि क्या है?

(क) कम्मस्सकता सम्मादिट्ठि—सब्ब सत्ता कम्मसदा कम्मदायादो कम्मयोनी कम्मबन्धु।

(ख) चतुसच्च सम्मादिट्ठि—दुःखादि चार आर्यसत्य सम्बन्धी दृ[illegible]।

(ग) दसवत्थुका सम्मादिट्ठि—दशवस्तु सम्बन्धी सम्यक्‌दृष्टि।

प्रायशः कर्मस्वकीयता के कारण **दश अकुशल** कर्म व्यक्ति के अन्तराय के रूप में प्रकटित होते हैं। लेकिन गूढ़तया ये कर्म परोक्षेण समाज के कल्याण के आधार पर खड़े हैं। जैसे (१) प्राणातिपात, (२) अदत्तादान, (३) कामेषु मिथ्याचार, (४) मिथ्याभाषण, (५) पिशुनवाक्य, (६) परुषवचन, (७) निरर्थक आलाप, (८) अभिध्या (दूसरे के सामान के लिए लोभ), (९) व्यापाद (मानसिकी हिंसा), (१०) मिथ्यादृष्टि।

यह अनुशासन व्यक्ति की चर्या के साथ ही समाज के लिये हितकारक है। 'सब्बे सत्ता कम्म परिसरणा' होने के कारण अपने-अपने कुशल और अकुशल कर्म ही सकल सत्त्वों को शील, समाधि, समापत्ति के सहायक हैं। जैसे बीमार होने पर भिषक् का शरण लेना पड़ता है, साथ ही साथ भैषज्य एवं सहायक भिषक् का शरण लेना पड़ता

है, फिर निदान ज्ञान और चिकित्सा का शरण लिया जाय तो बीमारी हटेगी। इस प्रकार बुद्ध, धर्म और संघ के शरण के अलावा विपश्यना (प्रज्ञा) और कुशल कर्मों की शरण लेनी पड़ती है। जिससे, अधिशील, अधिसमाधि और अधिप्रज्ञा के विकास से योगिचित्त फैलता है। आर्यदेव ने कहा हैं—

धर्मं समासतो हिंसां वर्णयन्ति तथागताः।
शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तदिहोभयम् ॥ (चतु० २९८)

(ख) चतुरार्यसत्य, दुःख, समुदय, निरोध और निरोधगामिनिप्रतिपद् विषयक परमार्थ देशना की सम्यग्दृष्टि से सत्त्वों के वैयक्तिक लाभ के साथ-साथ सामाजिक-हित प्रत्यक्षीभूत नहीं होता है। जैसा आत्मभाव या ममत्वदृष्टि अविद्या से आती है, यह दृष्टि कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर तथा मनुष्यलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक में भी प्रत्यक्ष होती है। परन्तु अस्मिता के कारण अकुशल कर्मादि के प्रभाव से हिंसा विचिकित्सा या संशयादि लोभद्वेषमोहात्मक संवृत्ति चित्त में रागाग्नि की तरह दुःख दण्ड लाती है। इसलिए योगी होते हुए भी प्रतिसंधि तथा आवागमन के अधिकार में सत्त्व भ्रमण करता है। अतः अकुशलचित्त के कारण संसार में सत्त्व सदा ही वैयक्तिक लाभ (उठाने) की कोशिश करते हैं। फिर उस संकीर्ण आत्मभाव की वेष्टनी से बाहर निकलने के लिए क्लेशवर्त्म, कर्मवर्त्म, विपाकवर्त्म और कामसुगति संसार वर्त्म के अलावा रूप-तृष्णा, अरूप-तृष्णा को रूपध्यान, अरूपध्यान के द्वारा हटाते हैं।

(ग) १—अत्थिदिन्नं, २—अत्थि इट्ठं, ३—अत्थिहुतं, ४—अत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको, ५—अत्थि माता, ६—अत्थि पिता, ७—अत्थि सत्ता औपपातिका, ८—अत्थि अयं लोको, ९—अत्थि परलोको, १०—अत्थि लोके समण ब्राह्मणा सम्माञ्ञता सम्मापटिपन्ना ये इमं च लोकं परंच लोकं सयं अभिञ्ञा सच्चिकत्वा पवेदेति। इन दश वस्तुओं के लिए सम्यक्दृष्टि से व्यक्ति और समाज को देखा जाय तो बुद्धकालीन युग से अब तक बौद्ध धर्म के अनुशासन की समाजविज्ञानभित्ति की सार्वभौमिकता मिलती है। चतुःसत्य विषयक सम्यग्दृष्टि से आत्मभाव की अपनी ही अपनी पुष्टि मिलती है। परन्तु वह योगी आनापान तथा प्राणायामादि योग क्रिया के द्वारा अपने चित्त में मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षादि चार समापत्ति में विराजित रहता है।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना ब्रह्मविहार है। यह चित्तस्थिति बौद्ध योग के अलावा अन्य योगशास्त्रों में भी उल्लिखित है। जैसे :—

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षायां सुखःदुखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्" (योगदर्शनसमाधिपाद सू० ३३)। यह चित्त स्थिति वैयक्तिक होते हुए भी समाज के बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय और परोपकाराय है। यह लौकिक दृष्टि से बहुत ही कठिन है। मैत्री की भावना उच्चकोटि में बोधिसत्त्वचर्या में शामिल हुई है। जिसका व्याख्यान बोधिचर्यावतार और शिक्षासमुच्चय आदि महायान सूत्रों में स्पष्ट किया गया है।

बोधिचित्त

सुत्तनिपात में इस प्रकार बुद्धवचन है—

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥

(१।८।७ सुत्तनिपात)

शिक्षासमुच्चय में भी—

यथापि नाम श्रेष्ठिनो वा गृहपतेर्वा एकपुत्रके गुणवति मज्जागतं प्रेम, एवमेव महाकरुणाप्रतिबद्धस्य बोधिसत्त्वस्य मज्जागतं प्रेमेति। (१६ परि० पृ० २८७)

फिर, प्रश्नोत्तर में मैत्री और करुणा का स्पष्टीकरण है—**कतमा बोधिसत्त्वानां महामैत्री। आह। यत् कायजीवितं च सर्वकुशलमूलं च सर्वसत्त्वानां निर्यातयन्ति, न च प्रतिकारं कांक्षन्ति।**

कतमा बोधिसत्त्वानां महाकरुणा यत्पूर्वंतरं सत्त्वानां बोधिमिच्छन्ति नात्मन इति।

स नात्महेतोः शीलं रक्षति, न स्वर्गहेतोः, न शत्रुत्वहेतोः, न भोगहेतोः, नैश्वर्यहेतोः, न रूपहेतोः, न वर्णहेतोः, न यशहेतोः, न निरयभयभीतशीलं रक्षति।

बोधिसत्त्व सर्वसत्त्वार्थसिद्धि के लिए इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेता है।

सर्वलोक के सर्वजीव का सर्वप्रकार दुःख हट जाय। विकलेन्द्रिय, अंगहीन, सत्त्वों की सकल इन्द्रिय पूरी बन जाय। बीमार, दुर्बल, क्षीणकाय सत्त्व स्वस्थ हो जाएँ। राजा, चौरादि से भयभीत विपन्न सत्त्वों के व्यसनगतदुःख हट जाएँ। जो लोग अत्याचार से युक्त, बन्धनबद्ध, पीड़ित, दुर्गतिदारुण शोकप्राप्त है वे सब अपने-अपने दुःख, संताप, पीड़ा से मुक्त हो जाएँ। भूखों को भोजन मिले, प्यासे को पीने को पानी मिले, अन्धों को दृष्टि मिले, नंगों को कपड़ा मिले, वधिर को सुनने की शक्ति

मिले। गरीबों को धन मिले, धनधान्य, विविध रत्न मिले, जिससे सकल सत्त्व सुखी हो जाएँ। कभी न किसी को दुःख मिले। सर्वविध पाप कर्म छोड़ कर सकल जीव कुशल और शुभ क्रिया में विराजित रहें।

सर्वत्र क्षेत्रेषु च सर्वप्राणिनां सर्वे च दुःखाः प्रशमन्तु लोके।
ये सत्त्व विकलेन्द्रिय अङ्गहीनास्ते सर्वि सकलेन्द्रिय भोन्तु साम्प्रतं॥
ये व्याधिता दुर्बलक्षीणगात्रा निस्त्राणभूताः शयिता दिशासु।
ते सर्वि मुच्यन्तु च व्याधितो लघु लभन्तु चारोग्यबलेन्द्रियाणि॥
ये राजचौरशठतर्जितबध्यप्राप्ता नानाविधैर्भयशतैर्व्यसनोपपन्ना।
ते सर्वि सत्त्व व्यसनागतदुःखिता हि मुच्यन्तु तैर्भयशतैः परमैः सुघोरैः॥
ये ताडिता बन्धनबद्धपीडिता विविधेषु व्यसनेषु च संस्थिता हि।
अनेक आयाससहस्र आकुला विचित्रभयदारुणशोकप्राप्ताः॥
ते सर्वि मुच्यन्त्विह बन्धनेभ्यः सन्ताडिता मुच्यिषु ताडनेभ्यः।
वध्याश्च संयुज्यिषु जीवितेन व्यसनागता निर्भय भोन्तु सर्वे॥
ये सत्त्व क्षुत्तर्षपिपासपीडिता लभन्तु ते भोजनपानचित्रम्।
अन्धाश्च पश्यन्तु विचित्ररूपां बधिराश्च शृण्वन्तु मनोज्ञघोषान्॥
नग्नाश्च वस्त्राणि लभन्तु चित्रां दरिद्रसत्त्वाश्च निधिं लभन्तु।
प्रभूतधनधान्यविचित्ररत्नैः सर्वे च सत्त्वाः सुखिनो भवन्तु॥
मा कस्यचिद् भवतु दुःखवेदना सौख्यान्विताः सन्तु भवन्तु सर्वे।
विवर्जयन्तु खलु पापकर्म चरन्तु कुशलानि शुभक्रियाणि॥

(शिक्षासमुच्चय परि० १२, पृ० २१७–२१८)

एवं न तिर्यग्योनिभयभीतः शीलं रक्षति।
यावत् सर्वं सत्त्वहितसुख-योगक्षेमार्थिकः शीलं रक्षति॥

(शिक्षासमुच्चय परि० ७ पृ० १४६)

बोधिचर्यावतार में भी कहा गया है—

एवं न तिर्यग्योनिभयभीतः शीलं रक्षति। यावत् सर्वसत्त्वहितसुखयोगक्षेमार्थिकः शीलं रक्षति। (शिक्षासमुच्चय परि० ७ पृ० १४६)

अथ च बोधिचर्यावतार के तृतीय परिच्छेद में भी कहा गया है।

ग्लानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगाऽपुनर्भवः॥ ७॥

दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥ ९ ॥
अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम्।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च ॥ १७ ॥
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

इसलिए वे बोधिसत्त्व हैं, जिन्हें बोधिचित्तोत्पाद की चित्तावस्था उपलब्ध है। वे इस प्रकार से अपना सब कुछ त्यागकर सकल सत्त्वों के लिए बैठते हैं।

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम्।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥ बोधि० ३।१० ॥

शिक्षासमुच्चय में यह भावना स्पष्टीकृत है। (९ परि० १८० पृ०)

यत् काये छिद्यमाने सर्वसत्त्वान् मैत्र्या स्फरति,
वेदनाभिश्च न संह्रियते। यत् काये छिद्यमाने य
एवास्य कायं छिन्दति तेषामेव प्रमोक्षार्थं क्षमते ॥

बोधिचित्त का स्वरूप बोधिचर्यावतार में वैसा है।

भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्नविमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥

योगिचित्त में इस बोधिचित्तोत्पाद के लिये बोधिचर्या आवश्यक है। यह लौकिक होने पर भी लोकोत्तर सिद्धि है। जहाँ पर क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग का संयोग एकत्र मिलता है। बौद्धयोग और साधना में यह विशेष महत्त्वपूर्ण है।

ज्वलिता चण्डाली

कमलकुलिश माझें भवइ ले ली।
समताजोएँ जलिल चण्डाली ॥

धामपाद की **चर्यागीति** के व्याख्यान में टीकाकार ने कहा—

"परमकरुणामैत्रिकमानसः सिद्धाचार्यो धामपादो हि प्रतिपादयति। कमलकुलिशमित्यादि। प्रज्ञोपायसमतायां सत्याक्षरमहासुखरागानलवर्तन्नाभौ निर्माणचक्रे चण्डाली ज्वलिता मम।

डाह डोम्बी घरे लागेलि आगि (णी)।
ससहर लइ सिञ्चहुँ पाणी ॥

टीका—महासुखरागदाहयुक्तो अग्निः। डोम्बी परिशुद्धावधूती गृहे लग्नः। तेन महासुखरागाग्निना मया सकलविषयादिवृन्दाश्रयो दग्धः। (चर्यागीति०पृ० १५४–५५)

भुसुकपाद ने भी कहा—**णिअ घरिणी चण्डाली लेली।** टीकाकार ने चण्डाली नाड़ी को अपरिशुद्धा अवधूती वायुरूपा कहा है। वही पृ० १५८

'ब्रह्मविहार' और **'बोधिचित्त'** के साथ **'ज्वलिता चण्डाली नाभौ'** आदि सिद्धाचार्य के पद इस प्रकार से सम्बन्धित हैं। व्यक्ति और समाज के विकास के आधार पर इन तीनो चैतसिकों की स्थिति के बारे में दो चार शब्द कहना आवश्यक है।

ब्रह्मविहार की भावना में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा हैं। ये उच्च-कोटि की समापत्तियाँ विरागात्मक साधना नहीं है। आपाततः भिक्षु विनय के अनुसार अनुशासन के आधार पर भिक्षु जीवन में वैयक्तिक संयम और साधना का परिपोषण है। परन्तु वह निषेध गूढ़तया सर्वसत्त्वों के हित और सुख के लिए प्रयोग किया जाय। इस प्रसंग में परमपावन श्रद्धेय दलाई लामा जी ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट किया है।

"In Highest Yoga, the methods for firming the mind are to meditate on a salutory object within the context of not allowing bad thoughts to be generated, and along with this to concentrate on important places in the body. Through these methods the Highest yoga path is faster than the other, and this is due to the fact that the mind depends on the body. one concentrates on the channels, in which mainly blood, mainly semen or only currents on energy (wind) flow. Then since currents of energy cause the mind to move to objects, a yogi reverses this currents and thus there is nothing to stir the mind, the mind does not stir or move to other objects."

उपर्युक्त वचन में यह सिद्ध है कि उच्चकोटि के योगी का चित्त संकीर्ण आत्मभाव से बाहर है। अनुत्तर योग से सिद्ध योगी का चित्त विषयविकल्प में प्रक्षोभित न होने के कारण अपने लाभ या क्षति, मान या अपमान, जय या पराजय की बात छोड़कर सदा ही सत्त्वों के कल्याण और हितसाधन में व्यस्त होता है। यह बोधिधर्म है। अपनी योगशक्ति के द्वारा आत्मभाव तथा स्वार्थ बुद्धि हट जाती

है। योगशक्ति बिना चित्त में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः ब्रह्मविहार, बोधिसत्त्व और ज्वलिता चण्डाली मुख्यतया योग की स्थितियाँ हैं। जिससे चित्त की संकीर्णता नहीं रहती है।

अतः सिद्धाचार्यों ने बोधिचित्त के आधार पर प्रज्ञा और उपाय तथा कमल-कुलिष अद्वयसमता योग की साधना की। जिसको (स-ह-ज) सहज साधना भी कहते हैं। यह भी रागात्मिका साधना है। जिसमें साधक या योगी के चित्त में वैयक्तिक सुख को कभी महासुख नहीं बताया गया है। जिसमें अपरिशुद्ध वायुस्था चण्डाली को पूरी तरह दग्ध करना पड़ता है। अपरिशुद्धा वायुस्था अवधूती नाड़ी सत्त्वों को अकुशल कर्म के प्रति ले जाती है, लेकिन डोंबी नाड़ी परिशुद्धा अवधूती सम्यक् योगयुक्त होने के कारण फल या सिद्धि मिलती है। समाज के हित और कल्याण के लिए बोधिचित्त स्वभावतः क्रियाशील है। किन्तु यह बोधिचित्त मैत्री, करुणा, उपेक्षा, मुदिता संप्रयुक्त अनालम्बन चैतसिक स्थिति है। जहाँ पर प्रज्ञा और उपाय तथा शून्यता और करुणा युगपत् विराजित होते हुए भी एकस्वभाव या महसुखभाव समतायोगस्थ युगनद्धस्थिति में सर्वसत्त्वों का हित विधान करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म दर्शन और साधना के आदि से ही वैयक्तिक विकास के साथ रूपलोक, अरूपलोक तथा देव, मनुष्य, तिर्यग्, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष सकल सत्त्व संक्षेपतः समाज के चैतसिक की तरक्की की गयी है। व्यावहारिक और पारमार्थिक देशनाएँ तथा सूत्र और अभिधर्म के आधार पर भिक्षुसंघ और बुद्धविनय का प्रसाद हुआ था। किन्तु कभी भी 'अहम्' तथा ममत्व की अनरियदिट्ठि की मान्यता नहीं दी गयी। कारण आत्मभाव खण्डन कर अनात्मा, अनित्यता के आधार पर बुद्धदेव ने उदान वाणी में कहा था—

चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय
हिताय सुखाय च देवमनुस्सानं।

•••

बौद्धदर्शन तथा रसेल के चिन्तन में व्यष्टि एवं समष्टि का स्वरूप

डॉ० नारायणशास्त्री द्राविड

बौद्धदर्शन, भारतीय विचार परम्परा में विश्लेषणवाद का पुरस्कार कर वस्तु-स्वरूप निर्धारण करने वाला एक प्रमुख दर्शन है। अन्य आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों ने विश्लेषण को एक वैचारिक पद्धति के रूप में अवश्य अपनाया है किन्तु विश्लेषण की परमावधि को ही अन्तिम तत्त्व के रूप में अंगीकार कर बौद्धदर्शन ने एक स्वतन्त्र विचारधारा को जन्म दिया है। **'विभज्जवाद'** यह अभिधा इसी कारण इस दर्शन को दी गयी है।

पश्चिम की चिन्तनधारा में विश्लेषणवाद के विभिन्न प्रकारों जैसे **भाषीय-विश्लेषणवाद** (लिंग्वस्टिक एनेलसिस) **संप्रत्ययिक विश्लेषणवाद** (कन्सेप्सनल एनेलसिस) **निर्देशात्मक विश्लेषणवाद** (प्रेसिनेप्टिव एनेलसिस) आदि का जो विचार हुआ है, उसके पीछे इस शताब्दी के श्रेष्ठ मनीषी वर्ट्रांड रसेल के तार्किक अणुवाद की (लाजिकल एटामिज्म) ही प्रेरणा है। ऐसा मानना अनुचित न होगा। इस अणुवाद में तथा बौद्धों के क्षणभंगवाद में इतना साम्य है कि दोनों की मूलगामी तुलना कर देखने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों क्षणभङ्गवाद का ही प्रतिरूप तार्किक अणुवाद हो। स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण वस्तुओं के सिद्धान्त के समान ही रसेल के दर्शन में तार्किक अणु तथा तर्कतः संरचित (लाजिकली कन्स्ट्रक्टेड) पक्ष का विचार है। प्रत्यक्ष तथा वैकल्पिक ज्ञान के बौद्धों के वर्गीकरण के अनुरूप ही रसेल का प्रत्यक्ष एवं वर्णनात्मक ज्ञानों का विभाजन है। कार्य-कारणभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में भी बौद्ध तथा रसेल के विचार एक दूसरे से बहुत ही मिलते जुलते हैं। इतना इन दो विश्लेषण वादों में साम्य होते हुए भी कुछ बातें इन दोनों की एक दूसरे से भिन्न भी है।

(१) बौद्धों के विश्लेषणवाद या विभज्जवाद के पुरस्कार के अनेक कारण हैं, समष्टिवाद, सत्तैकत्ववाद या अद्वैतवाद के समर्थक, देश, काल, धर्म, सम्बन्ध, ज्ञान जैसे वस्तुओं के **व्यक्तित्व निर्धारक** (डिटर्मिनेण्ट आफ इन्डिविडुऐल्टी) तत्त्वों की सामान्यता या एकता के आधार पर वस्तुमात्र की एकता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इसके प्रत्याख्यान में व्यष्टिवादी यह कहते हैं कि किसी भी वस्तु का व्यक्तित्व

उससे बहिर्भूत तत्त्वों के द्वारा निर्धारित मानना तर्कसंगत नहीं है। एकत्व तत्त्व के समर्थनार्थ यह भी कहा जाता है कि वैशेषिक जैसे यथार्थवादियों के समान द्रव्य या आधार सत्, गुण या आधेय सत्, कर्म या परिवर्तमान सार, सामान्य या नित्य अनुगत-सार ऐसी विभिन्न सत्ताओं के स्वीकार से एक सर्वानुगामी सत् का स्वीकार लघु है। इस पर व्यष्टिवादी यह प्रतिवाद कर सकते हैं कि सत् की आनुभविक विविधता को अनानुभविक एकता के द्वारा समझने का प्रयास उचित हो तो किस प्रकार के सत् का माडल भिन्न-भिन्न सत्ताओं के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त है यह करना कठिन हो जायेगा। सभी सत्ताओं को द्रव्य, गुण, सामान्य या अन्य किसी रूप में ग्रहण करने में एकत्ववादी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(२) अर्थक्रियाकारित्व को सत्ता का गमक मानकर बौद्धों ने व्यष्टिवाद के प्रस्थापन का जो प्रयास किया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि हरेक वस्तु का जो स्वीय **'कुर्वद्रूप'** हुआ करता है उसी पर से उसका व्यक्तित्व निर्धारित मानना चाहिए। दो व्यक्तियों का एक ही कुर्वद्रूप नहीं हो सकता और कार्यशक्ति, कारणतावच्छेदक सामान्य आदि अकुर्वद्रूपों की अपेक्षया कार्यकारी कुर्वद्रूप को ही वस्तु का वास्तविक रूप समझना तर्कसंगत होता है। यह कुर्वद्रूप अन्ततोगत्वा वस्तु की पृथक्तया प्रतीति ही हो सकती है। अतः **अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वं** यह सिद्धान्त हमें सीधे लाइब्नित्ज़ के **आइण्डेन्टीटि आफ इण्डिसर्नीबुल्स** सिद्धान्त पर पहुँचाता है।

(३) जब बौद्धों ने वस्तुमीमांसीय विश्लेषण के आधार पर स्वलक्षण वस्तुतत्त्व का निष्कर्षण किया तब बर्ट्रांड रसेल ने तार्किक विश्लेषण के द्वारा अपने तार्किक अणुरूप वस्तु की यथार्थता प्रस्थापित की। आनुभविक तथ्य में से जो जो अंश तर्कतः अपवार्य है उसके प्रतिषेध के बाद अन्ततः जो अंश शेष रह जाता है वही 'तार्किक अणु' है और वही परमार्थ सत् है। यह दैशिक, कालिक, धर्मात्मक, गुणात्मक या अन्य विध अणु है इस सम्बन्ध में रसेल पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं दे पाये हैं। किन्तु बौद्धों ने स्वलक्षण को देश, काल, धर्म, सम्बन्ध आदि सभी की अपेक्षा से स्पष्टतया स्वलक्षण ठहराया है।

(५) आनुभविक विश्व के मूल तत्त्वों को केवल तार्किक विश्लेषण के द्वारा खोज निकालना और इन तत्त्वों पर से आनुभविक विश्व की तथाकथित तार्किक संरचना करने का प्रयास रसेल के अणुवाद का एक गम्भीर दोष है। जैसा बौद्ध कहते हैं अणुओं पर दृश्यविश्व की संरचना वासनावश व्यक्ति किया करता है। यह उसकी अविचारित रमणीय ऐसी रचना है जिसमें उसकी तर्कनाशक्ति बिलकुल काम नहीं आती।

(५) बौद्धमतानुसार व्यक्ति स्वलक्षणतत्त्वों का एक स्कन्ध अर्थात् परस्पर सम्बन्ध रहित संनिवेश है इसे अंग्रेजी में **कनफीगुरेशन** या **गेस्टाल्ट** कह सकते हैं। अपने-अपने स्थानों में स्थित बिन्दु मात्रों से जैसे त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्ग आदि आकृतियाँ अभिव्यक्त होती हैं वैसे ही व्यष्टियों के उचित संनिवेश मात्र से व्यक्तित्व का आविष्कार हुआ करता है। व्यक्ति जैसे एक समष्टि है वैसे ही समाज भी एक समष्टि या समष्टियों की समष्टि है। समाज का भी व्यक्ति के समान एक संनिवेश के रूप में ही अस्तित्व मानना चाहिए। एक स्वतन्त्र इकाई के या वस्तु के रूप में समाज की कोई सत्ता नहीं है किन्तु जैसे विभिन्न संस्कार व्यक्तित्व घटक तत्त्वों को सम्बन्धरहित संनिवेश में जकड़े रहते हैं वैसे ही सामाजिक नियम निर्बन्ध अर्थात् कुछ संस्कार ही व्यक्तियों की सामाजिक संघटना के लिए उत्तरदायी होते हैं।

(६) रसेल के समाजरचना सम्बन्धी विचार अतीव महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु उनका उसके तार्किक अणुवाद के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। समाज रचना तथा समाज स्थिति के नियमन में तार्किक प्रक्रिया का विशेष स्थान नहीं माना जा सकता। व्यक्ति की सामाजिक चेतना का विकास अपने आप अतार्किक ढंग से घटित होने में ही औचित्य तथा स्वाभाविकता है। इसीलिए वासना और तज्जनित संस्कारों को समाजनिर्मायिक तथा समाजधारक मानना बौद्धों ने उपयुक्त ठहराया है।

(७) प्रत्येक बुद्ध के आदर्श के औचित्य का स्पष्टीकरण स्वलक्षण स्कन्धरूप समाज के संप्रत्यय के आधार पर अच्छी तरह किया जा सकता है। व्यष्टि और स्कन्ध परस्पर सापेक्ष जरूर है लेकिन इन दोनों की परस्पर सापेक्षता की तुलना करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि व्यक्ति की स्कन्ध सापेक्षता की अपेक्षया स्कन्ध की व्यक्ति सापेक्षता अधिक है। अतः व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में ऐसी अवस्था आना अनिवार्य है जब व्यक्ति स्कन्ध बहिर्भूत हो अपनी पूर्णता की ओर अग्रसर होता है।

• • •

समकालीन भारत में व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों की दिशा

प्रो० कैलाशनाथ शर्मा

भारत की उत्तरोत्तर वर्धमान सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्ध-दर्शन विभाग द्वारा व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्धों पर आयोजित यह गोष्ठी अत्यन्त सामयिक एवं समीचीन है। अतः इस गोष्ठी के आयोजक धन्यवाद के पात्र हैं। यद्यपि व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों पर दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार किया जा सकता है तथापि मैं केवल व्यावहारिक पक्ष पर ही अपने विचार प्रस्तुत करूँगा। मुझे विश्वास है इस गोष्ठी में भाग लेने वाले अन्य विद्वान, दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के पक्षों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

भारत के आर्थिक विकास के लिए पञ्चवर्षीय योजनायें पाँचवें दशक से चल रही हैं। इन योजनाओं के मूल में दो धारणायें हैं। पहली धारणा यह है कि जिस अनुपात में देश की अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विनियोग बढ़ेगा, लगभग उसी अनुपात में आर्थिक विकास होगा। दूसरी धारणा यह है कि आर्थिक विनियोग एवं विकास का माध्यम सामाजिक संस्थायें एवं संगठन होंगे। यदि संस्थाओं एवं संगठनों के वर्तमान प्रकार सन्तोषजनक नहीं हैं तो इन्हें विदेशों से आयात किया जा सकता है। पश्चिमी देश आर्थिक दृष्टि से सफल माने जाते हैं। अतः यह मान लिया जाता है कि उन देशों की संस्थायें और संगठनों के प्रकार आर्थिक सफलता की कुञ्जी हैं और इसलिए विकासशील देशों में प्रायः इन संस्थाओं और संगठनों का आयात तेजी से हुआ है। जब ये संस्थायें और संगठन असफल होने लगते हैं तो कहा जाता है कि पूँजीवादी संस्थाओं और संगठनों के बजाय साम्यवादी देशों (रूस एवं चीन आदि) की संस्थाओं और संगठनों का आयात होना चाहिए। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जापान भी आर्थिक दृष्टि से सफल देश है और एशिया का है, अतः जापान की संस्थाओं एवं संगठनों का आयात अधिक उपयोगी होगा। यदि कभी भारत की आर्थिक विकास सम्बन्धी संस्थाओं और संगठनों का इतिहास लिखा जाएगा तो इन सभी प्रक्रियाओं पर आधारित यहाँ संस्थाओं एवं संगठनों के विकास को चित्रित करना पड़ेगा।

संस्थाओं एवं संगठनों के प्रयोग पर प्रयोग चलते रहे हैं, पर आर्थिक विकास की गति अवरुद्ध ऊर्ध्वगामी स्थिरता प्राप्त नहीं कर पाई है। आर्थिक विकास के प्रयत्नों के साथ आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में भ्रष्टाचार उत्तरोत्तर बढ़ा है। सरकारी संगठनों में अनुशासनहीनता बढ़ी है और अपने काम के प्रति लगाव घटा है। किसी भी कार्यालय में समय पर काम साधारणतः नहीं होता और अक्सर काम कराने के लिए घूस अथवा उन सामाजिक सम्बन्धों का सहारा लेना पड़ता है जो कर्मचारियों से अपने स्वार्थों को पूरा कराने के लिए स्थापित किये जाते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के सभी औद्योगिक संगठनों में ये रोग पूर्णतः व्याप्त हैं और समाजवाद के नाम पर अधिक से अधिक संगठन सार्वजनिक क्षेत्र में लाये जा रहे हैं। पर ये सभी संगठन सार्वजनिक हितों की पूर्ति के बजाय वैयक्तिक हितों की पूर्ति के विशेषतया साधन बन गये हैं।

इन समस्याओं के साथ ही हमें राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं दल बदल से उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता और उद्देश्यहीनता पर भी विचार करना चाहिए, क्योंकि राजनीतिक अस्थिरता एवं समष्टि के हित की भावना का अभाव भी सरकारी संगठनों की अराजकता और भ्रष्टाचार को बढ़ाता है तथा आर्थिक विकास को अवरुद्ध करता है। अभी-अभी लोक सभा के चुनाव समाप्त हुए हैं। यह सर्वमान्य सत्य है कि ये चुनाव भ्रष्टाचार पर आधारित हैं। चुनाव में लड़ने वाले उम्मीदवार और दल चुनावों को लड़ने के लिए कहाँ से धन लाते हैं कौन इन्हें और क्यों धन देता है? इन प्रश्नों के उत्तर अज्ञात नहीं हैं। जो भी पूँजीपति इन्हें धन देता है, वह इन सांसदों से व्यक्तिगत लाभ उठाना चाहता है।

इसके अलावा कम से कम १९६७ से शनैः शनैः भारतीय राजनीति सिद्धान्तहीन होती जा रही है। अब यह स्थिति आ गई है कि प्रत्येक राजनयिक जिधर अपने स्वार्थों की पूर्ति देखता है उधर लुढ़क जाता है। सभी दल समाजवाद, जनतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देते हैं, जब कि सभी दलों और उनके सदस्यों की मूलनिष्ठा अवसरवाद में है और उपर्युक्त सभी नारे अवसरवाद के आवरण बन कर रह गये हैं। इससे अधिक हास्यास्पद बात क्या होगी कि लोकदल की उत्तर प्रदेश की सरकार दसवीं कक्षा तक की शिक्षण संस्थाओं में संस्कृत के स्थान पर उर्दू के अध्यापन की आज्ञा निकालती है, क्योंकि मुसलमानों के मत चुनाव जीतने के लिये चाहिये, जब कि उसी लोकदल का कार्यवाहक प्रधान मन्त्री चरण सिंह कहता है कि यह आज्ञा अनुचित है। यदि वह वस्तुतः इसे अनुचित मानता है तो उत्तरप्रदेश के

मुख्य मन्त्री ने बिना लोकदल के निर्णय के, और बिना विधानसभा की सहमति के ये निर्णय कैसे लिए ? ऐसी आचारहीन सरकार, मुख्य मन्त्री और राजनीतिक दल को सत्ता में रहने का कोई भी अधिकार नहीं है।

समाज के ये रोग केवल आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। शिक्षण संस्थायें भी इन प्रदूषणों से अछूती नहीं रही हैं। छात्रों की अनुशासनहीनता, अध्यापन में आये दिन की बाधायें, परीक्षाओं में सामूहिक नकल, समय पर परीक्षाओं का न होना, परीक्षकों पर अंक बढ़ाने के लिये दबाव और परीक्षकों द्वारा इन दबावों और प्रभावों के अनुरूप कार्य करना, उदाहरण हैं सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में तेजी से फैलते हुये कैन्सर के। कल जब इस प्रकार के छात्र सभी संगठनों में नियुक्ति पा जायेंगे तो आप अनुमान कर सकते हैं कि इन संगठनों की क्या दुर्दशा होगी।

भारतीय समाज की यह दुरवस्था हमें बाध्य करती है अनेक सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये। मेरी दृष्टि में इन सभी प्रश्नों के मूल में एक प्रश्न है और वह प्रश्न है, व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्धों का निर्णय और उसके बाद उन साधनों का चुनाव एवं उपयोग जिनके आधार पर वाञ्छित सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं।

मेरे विचार में व्यक्ति और समष्टि के बीच एक निरन्तर और शाश्वत द्वन्द्व है। व्यक्ति पर यदि समष्टि का दबाव न हो तो वह चाहेगा कि उसे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। भले ही यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता में परिणत हो जाय। समष्टि की रक्षा के लिये यह आवश्यक है व्यक्ति अलग-अलग अपने-अपने स्वार्थों में लग कर धूमायमान न हो जाय। केवल जब सब लकड़ियाँ साथ-साथ जलेंगी, तभी समाज के सर्वांगीण विकास की अग्नि प्रज्वलित हो सकती है और बनी रह सकती है।

भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, अपने व्यवसाय या वृत्ति के प्रति निष्ठा का अभाव, राजनीतिक दलबदल और अपराध, ये सभी इस बात के प्रमाण हैं कि व्यक्ति अपने स्वार्थों की सिद्धि में लगा हुआ है और समष्टि के हितों पर तनिक भी विचार नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में समष्टि का जीवन संकटापन्न है।

इस स्थिति की व्याख्या कारणों के एक संकुल से की जा सकती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परा से व्यक्ति छोटे-छोटे समूहों (समष्टियों) से बँधा हुआ था, उदाहरणतः परिवार, कुटुम्ब और जाति तथा गाँव। ये समष्टियाँ ही उसके

आचरण को बनाती, सँवारती और आवश्यक हुआ तो नियन्त्रित करती थीं। पर इन समष्टियों अथवा इकाइयों तथा धर्म से निर्देशित व्यक्ति का समाजीकरण व्यक्ति के आचरण पर आन्तरिक नियन्त्रण उत्पन्न करता था। इसलिये बाह्य नियन्त्रण की आवश्यकता कम पड़ती थी।

इस स्थिति में शनैः शनैः परिवर्तन हुआ और स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने इस स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। कम से कम १८७२ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति के कारण सम्पत्ति के मामलों में व्यक्ति को परिवार, जाति अथवा गाँव से स्वतन्त्र इकाई के रूप में मान लिया गया। उसी काल में विशेष विवाह अधिनियम ने विवाह के विषय में भी व्यक्ति को परिवार एवं जाति से स्वतन्त्र कर दिया। भारत की स्वतन्त्रता के बाद नया संविधान बना और व्यक्ति को इसकी आधार-शिला माना गया। नये संविधान ने भारत राष्ट्र को समष्टि के रूप में माना तथा जाति एवं वर्ग की समष्टियों को नकार दिया। हाँ, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को समष्टियों की सत्ता की मान्यता बनी रही।

पर संविधान की इस स्थिति को सामाजिक स्तर पर अनूदित करने के लिये कोई भी कदम नहीं उठाये गये। संविधान में भारत राष्ट्र को समष्टि मानने में और व्यक्ति के द्वारा इसे एकमात्र समष्टि स्वीकार करने में अन्तर है। इस अन्तर को दूर करने के लिये व्यक्ति की चेतना में परिवर्तन लाना आवश्यक था। इसे लाने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। नैतिकता पर आधारित आचरण व्यक्ति को समष्टि के हितों के लिये स्वार्थों का हनन करने के लिये सन्नद्ध करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से समष्टि से बाँधते हैं। पर आचरण को नैतिकता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित करने के लिये भी कोई प्रयत्न नहीं किये गये। इन प्रयत्नों के अभाव की पूर्ति वर्तमान पाश्चात्य दर्शन में व्यक्ति की **पूर्ण स्वतन्त्रता** की धारणा ने की। इस दर्शन की चरम परिणति अमरीका के **न्यायमूर्ति होम्स** के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि "जब लोग कोई काम करना चाहते हैं और मैं संविधान में इस काम का कोई स्पष्ट निषेध नहीं पाता तो मैं कहता हूँ कि चाहे मुझे यह कार्य पसन्द हो या न हो, उन लोगों को करने दो, मुझसे क्या मतलब है।" (When the people want to do Something I con't find any thing in the constitution expressly forbidding them to do, I Say, whether I like it or not, 'Goddamnit, let 'em do it !') यह स्पष्ट है कि किसी भी संविधान में समष्टि की दृष्टि से अनुचित सभी प्रकार के आचरणों का निषेध समाविष्ट नहीं किया जा सकता। यदि संविधान के अतिरिक्त

आचरणों पर किसी अन्य प्रकार का अंकुश नहीं माना जाता तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के स्वच्छन्दता में परिवर्तित होने में देरी नहीं लगती।

वर्तमान काल में पश्चिमी देशों में मान्य व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता उन देशों के आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में नहीं थी। सोलहवीं शताब्दी से प्रोटेस्टेण्ट धर्म ने योरोप के व्यक्ति के आचरण को नियन्त्रित किया और अब भी वह अपनी वृत्ति में अथवा व्यवसाय में निष्ठा के साथ काम करता है। आर्थिक और राजनीतिक संगठनों में शिक्षण संस्थाओं में तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त अनुशासन है। अन्य क्षेत्रों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की कामना देश के आर्थिक विकास से उत्पन्न समृद्धि के उपभोग की लालसा प्रतीत होती है। भारत में इस प्रकार की स्वतन्त्रता का अनुकरण विशेष रूप से व्यवसाय या वृत्ति में निष्ठाहीनता और सामान्य शालीनता की की पृष्ठभूमि में घातक है। यह इसलिये भी घातक है कि यहाँ जनसंख्या का बाहुल्य है और आर्थिक साधन सीमित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सामान्यतः समष्टि की रक्षा के लिये और विशेषतः आर्थिक विकास के लिये व्यक्ति को अनुशासित करना आवश्यक है तो इसके क्या साधन हैं ? ऐतिहासिक दृष्टि से भारत और योरोप में यह कार्य धर्म ने किया है। जापान में मेइजी रेस्टोरेशन के शासन के बाद १८६८ से यह कार्य परिवार और शिक्षण संस्थाओं ने किया। रूस और चीन में यह कार्य लेनिन के शब्दों में 'राजनीतिक शिक्षा' ने किया। ऐसा लगता है कि भारत में यह कार्य 'राजनीतिक शिक्षा' नहीं कर सकेगी, क्योंकि सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था विषाक्त है। इसे संगठित प्रयत्नों से परिवार और चुनी हुई शिक्षण संस्थाओं से प्रारम्भ करना होगा। जहाँ कहीं भी धर्म इसमें सहायक हो सके, वहाँ धर्म का सहारा लेना होगा।

• • •

परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध : मानवविज्ञान दृष्टि

डॉ० बैद्यनाथ सरस्वती

प्रस्तुत व्याख्यान में हम मानवविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

समाज एक व्यापक शब्द है। समूह और परिवार से समाज नहीं बनता। पशुओं में समूह और परिवार है किन्तु उनका समाज नहीं बनता। समाज मानवीय व्यवस्था है। जिस अर्थ में परिवार की व्याख्या होती है उस अर्थ में **इसरायल** के **किबूज़ समाज** में परिवार नहीं है।

पाश्चात्य समाजविज्ञान में कहा गया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। भारतीय दर्शन में मनुष्य को इतना सीमित नहीं किया गया है। व्यक्ति समाज से ऊपर उठता है, ब्रह्माण्ड में अपना अस्तित्व बोध करता है, समाज से परे शक्तियों के साथ सम्पर्क करता है और जब समाज पतित होता है तो उसका परिष्कार करता है। आज समाज के बहुतेरे कार्य का दायित्व राज्य (स्टेट) ने ले लिया है और व्यक्ति समाज से छूटकर सीधे राज्य से जुड़ रहा है।

समाजविज्ञान में व्यक्ति और समाज की व्याख्या **संरचना** (स्ट्रकचर) और **क्रियात्मकता** (फन्कशन) के सिद्धान्त पर आधारित है। जब हम रचना शब्द का व्यवहार करते हैं तो उससे हमारा तात्पर्य होता है हिस्सा अथवा टुकड़े की एक निर्धारित व्यवस्था। संगीत की एक रचना होती है। वाक्य की एक संरचना होती है। शरीर के सेल की जटिल संरचना एलेक्ट्रान और प्रोटान्स के बीच सम्बन्धों का एक समुच्चय है। उसी प्रकार सामाजिक संरचना की इकाई अथवा टुकड़ा व्यक्ति होता है। इसमें व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धों से जुड़ा रहता है और उसका स्थान तथा रोल निर्धारित रहता है।

सामाजिक जीवन की निरन्तरता, संरचना की निरन्तरता पर निर्भर करता है। एक राष्ट्र, एक जाति, एक गोत्र, एक संस्था व्यक्तियों की व्यवस्था का अस्तित्व बनाये रखता है, यद्यपि इसको बनाने वाले व्यक्ति समय-समय पर बदलते रहते हैं। सामाजिक रचना की निरन्तरता उसी प्रकार बनी रहती है जिस प्रकार मानव

शरीर अपने रचना की निरन्तरता बनाये रखता है, यद्यपि वास्तविक मौलीक्यूल्स, जिससे शरीर बना है, निरन्तर परिवर्तित होता रहता है।

सामाजिक संरचना की निरन्तरता सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता से बनी रहती है। यह संरचना व्यक्तियों का मनमाना मेलजोल नहीं है, बल्कि सामाजिक प्रक्रिया से निर्धारित होती है। व्यक्तियों का एक दूसरे के साथ परस्पर व्यवहार का नियम निश्चित होता है। प्रत्येक व्यक्ति से उन निर्धारित नियमों अथवा नार्म्स के अनुसार व्यवहार करने की अपेक्षा रहती है और वह व्यक्ति भी यह आशा रखता है कि दूसरे लोग उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेंगे। एक विशेष सामाजिक जीवन के प्रस्थापित मूल्यों को संस्था कहते हैं।

व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों को समझने के लिए इन संस्थाओं की व्याख्या जरूरी है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों की मानव-विचारधाराओं में दो प्रमुख धारायें अथवा दो प्रमुख माडल्स हैं। एक माडल है **आदिमजातियों** का, जिसमें व्यक्ति आवश्यक रूप से समाज का अपरिहार्य अंग है। समाज के बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है, कोई कल्पना नहीं है। इसलिए आदिमजातियों में जातीय बनावट, कुल और गोत्र की बनावट, और सम्बन्धों के नियम बड़े मजबूत होते हैं। वहाँ व्यक्ति समाज का अपरिहार्य अंग है, और समाज प्रकृति का। समाज के नियमों को तोड़ने का अर्थ है प्रकृति के नियमों को तोड़ना, जिसका अर्थ होता है अपने आपको तोड़ना। वहाँ सभी व्यक्ति से समान व्यवहार की अपेक्षा है, कोई व्यक्ति विशिष्ट नहीं होता। अतः वहाँ सभी गीत गाते हैं, सभी नाचते हैं। वहाँ कोई अच्छा और बुरा गीत गाने वाला नहीं होता। सभी समान रूप से और सहज रूप से गीत गाते हैं। वहाँ गीत गाना उतना ही सहज और आवश्यक है जितना धार्मिक कृत्य करना, पूजा करना। (चीनी दार्शनिक **कानफ्यूसिस** ने कहा था कि संगीत और धार्मिक कृत्य दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में प्रभावकारी हैं।) हमलोगों की विचारधारा में प्रकृति का नियम वह नियम है जो अटल सिद्धान्त के रूप में (कुछ चमत्कारों को छोड़कर) घटित होता है, और नैतिक अथवा सामाजिक नियम वे हैं जो हमें पालन करना चाहिए, किन्तु जिसे हम यदा-कदा तोड़ते भी रहते हैं। आदिम जातियाँ प्रकृति के नियम और नैतिक अथवा सामाजिक नियम में इस प्रकार का भेद नहीं करतीं। उनकी दृष्टि में पुरुष एवं स्त्री को अपरिहार्य रूप से सामाजिक नियमों का अनुसरण करना चाहिए। ये सामाजिक नियम चिरन्तन हैं और प्रकृति

की घटनाओं से बँधे हैं। उसी प्रकार ऋतुओं के अनुसार वर्षा होनी चाहिए, पेड़ को फल देना चाहिए और पशुओं और मनुष्यों को बच्चा देना चाहिए। किन्तु प्रकृति और मनुष्यसमाज में अनियमितताएँ हैं। ऐसी अनियमितता को आदिमजाति प्रकृति का कोप मानती है और उससे त्रस्त रहती है।

एक दूसरा माडल है **वर्णाश्रम** का। इसमें वर्णव्यवस्था द्वारा सामाजिक रचना में व्यक्ति का स्थान और उसके सम्बन्ध निश्चित हैं, किन्तु आश्रमव्यवस्था में व्यक्ति समाज से एक स्टेज पर आकर अलग हो जाता है। इस दृष्टि में मनुष्य समाज का अपरिहार्य अंग नहीं है। वह प्रत्यक्ष रूप से **'ब्रह्माण्ड'** से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग अस्तित्व है, अलग इतिहास है। वह ब्रह्म का स्वरूप है, अज्ञानवश सम्बन्धों में जुड़ा रहता है। वह अपने आप में परिपूर्ण है। इस अवधारणा की पुष्टि दर्शन में ही नहीं, बल्कि समाज में भी होती है। चतुर्थ आश्रम में संन्यास लेने पर व्यक्ति समाज से अलग हो जाता है। वह अपना श्राद्ध संस्कार कर लेता है। संन्यास की पाँच अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस और अवधूत अथवा तुरीयातीत की अवस्था। इस अन्तिम अवस्था में आकर व्यक्ति समाज पर निर्भर नहीं रहता। कुछ समय तक तो वह जंगल के कन्दमूल पर जीता है, फिर उस परम अवस्था को प्राप्त कर उसे आहार-वस्त्र और अन्य बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसे किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती। वह किसी प्रकार के सामाजिक कर्तव्यों से बँधा नहीं रहता। वह अपनी मूलभूत प्रकृत में समा जाता है, समाज से दूर, बहुत दूर छूट जाता है।

सामाजिक संरचना की **क्रियात्मकता** (फन्कशन) है मानवीय आवश्यकताओं (शारीरिक आवश्यकताओं अथवा मानवीय क्रिया-कलापों और संस्थाओं की उपयोगिता) की पूर्ति करना। व्यक्ति इस संरचना में जो स्थान प्राप्त करता है, और एक दूसरे के प्रति जो रोल अदा करता है वह पूर्व निर्धारित है। व्यक्ति मात्र अभिनेता है। इस प्रकार के अभिनेताओं के बीच परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। इन अभिनेताओं की भूमिका अलग-अलग समाज में अलग-अलग हो सकती है। जिस समाज में विशिष्ट जन की कल्पना है वहाँ व्यक्ति के ऐसे भी रोल का स्थान है जो पूर्व निर्धारित नहीं है। इनमें ऐसे भी कुछ अप्रत्याशित व्यक्तियों को आत्मसात करने के नियम होते हैं जो साधारण लोगों से भिन्न हैं। प्रायः प्रत्येक बुद्धि-जीवी समाज में इस प्रकार के विशिष्ट प्रभावकारी व्यक्तित्व को स्थान देने का प्राविधान है। इस प्रकार के विलक्षण प्रतिभा के विकास के लिए और उनके उपयोग के लिए किस समाज ने, किस दर्शन ने, क्या दृष्टिकोण अपनाया है यह विचारणीय प्रश्न है।

इनमें भी दो माडल्स हैं। एक माडल है **बौद्ध धर्म** का जिसमें विशिष्ट व्यक्तियों का, भिक्षुओं का, संघ बना है। बाद में इसका अनुसरण किया **ईसाई** मिशिनरियों ने, और फिर **शंकराचार्य** तथा अन्य **ब्राह्मणव्यवस्था** ने। भिक्षुसंघ तथा शंकराचार्य द्वारा संघटित दशनामी संन्यासियों और वैष्णव वैरागियों का संघटन एक नया समाज का रूप ले लेता है। वे आपस में एक दूसरे से सम्बन्धों से बँध जाते हैं। एक परिवार और कुल की व्यवस्था बनाते हैं। वहाँ गुरु पिता का रूप है, गुरु का गुरु दादा गुरु कहलाता है, गुरु के अन्य शिष्यों के साथ गुरुभाई-गुरुबहिन का सम्बन्ध होता है। वे कहते हैं कि उनका समाज नादवंश से चलता है और गृहस्थों का समाज विन्द वंश से। इस प्रकार आधुनिक साधु समाज का जो गठन हुआ है उसके मूल में **बौद्ध भिक्षु-संघ** का माडल है। भिक्षुसंघ एक आचारसंहिता से बँधा है, और उसका परम कर्तव्य है लोक कल्याण, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। इसी प्रसङ्ग में बौद्धों ने संसार को एक सर्वोत्कृष्ट अवधारणा दी है वह अवधारणा है **बोधिसत्त्व** की। उस परम करुणामय की कल्पना का जो अपने को निर्वाण से वंचित रखता है, जब तक समाज का आखरी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता। संसार के विचारों के इतिहास में यह अद्वितीयस्थान है। इसी करुणामय की अवधारणा आगे चलकर **ईसामसीह** के व्यक्तित्व में साकार हुई। किन्तु इस व्यवस्था में इन विशिष्ट व्यक्तियों का साधारण व्यक्ति से क्रियात्मक रूप से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों समाज की व्यवस्था को कुशल एवं श्रेष्ठ बनाने के लिए क्रियाशील रहते हैं। हम यह अवश्य कह सकते हैं कि विशिष्ट व्यक्ति साधारण व्यक्ति को एक निश्चित नैतिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरक होता है। इस व्यवस्था में सामाजिक कर्तव्य और अध्यात्म का कर्तव्य क्षेत्र अलग नहीं है। इसी से जुड़ी हुई ब्राह्मण परम्परा की **जीवनमुक्ति** की अवधारणा है, जिसमें गृहस्थाश्रम में रहकर, अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों का पालन करते हुए, मनुष्य दिव्य स्थिति को प्राप्त करता है।

एक दूसरा माडल है **ब्राह्मण वैराग्य** का, जिसकी हमने अभी-अभी चर्चा की थी। इसमें विशिष्ट व्यक्ति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। वह व्यक्तिगत मोक्ष की कामना करता है, और उस साधना में वह समाज के बन्धनों और कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है। वह व्यक्ति अनसोसल (समाज निरपेक्ष) हो जाता है एण्टी सोसल (असामाजिक) नहीं। वह समाज सुधारक का रोल अदा नहीं करता। वास्तविक रूप से अर्थात् क्रियात्मक रूप से वह अन्य व्यक्तियों से भिन्न है। वह समाज से अलग है फिर भी समाज में उसके लिए सर्वोच्च स्थान है। वह समाज के सारे बन्धनों और मूल्यों को

छोड़कर बहुत आगे निकल जाता है, श्रेष्ठ ज्ञान के जगत में। यह विचार भी संसार के विचारों के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखता है।

इन दोनों माडल्स की तुलना से दो परम्पराओं में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के प्रति दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला जा सकता है। **बौद्ध माडल** में व्यक्ति अनन्य रूप से समाज पर अन्योन्याश्रित है। विशिष्ट व्यक्ति एक निश्चित मार्ग, निश्चित सम्बन्धों और मूल्यों की मर्यादा के अन्तर्गत चलने के लिए अन्य व्यक्तियों को प्रेरित करता है, उसके साथ आमने-सामने सम्बन्ध स्थापित करता है, तथा परोक्ष सम्बन्धों से जुड़ा रहता है। **ब्राह्मण माडल** इससे भिन्न है, इसमें व्यक्ति एक अवस्था पर आकर समाज से अलग हो जाता है। वह समाज का उपभोग उस समय तक करता है जब तक वह स्वयं स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः वह समाज का उपयोग उसी प्रकार करता है जिस प्रकार एक चिड़िया अण्डा देने के लिए घोसला बनाती है और जब अण्डा दे देती है, चूज़ा उड़ने लायक हो जाता है, तो घोसला छोड़कर आकाश में विचरण करने लगती है। इस अवस्था की एक स्थिति में आकर व्यक्ति अकेला चलने लगता है। वह दूसरों के लिए मार्ग नहीं ढूँढ़ता, सम्बन्धों और मूल्यों को परिमार्जित नहीं करता, बल्कि सभी सामाजिक मूल्यों को तोड़कर दिखला देता है कि सामाजिक तत्त्व से भी परे एक सत्य है, जिसकी वह साधना करता है। समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उसका आमने-सामने सम्बन्ध नहीं रहता। वह समाज से दूर रहता है, ध्रुवतारा की तरह जो समुद्र से बहुत दूर नक्षत्र लोक में एक दूसरी जगत् में रहता है और समुद्र के नाविक उसे देखकर अपनी यात्रा तय करता है।

इन दोनों माडल्स में कौन अच्छा अथवा बुरा है यह असंगत प्रश्न है। व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों के आयाम कितने व्यापक हैं यही उद्घरित करना मेरे प्रस्तुत व्याख्यान का लक्ष्य रहा है।

• • •

भारतीय बौद्ध कला में व्यक्ति एवं समाज से सम्बन्धित दृष्टिकोण

डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय

लुम्बिनी वन में भगवान् बुद्ध का जन्म मात्र एक संयोग था किन्तु यह संयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण था। शुद्धोदन-परिवार एवं शाक्य समाज से दूर जा पड़ना एक विशेष 'घटनात्मक प्रतीक' बन जाता है। बुद्ध का शैशव एवं किशोर जीवन इस ऊहा-पोह में ही बीता कि उनके जीवन की सार्थकता क्या है? उनका परिवार उन्हें अपने सामाजिक जाल में बाँधना चाहता था। सुख-सुविधाओं के प्रलोभनों के बीच उन्हें रखा गया, किन्तु वे उसमें रमे नहीं। कभी खेत की मेड़ पर ध्यानस्त हो गए, तो कभी सांसारिक दुःखों की गहरी अनुभूति के क्रम में अपने द्वारा भोगे जा रहे ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन से विरत हो जाने का संकल्प ले लिया, और एक दूसरा संयोग आया कि उन्होंने **महाभिनिष्क्रमण** किया। महाभिनिष्क्रमण एक दूसरी **'घटनात्मक प्रतीक'** है। जन्म के समय अदृश्य शक्ति द्वारा परिवार एवं समाज से अलग-थलग कर डाले गये। शिशु ने अपने बुद्धि विवेक से युवावस्था में स्वयं को परिवार एवं समाज से अलग कर लिया। भगवान बुद्ध के जीवन, दर्शन में ऐसी परिस्थिति का प्रभाव दिखलाई देता है। व्यक्ति तथा परिवार एवं समाज के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण बौद्ध समय-प्रवाह के साथ देखा जा सकता है। सतत् प्रयत्नों के फलस्वरूप बुद्ध को संबोधि की प्राप्ति हुई। और अनिच्छा होते हुए भी दैवीय निवेदनों के कारण उन्होंने उपदेश देकर मानव कल्याण का कार्यारम्भ किया। **धर्मचक्रप्रवर्तन** के साथ वे एक बार फिर समाज से सम्बन्धित हो गए, जिसे छोड़कर वे तप साधना के लिए चले गए थे। व्यक्ति, व्यक्ति के उत्थान एवं समाज से अलग होते हुए तथा जुड़ते हुए सम्बन्ध की स्थितियाँ बौद्ध साहित्य एवं कला में सर्वत्र द्रष्टव्य है।

मैं आप लोगों के सामने भारतीय बौद्ध कला में प्राप्त अङ्कनों के माध्यम से अपनी बात प्रस्तुत करना चाहता हूँ। कला के स्वरूप निर्धारण में वे भाव तथा दृष्टिकोण संन्निहित होते हैं जो तत्कालीन विचारकों अथवा दार्शनिकों द्वारा निर्देशित होते हैं। कभी-कभी ये निर्देश स्पष्ट रूप से किन्तु अधिकांश तथा ऐसे निर्देश प्रच्छन्न रूप से अथवा प्रतीकात्मक रूप से ही अङ्कित हुआ करते हैं।

बौद्ध कला का सभारम्भ मौर्य काल में **अशोक** द्वारा हुआ। अशोक द्वारा स्थापित **धर्म स्तम्भों एवं स्तूपों** एवं अभिलेखों के माध्यम से उसी परम्परा का अनुगमन किया गया जान पड़ता है कि व्यक्ति के उन्नयन एवं उसके द्वारा समाज का परिष्कार किया जाना चाहिए। अशोक अपनी व्यक्ति परकता का ध्यान रखे था और लोकोपकारी कार्यों के माध्यम से समाज से जुड़े रहने का प्रयत्न किया। उसका साधन भी व्यक्तिपरक था। यह साधन प्रतीकात्मक बुद्ध थे। अशोक के स्तूप या स्तम्भ उनके ही प्रतीक हैं। **सारनाथ** के अशोक स्तम्भ शीर्ष में तो यह भाव बड़ा ही स्पष्ट है। यह अङ्कन **धर्मचक्रप्रवर्तन** का प्रतीकत्मक अङ्कन है। बुद्ध की धर्म गर्जना चारों दिशाओं में गूँजी, वह लोक लोकान्तर तक पहुँची। अशोक की कला में अशोक की व्यक्ति सत्ता बुद्ध प्रतीक के माध्यम से प्रकट हुई है। और समष्टि सर्वदा सांकेतिक रही है। संक्षेप में यदि हम यह कहें कि इस समय बौद्ध दृष्टिकोण व्यक्ति परक विशेष था तो अन्यथा न होगा। किन्तु यह अशोक का ही प्रयत्न था कि यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोंण लोकपरक अथवा समाजपरक हो गया।

शुंगकालीन बौद्ध कला एकव्यक्ति समर्थित नहीं थी। वह लोक मानस का परिणाम थी। समाज का व्यक्तित्व बड़े स्पष्ट रूप में भरहुत, बोधगया, सांची, अमरावती, नागार्जुनीकोंडा एवं अन्य कई स्थानों की कला में देखने को मिलता है। शुंगकाल में मौर्यकालीन बौद्ध दृष्टिकोण में स्पष्ट परिवर्तन दिखलाई देता है। व्यक्ति परकता क्रमशः समाज परकता में समाती चली गयी। बुद्ध के प्रतीक तो कला के प्राण के रूप में थे किन्तु वे लोक सम्मानित एवं लोक संपुजित थे। स्पष्ट ही इन कला चितेरों के लिए ऐसा बौद्ध दृष्टिकोण कारगर स्थिति में था, जहाँ व्यक्ति मात्र का महत्त्व कम उसके द्वारा निर्मित समाज का महत्त्व कहीं अधिक था। यही कारण है कि शुंगयुगीन स्तूपों की अलंकृतियों में बौद्ध जातकों, मांगलिक कथाओं, धर्मपरक सामाजिक घटनाओं तथा लोकमंगल एवं ऐश्वर्य सम्बन्धी अङ्कनों की वृद्धि हो जाती है।

कुषाण एवं गुप्तकालीन कला में बौद्ध दृष्टिकोण पुनः परिमार्जित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। बुद्ध मूर्त्ति का उद्भव महायान सम्प्रदाय की ऐसी देन थी जिसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। बुद्ध की विशाल मूर्तियों का निर्माण हुआ। बुद्ध मूर्तियों में आरम्भ में उन्हें व्यक्ति बोधिसत्त्व के रूप में अङ्कित किया गया और परवर्तीकाल में बुद्ध स्वरूप में। बुद्ध की महानता का अङ्कन करने में कलाङ्कन के लिए प्राप्त फलक का अत्यधिक भाग बुद्ध की मूर्ति के लिये दिया जाने लगा। घटनाओं के

अङ्कन के सन्दर्भ में विशाल बुद्ध मूर्ति के साथ सामान्य मानव एवं समाज का अङ्कन लघु रूप में किया जाता था। **सारनाथ** की बुद्ध की **पञ्चवर्गीय** शिल्पों के साथ **धर्मचक्रप्रवर्तन** मुद्रा में अङ्कन तथा **अजन्ता** के चित्रों में विशाल बुद्ध के सामने **राहुल** के अङ्कन के ये दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। गुप्तकालीन कला में समष्टि का अंकन छोड़ नहीं दिया गया था और जातकों एवं धार्मिक कथाओं के अङ्कनों में तो जैसे समष्टि की महत्ता को स्वीकार करने का दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करना उनका ध्येय हो।

मध्यकाल में बौद्ध धर्म एवं दर्शन अनेक भेदों-उपभेदों में बँट गया। बौद्ध देवी-देताओं की बाढ़ कुछ ऐसी हुई कि कलाकार उन अन्यान्य देवो स्वरूपों की अभिव्यक्ति में ही सराबोर रहे। बौद्ध-धर्म एवं दर्शन जैसे समाज से क्रमशः दूर होता चला गया। कलाकृतियों में सामाजिक परिवेश द्रष्टव्य नहीं होता।

समाज एवं व्यक्ति तथा उनके सम्बन्धों के बारे में यद्यपि यत्किञ्चित् संकेत ही हमें बौद्ध कला माध्यमों से प्राप्त होते हैं, किन्तु ऐसे अध्ययन के लिए यह एक समृद्ध स्रोत है जिसका आलोडन यदि धैर्यपूर्वक विशदता के साथ किया जाए तो निश्चित ही अत्यन्त रोचक परिणाम प्राप्त होंगे, ऐसी आशा की जा सकती।

• • •

व्यक्ति और समाज के व्यक्तिवादी, समष्टिवादी तथा समन्वयवादी स्वरूप का विवेचन

प्रो० मुकुटबिहारी लाल

इस गोष्ठी में उपस्थित दार्शनिकों को बौद्ध दर्शन और वाङ्मय जितना ज्ञान है उसकी तुलना में मेरी जानकारी नगण्य है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत विषय पर मेरा कुछ कहना अनाधिकार चेष्टा जैसा ही है। आप सब विद्वानों के सान्निध्य में जो कुछ में समझ पाया हूँ, वह यही है कि बुद्ध भगवान् की धारणा मूलतः व्यक्तिपरक और वैराग्यवादी थी। सांसारिक सुखवैभव का मोह त्याग कर परम शान्ति की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य था। पर करुणा, अहिंसा और अक्रोध से समन्वित निर्वाण की अवधारणा निःसन्देह सांसारिक सुख की प्रेरणा पर आश्रित व्यक्तिवादी धारणा से बहुत भिन्न है। बौद्ध धारणा को समष्टिवादी भी नहीं समझा जा सकता। करुणा और अहिंसा स्वस्थ सामाजिक जीवन के महत्त्वपूर्ण आधार हैं। पर निर्वाण के साधन के रूप में चित्त की शुद्धि के निमित्त ही भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को इनके अनुसरण का आदेश दिया था। करुणा ने आगे चल कर महाकरुणा तथा बोधिसत्त्व की अवधारणा का रूपधारण कर लिया। ये अवधारणाएँ सामाजिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पर बौद्ध परम्परा के अन्तर्गत बोधिसत्त्व की तुलना कौटुम्बिक के बजाय एक ऐसे धर्मगुरु से की जा सकती है जो समाज और कुटुम्ब से अलग रहते हुए सबको सदुपदेश प्रदान करे। संघ समाज नहीं संस्थान है और उससे सम्बन्धित नियम समाज-व्यवस्था के नियम नहीं समझे जा सकते। फिर भी व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को निश्चित करते समय इन नियमों तथा करुणा, अहिंसा, अक्रोध, बोधिसत्त्व एवं बहुजन-हिताय और बहुजनसुखाय के आदेशों और अवधारणाओं का उपयोग अवश्य ही उपादेय होगा। बौद्ध दर्शन की दृष्टि से व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की वही धारणा ठीक होगी जो इन अवधारणाओं के निकटतम हो।

इस समय व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के बारे में जो अवधारणाएँ प्रचलित हैं उन सबको **व्यक्तिवादी, समष्टिवादी** और **समन्वयवादी** तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। **व्यक्तिवादी** धारणाओं के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है, व्यक्तिगत स्वार्थ की उपलब्धि व्यक्ति के क्रियाकलापों का मुख्य लक्ष्य है, और व्यक्तिगत हितों से

परे या भिन्न समाज का कोई हित नहीं है। नाट्शे जैसे व्यक्तिवादियों और अराजकतावादियों की दृष्टि में व्यक्ति की शक्ति ही उसके अधिकारों की सीमा और मापदण्ड है। उनके विचार में स्वार्थ ही व्यक्ति का एक मात्र गुण है, आत्मविकास और आत्मविस्तार मानव की दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं, आत्मविस्तार ही आत्मविकास का साधन हैं। शक्ति भर संसार पर छा जाना, आत्मविस्तार की माँग, प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकार हैं। इसके लिए पाशविक और बौद्धिक शक्ति का यथा सम्भव प्रयोग वांछनीय है। इस अहंवादी व्यक्तिवादी अवधारणा का बुद्ध भगवान् की करुणामय धारणाओं से मेल बैठाना किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

दूसरे प्रकार की धारणा **समष्टिवादी** है। ये सब धारणाएँ किसी न किसी रूप में व्यक्ति को समष्टि का अंग समझतीं हैं। कुछ विद्वानों की राय में व्यक्ति और समाज का सेन्द्रिय सम्बन्ध है। व्यक्ति समाज का अवयव है जिस तरह शरीर के हित की सिद्धि के लिए उपकरण के रूप में योगदान करना ही शरीर के विभिन्न अंगों का कार्य है। इसी तरह व्यक्ति का कोई अपना स्वतन्त्र ध्येय नहीं है, वरन् समाज के ध्येय की पूर्ति में योगदान ही उसका कर्तव्य है। कुछ सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के विचार में व्यक्ति का मानस लोकमानस की अकस और प्रतिबिम्ब है। मानव का मानसिक विकास लोकमानस के अनुरूप होता है। कतिपय समाज वैज्ञानिक भी किसी न किसी रूप में समष्टिवादी व्याख्या का समर्थन करते हैं। इन सबने विचार में समाज से पृथक् व्यक्ति की कल्पना को असम्भव माना है। मानव व्यक्तित्व समाज की देन है। उसके जीवन की रूपरेखा तथा उसका चिन्तन और उसके क्रियाकलाप समाज द्वारा उपलब्धि में योगदान ही उसका मुख्य धन्धा है।

कुछ समष्टिवादी मानवसमाज की एकता पर विश्वास नहीं करते। उनका समष्टिवाद किसी विशिष्ट वर्ग या राष्ट्र तक सीमित रहता है, अन्य वर्गों और राष्ट्रों से उस विशिष्ट वर्ग या राष्ट्र का सम्बन्ध संघर्षात्मक और व्यक्तिवादी जैसा स्वार्थी और अहंवादी होता है। फासिस्ट मानव एकता पर विश्वास नहीं करते और उनकी राष्ट्रीयता की भावना सर्वथा, आक्रमणशील है। यथासम्भव सारे विश्व पर आधिपत्य वे प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र का मौलिक अधिकार समझते हैं। श्री बी० के० राय के शब्दों में कहा जा सकता है कि फासिस्टों के विचार में शान्ति शक्ति की सगी बहन, युद्ध की जननी है, संघर्ष की तैयारी है, कमजोरों की लाचारी है, बलवानों की समझदारी है। युद्ध अभिशाप नहीं, शक्ति के विकास का माध्यम है। फासिस्टवाद पर विश्वास रखनेवाले समष्टिवादी दलीय अधिनायकवाद अर्थात् तानाशाही पर विश्वास करते हैं। समष्टिवादी **हीगल** भी राज्य को समाज का सर्वोत्कृष्ट रूप स्वीकार

करते थे तथा जर्मनी के **कैसर** के निरंकुश शासन को राज्य का सर्वोत्तम रूप घोषित करते थे।

इस प्रकार की समष्टिवादी धारणा भी बौद्ध दार्शनिकों को स्वीकार नहीं हो सकती। वे युद्ध, आक्रमणशील नीति, अधिनायकवाद, निरंकुशता का समर्थन नहीं कर सकते। एक बोधिसत्त्व बहुजनहिताय अपने निर्वाण की कामना त्याग सकता है, वह यह भी कह सकता है कि अन्य व्यक्तियों को दुःख दर्द में छोड़ वह अकेले निर्वाण लेकर क्या करेगा ? पर वह समष्टि के कठिन बन्धनों को सहर्ष स्वीकार नहीं कर सकता। अनस्तित्ववाद की ऐसी व्याख्या जो व्यक्ति को समष्टि का दास या पूर्जा बना दे, बौद्ध भिक्षुकों को कभी मंजूर नहीं होगी। जब वे अपने को संघबद्ध कर उसकी व्यवस्था के अन्तर्गत बहुजनहिताय बहुजनसुखाय का प्रयत्न करते हैं, तब भी अपने प्रयत्नों द्वारा अपने निर्वाण की प्राप्ति के अपने अधिकार को सुरक्षित रखते हैं।

तीसरी प्रकार की अवधारणा **समन्वयवादी** है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के महत्त्व को तथा उनके क्रियात्मक योगदान को स्वीकार करती है। इस अवधारणा के अनुसार मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्रेरणाएँ उसकी सहज प्रवृत्तियाँ हैं। संगासक्ति, सौहार्द, सहानुभूति, स्नेह, सहयोग उसका सहज स्वभाव है। वह समाज में जन्म लेता, परवरिश पाता तथा शिक्षा प्राप्त करता है। उसके जीवन पर समाज की गहरी छाप है, उसके सारे जीवन, चिन्तन व्यवहार, क्रिया कलापों में समाज व्याप्त है। पर मानव निष्क्रिय प्राणी नहीं है। वह भोक्ता और कर्त्ता दोनों है। वह समाज के साधनों का तथा सामाजिक विरासत का उपभोग करता है, पर उसके साथ ही साथ समाज और उसकी संस्कृति का निर्माण करता है। समाज के साधनों में वृद्धि करता है। अगर समाज उसके जीवन में व्याप्त है, तो वह भी समाज के सारे जीवन में व्याप्त है। यदि समाज के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं है तो उसके बिना समाज की कल्पना भी मुमकिन नहीं है। यदि भारतीय संस्कृति और सामाजिक स्थिति के समुचित ज्ञान के बिना **भगवान् बुद्ध** और **महात्मा गांधी** के व्यक्तित्व और उनके योगदान का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, तो इन दोनों महा-पुरुषों के योगदान की जानकारी के बिना भारतीय समाज और संस्कृति का अध्ययन भी पूर्ण नहीं होगा। हम जैसे तुच्छ व्यक्तियों की अकर्मण्यता और व्यवहार की भी थोड़ी बहुत अच्छी बुरी छाप अवश्य होती ही है। इस समन्वयवादी अवधारणा की दृष्टि में मानव और समाज दोनों ही साधन, साधक और साध्य तीनों हैं। ये दोनों एक दूसरे के गौरव को पुष्ट करते हैं और इन दोनों के समन्वित प्रयत्न द्वारा कल्याण और उत्कर्ष सम्भव है। उत्कर्ष दोनों के संतुलित विकास की अपेक्षा करता है। दोनों

की मर्यादाओं तथा उनके कर्त्तव्यों और अधिकारों की रक्षा और पुष्टि शान्ति व्यवस्था और अभिवृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है।

इस युग के अधिकांश नेता विशेषतः **महामना मालवीयजी, महात्मा गांधी** और **आचार्य नरेन्द्रदेव** इसी समन्वित अवधारणा के समर्थक थे। तीनों ही प्राचीन भारतीय संस्कृति की उदात्त मान्यताओं से अनुप्राणित थे। आचार्य नरेन्द्रदेव का चिन्तन मूलतः समाजवैज्ञानिक था, पर उस पर बौद्धदर्शन की भी छाप थी। गांधी और मालवीय का चिन्तन बहुत हद तक धार्मिक था। उन्होंने आधुनिक युग की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों और मान्यताओं की कालानुकूल व्याख्या करते हुए सतत् सत्प्रयत्नों द्वारा समाज और व्यक्ति के समन्वित सर्वांगीण विकास करने का उपदेश और आदेश दिया। ये दोनों कर्म का सिद्धान्त स्वीकार करते थे। पर भाग्यवाद के विरोधी और पुरुषार्थ के समर्थक थे। हमारे शास्त्रकारों ने ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों को कर्म का प्रेरक बताया है। उनके विचार में उनके संयोग से कर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा होती है तथा कर्ता, उपकरण और क्रिया के संयोग से कर्म बनता है। उनके विचारों के अनुसार मानवयोनि भोगयोनि ही नहीं, बल्कि कर्मयोनि भी है। इस योनि में मानव सत्कर्मों द्वारा पुराने कर्मों के बुरे प्रभावों का डटकर प्रतीकार कर सकता है। इस जीवन में ही जीवनमुक्त और बोधिसत्त्व का गौरव प्राप्त कर सकता है तथा अनारब्ध कर्मों की प्रक्रियाओं का अन्त कर निर्वाण और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ये तीनों महापुरुष चाहते थे कि हम, अहंवाद त्याग कर निस्पृह भाव से धैर्य और उत्साह के साथ मानव और समाज के सर्वतोमुखी उत्थान में जुट जाएँ।

मानव और **समाज** के सम्बन्धों की यह समन्वित अवधारणा यदि सर्वथा बौद्ध दृष्टि के अनुरूप नहीं है तो अन्य सब अवधारणाओं की तुलना में वह उसके निकटतम अवश्य है। इस समन्वित अवधारणा को अहिंसा, करुणा, निष्काम भावना, तथा बहुजनहित आदि कल्याणकारी बौद्ध धारणाओं से विभूषित कर इसे विकसित और बौद्ध दृष्टिकोण के अधिक निकट लाया जा सकता है।

इन तीनों प्रकार की अवधारणाओं को किसी न किसी रूप में दार्शनिकों और समाजवैज्ञानिकों ने प्रतिपादित, विकसित और पुष्ट किया है। दार्शनिकों की अपने ज्ञान के सम्बन्ध में क्या धारणा है? यह तो हम नहीं बता सकते हैं। समाज वैज्ञानिक तो अपने को अल्पज्ञ और अपने ज्ञान को सापेक्षिक समझते हैं। वे पूर्ण सत्य के अस्तित्व पर सन्देह करते हैं और मुक्त कंठ से कहते हैं कि सापेक्षिक सत्य का ज्ञान ही अल्पज्ञ मानव के लिए सम्भव है। गांधीजी पूर्ण सत्य की अवधारणा स्वीकार करते

थे, पर मानव अनुभूति को सापेक्षिक बताते थे और कहते थे कि नयी-नयी परिस्थितियों के सन्दर्भ में सत्य के नये नये स्वरूप प्रकट होते हैं। समाजवैज्ञानिकों के विचार में बड़े बड़े विद्वानों और आचार्यों में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर गहरा मतभेद उनकी अल्पज्ञता का प्रमाण है। पूर्ण सत्य का ज्ञान हो जाने पर मतभेद नहीं रह सकते। ब्रह्म के विषय में दार्शनिकों में भारी मतभेद सिद्ध करता है कि उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं है। गतिशील, परिवर्तनशील संसार में जड़वत् एक विकार को पकड़े रहना सम्भव नहीं है। कालानुकूल ज्ञान का विकास और प्रयोग जीवन के अस्तित्व और प्रगति दोनों के लिए आवश्यक है। सांख्य का परिणामवाद गुणात्मक विकास की सम्भावना को पुष्ट करता है। गुणात्मक विकास युग की माँग है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन भारतीय विद्वानों का हमें आदेश है कि हम अहंकार का त्याग कर जिसे हम अपने से छोटा समझते हैं उनसे भी सत्यज्ञान ग्रहण करें। **भीष्म** कहते है कि जिस तरह जंगल में चंदन की लकड़ियाँ चुनी जाती हैं उसी तरह सब जगह से ज्ञान इकट्ठा किया जाय। हमें हमारे पूर्वजों का आदेश है कि शत्रु के गुण ग्रहण किये जाएँ और गुरू के दुर्गुण छोड़े जाएँ। दीक्षांत समारोह में गुरु शिष्य को आदेश देता है कि उनके सद्गुणों का ही पालन किया जाय। **योगवासिष्ठ** में तो कहा गया है कि युक्तियुक्त बालक का विचार ग्रहण किया जाय और यदि ब्रह्मा का भी कोई विचार युक्तिसंगत न हो तो उसे छोड़ दिया जाय। हमारा कर्तव्य है कि हम संकीर्ण मतवाद से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टि से संसार के संचित ज्ञान का अध्ययन कर, अपनी संस्कृति के सजीव तत्त्वों को पुष्ट करते हुए विश्व के ज्ञानभण्डार के प्रगतिशील तत्त्वों से अपनी संस्कृति को समृद्ध करें। बौद्ध दार्शनिकों और वैदिक दार्शनिकों का कर्तव्य है कि वे मताग्रह त्याग कर ज्ञान का आदान-प्रदान करें। बौद्ध आचार्य जीवनमुक्त की अवधारणा स्वीकार करें और वैदिक दार्शनिक बोधिसत्त्व की कल्पना का महत्त्व स्वीकार करें। इस विवाद को त्याग कर कि निष्काम कर्म का प्रतिपादन किसने पहले किया, इस सिद्धान्त को सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में पुष्ट किया जाय। दार्शनिक और समाज वैज्ञानिक भी ज्ञान का आदान-प्रदान करें। दोनों की अध्ययन शैली भिन्न है, पर दोनों में अपने-अपने ढंग से ज्ञान संचय किया है। दोनों के अध्ययन से लाभान्वित होना हम सबका अधिकार और कर्तव्य है। **बुद्ध** और **शंकर** की तुलना में हम सब तुच्छ हैं, पर कौन कह सकता है कि भारतमाता इतनी बूढ़ी हो गयी है कि वह अब उन जैसे प्रतिभाशाली सुपुत्रों को जन्म ही नहीं दे सकती ? जो जननी महात्मा गांधी को जन्म दे सकती है, उससे इस युग में भी बहुत आशा की जा सकती है।

• • •

व्यक्ति और समाज : बौद्ध दृष्टि का एक वैज्ञानिक विश्लेषण

श्री बी० के० राय

थे भगवान बुद्ध कभी एक व्यक्ति, अब तो हैं केवल एक विचार, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार। व्यक्ति को तो हमने पत्थर बना कर बन्द कर दिया पत्थर की दीवारों में, मढ़ दिया शोभा बढ़ाने के लिए चौखटदार तस्वीरों में, सन्तुष्ट हो गए लम्बी चौड़ी स्तुतियों में कृतज्ञता गाकर, ढक दिया उन्हें गंध-धूप, माला-फूल के अम्बारों में। लेकिन विचार ? विचार व्यक्ति नहीं, शब्द नहीं, अमूर्त चरण चिह्न हैं। वे पढ़े नहीं, कहे नहीं, केवल जिए जा सकते हैं।

थे तब भी, और अब भी है उनका दृष्टिकोण विशुद्ध व्यक्तिवादी। उनकी वाणी के हर वाक्य की व्याख्या में, उनके जीवन-दर्शन के हर सिद्धान्त के स्रोत में, उनके धर्मोपदेश के हर क्रम के केन्द्र में, उनके सन्देश के हर शब्द के अर्थ में, उनके आत्म-प्रयोग के हर प्रेक्षण के निरीक्षण में, उनके अनुभवजन्य ज्ञान के हर सत्य के विश्लेषण में, एक और केवल एक उद्देश्य दीखता है—**दुःख का निवारण**। हमारा अस्तित्व है इच्छा से, हम हैं सेवक अपनी इच्छा के। इच्छा के साथ अनुकूलता को ही तो सुख और प्रतिकूलता को ही तो दुःख कहते हैं। हम उसी सीमा तक सुखी या दुःखी होते हैं जहाँ तक हमारी इच्छा प्रतिपादित और प्रतिफलित हो पाती है। अतः सुख-दुःख पूर्णतः वैयक्तिक अनुभूतियाँ हैं। इनका सम्बन्ध है केवल व्यक्ति से। सुख-दुःख वस्तु में नहीं द्रष्टा की दृष्टि में होते हैं। वे केवल व्यक्ति-मन की मान्यताएँ हैं। अतः सारा **बौद्ध दर्शन व्यक्ति दर्शन** है सारा बौद्ध-मार्ग आत्मक्रान्ति का मार्ग है जो प्रारम्भ होता है व्यक्ति से, और समाप्त भी होता है व्यक्ति ही में।

उनकी 'निर्वाण' की अवधारणा भी आद्यन्त वैयक्तिक है। उनके **आर्यसत्य चतुष्टय** का सम्बोध केवल व्यक्ति में ही सम्भव है। उनके दुःखनिरोध का **'अष्टाङ्गिक मार्ग'** अत्यन्त व्यक्ति मूलक है। उनके **दुःख निदान** की 'बारहकड़ी' कोरी व्यक्तिगत श्रृंखला है। जागृति के स्मृत्युपस्थान, सप्तसम्बोध्यङ्ग, पञ्चेन्द्रिय, शब्दत्रिंशत शिक्षमाण-धर्म सभी केवल व्यक्ति केन्द्रित हैं। उनका मार्ग विश्वास का नहीं विचार और विवेक-

पूर्ण स्वानुभव का है। उनका धर्म 'स्वयं करो धर्म' है। उनके सत्य की खोज में अविद्या का नाश अनिवार्यतः निहित है। इसके लिए विशेष दक्षता चाहिए, असाधारण अभ्यास चाहिए, श्रेष्ठ अनुशासन चाहिए और चाहिए असामान्य आत्मसंयम। उनका सिद्धान्त इसीलिए देश और काल से अबाधित है। वह सार्वकालिक है, सार्वदेशिक है। उसका केन्द्र केवल और केवल व्यक्ति है। उनके सारे आदेश, सारे उपदेश, सारे संदेश व्यक्ति और व्यक्ति के लिए हैं।

वे ईश्वर की सत्ता का खण्डन करते हैं और मानते हैं कि व्यक्ति ही अपने भाग्य का विधाता है। उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं उसके **कर्म।** परन्तु उनकी कर्म-चेतना भी एक मानसिक प्रक्रिया है। उनका कर्म-सिद्धान्त महज़ मानसिक अनुकूलन है। बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, व्यक्ति की उद्घोषणा है। उनका मत नितान्त व्यक्ति केन्द्रित है। उनकी सारी प्रक्रिया वैयक्तिक उद्विकास की क्रिया है। उनका धर्म विशुद्ध व्यक्ति-धर्म है। उसमें मुँह नहीं चरित्र बोलता है, व्यक्ति नहीं व्यक्तित्व बोलता है। इसीलिए वह कोई वाद नहीं, सम्प्रदाय नहीं, जीने की सच्ची सीधी कला है। वहाँ सारा संघर्ष अस्तित्व के लिए नहीं, अस्तित्वहीनता के लिए है। वहाँ साधन हैं केवल **आत्म-परीक्षण, आत्म-निरीक्षण** और **आत्मान्वेषण।**

ईसामसीह की तरह उन्हें स्वप्न में ईश्वरपुत्र होने का सन्देह नहीं मिला था। **मुहम्मद** की तरह वे खुदा के पैगम्बर बना कर नहीं भेजे गए थे। और न ही **राम** और **कृष्ण** की तरह स्वयं भगवान ही उनके रूप में यहाँ अवतरित हुए थे। वे तो केवल मनुष्य थे। वे उन व्यक्तियों में थे जो अपने व्यक्तित्व को स्वयं अपनी रुखानी से काट छाँट कर गढ़ा करते हैं। वे स्वयं अपना शिल्पी थे। इसी लिए व्यक्ति ही उनका श्रेय है, प्रेय है, ध्येय है। उनका मार्ग आत्मक्रान्ति का मार्ग है। उनका अभियान व्यक्ति को केन्द्र मान कर प्रारम्भ होता है। उनके यहाँ सब कुछ व्यक्ति-सापेक्ष है। उनकी प्रक्रिया है केवल आत्मसाधना। वे सदैव से व्यक्तित्व के ही पालक, पोषक, प्रचारक, प्रसारक और प्रकाशक रहे हैं।

भगवान बुद्ध की तत्त्वशास्त्र के प्रति विरोधात्मक प्रवृत्ति थी, सम्भवतः इसी लिए कि उस समय **तात्त्विक विचारों** में भी उतनी ही अराजकता थी जितनी **नैतिक आचारों** में। जब कभी उनसे **जीव, आत्मा, जगत, ईश्वर** के विषय में प्रश्न पूछे जाते तो वे मौन हो जाते। ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कह कर टाल दिया गया। उन्होंने केवल मनुष्य को सर्वोपरि माना; चराचर के साथ उसके सम्बन्ध का ध्यान

नहीं रखा। उनका दृष्टिकोण वस्तुवादी नहीं व्यक्तिवादी था। हाँ, बाद के लोकोत्तर-वादी आचार्यों ने **गौतम बुद्ध** को वैदिक प्रतीकों के साँचे में ढाल कर लोकोत्तर बुद्ध बना डाला और तत्कालीन प्रचलित ज्ञान राशि से व्युत्पन्न प्रज्ञप्ति, संवृत्ति एवं निर्हेतुक सत्यों, क्षणिक, शून्य, अनित्य आदि वादों तथा हीनयान, महायान आदि शाखाओं के कल्पना-तत्त्वों के आधार पर जगत की व्याख्या का स्तुत्य प्रयास किया। पर मुझे तो वे उलझे अधिक, सुलझे कम लगते हैं। उनमें यथार्थ ज्ञान का अभाव है।

हम और हमारी दुनिया :

अब यह एक निर्विवाद, निस्सन्देह और निश्चित सत्य हैं कि हमारा जीवन एक **कोषिका** से प्रारम्भ होता है। हमारी सृष्टि का भी सारा मसाला वही हैं जो अन्य जन्तुओं का। इसे अस्वीकार करने की हममें हिम्मत नहीं कि हम प्रकृति से एक जानवर हैं। सभी जानबरों की तरह हम भी रासायनिक क्रियाओं और शारीरिक स्रावों के दास हैं। हम केवल रासायनिक संगठनों के पुतले हैं। हमें चुनाव की स्वतंत्रता नहीं। हम अनेक **प्राकृतिक पर्यावरणों** के दास हैं—माता के उदर में उदरस्थ वातावरण के, बाहर आकर सूर्य, वायु, जल, ताप, दाब, प्रकाश के; अपने रुधिर में उपस्थित तथा समुद्रजल में उपस्थित लवणों के अनुपात के, तंत्रिका तंत्र की संवेदनशीलता के, ग्रंथि-स्रावों की संयुक्त कार्य-प्रणाली के। पर सबसे अधिक जकड़ कर बँधे हैं हम अपने वंशानुगत प्राभूत से, युगों युगों से आते **आनुवांशिक** विशेषकों के वाहक **जीनों** के प्रभाव से, जो पीढ़ी दरपीढ़ी जन्मकाल में ही हस्तान्तरित होते रहते हैं। ये जीन शुद्ध रसायनिक जटिल होते हैं और जीवन तथा जाति की अवि-च्छिन्नता को बनाये रखते हैं। इन्हीं को हम **संस्कार** कहते हैं। **मन** और कुछ नहीं केवल इन्हीं संस्कारों का पुंज है। हमारी क्रिया का सम्बन्ध इसी रागात्मक मन से होता है और कहीं से नहीं। हम जो कुछ करते हैं इन्हीं परम्परागत संस्कारों से प्रेरित होकर करते हैं। हमारी प्रवृत्ति उतनी पुरानी है जितना जीव जगत। हमारी उम्र हमारे जन्म काल से जोड़ना भूल है। हमारी क्रिया का सम्बन्ध वर्तमान परि-स्थितियों में खोजना भ्रम है।

प्रत्येक माता-पिता के भिन्न पूर्वजों के कारण सम्भावित जीनों के **क्रमचय** तथा **संचय** की समुच्चय संख्या गणनातीत हो जाती है। इनमें से कोई एक ही समुच्चय नवजात शिशु को मिल पाता है। इसी कारण इतने विशाल और जनसंकुल संसार में भी प्रत्येक नवजात शिशु अद्वितीय और अन्यों से नितान्त भिन्न होता है। अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा का पहला वाक्य है—'सभी मनुष्य समान पैदा

होते हैं', पर सत्य यह है कि कोई भी दो मनुष्य एक सा नहीं, चाहे मोटे तौर पर देखें या सूक्ष्मदर्शी से। 'और तो और हमारी अँगुलियों के छाप तक तो मिलते ही नहीं। यह वैयक्तिक विविधता विकास के करोड़ों-करोड़ों वर्षों के लम्बे ऐतिहासिक क्रम तथा पर्यावर्ती विविधता के प्रति प्रतिक्रिया की देन है। हर व्यक्ति अपने प्रकार का अकेला अनोखा, अनूठा होता है—जितने हुए या हैं उनसे एकदम अलग। कोई भी सन्तान अपने पूर्वजों का प्रतिरूप नहीं होता। इसी असदृशता और विभिन्नता का इतिहास है **उद्विकास**। यही है **पुनर्जन्म** की प्रक्रिया, और यही है **कर्म-सिद्धान्त** का आधार।

हम केवल अनेक प्रकार के ही अकेले नहीं, इतनी बड़ी दुनिया में हर प्रकार से अकेले हैं, हमारा यहाँ कोई नहीं। जहाँ जीने का मंत्र है संघर्ष, रहने का तंत्र है द्वन्द्व, विकास का यंत्र है द्वेष। हम घिरे हैं केवल शत्रुओं से। जो दुनिया से लड़ नहीं सकता, दुनिया में जी भी नहीं सकता। जो जीवन-संघर्ष में हार जाता है उसे दुनिया मसल कर मिटा डालती है और अपनी विजयस्मृति के नमूने के रूप में सुरक्षित रख लेती है अपने अजायबघरों में। यह बीरभोग्या वसुन्धरा केवल बलवानों की बपौती है। यह एक सच्चाझूठ है कि हम सज्जन हैं, शान्ति प्रेमी हैं। अकारण आक्रमण हमारी प्रकृति है। आदमी से हमारी आदिम दुश्मनी है। दूसरे को खटाना हमारा पेशा है। धूर्तता हमारा धन्धा है। स्वार्थ हमारा एक और केवल एक अपना पाया गुण है। प्रेम-घृणा, राग-द्वेष, बैर-प्रीति तो इसी की पूर्ति की खोज में सीखे गए, कमाए गए, गुण हैं। हम समझ पायें या नहीं, हमारा रूप है इंसान का, काम है हैवान का। आज हम और कुछ बहुत हैं मनुष्य कुछ भी नहीं। यह हैं हम और यह हैं हमारी दुनिया।

व्यक्ति और व्यक्तित्व

प्राणिशास्त्रीय दृष्टि में व्यक्तित्व व्यक्ति का वह गुण है जो उसे औरों से अलग करता हैं, अलग दिखाता है। प्रकृति में इसी कारण विविधता हैं, विषमता है। शरीर और विचार की विभिन्नता ही जीवन का लक्षण है। हम अपने असंख्य पूर्वजों के अनुक्रमागत रूपान्तरित वंशज हैं, अतः हमारा एक अलग व्यक्तित्व है। जो जन्म के समय जैसा बनकर आता है, जीवन भर वैसा ही रह जाता है। वातावरण उसमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। चुम्बक चाहे जहाँ लटका दें रहेगा उत्तर-दक्षिण ही। सम्भव है किसी के प्रभाव में थोड़ी देर के लिए उसकी दिशा बदली दीखे, पर प्रभाव हटते ही वह फिर अपनी मूल स्थिति में आ जाता है। ठीक ऐसे ही हमारी प्रकृति अचर है। उस पर कोई घूँघट भले ही डाल दे, पर प्रवृत्ति बदल नहीं सकती। अनुकूल संवेदन मिलते ही ऊपर की पड़ी पर्त कुरेद कर हम जैसे के तैसे हो जाते हैं। इस

दुनिया का कौन बालक रोगी, वृद्ध और मृतक को नहीं देखता, पर सबमें तो उतनी करुणा नहीं जगती जितनी सिद्धार्थ में। न जाने कितने कठोर बन्धन डाले गए उन्हें बाँधने के लिए, पर चली किसी की ? इकलौते बेटे के माता-पिता का अपार दुलार, राजवैभव का निर्बाध लोभ, पत्नी-पुत्र का प्रचण्ड प्यार, धन-यश का ललाम लालच दौड़ दौड़कर रोकते रह गए और वह करुणा की पुकार पर सबको ठुकरा कर निकल ही गया। एक नहीं, अनेक नहीं, हर व्यक्ति इसका जीता जागता उदाहरण है कि जैसे हमारा शरीर बन कर आता है वैसे ही व्यक्तित्व भी।

समाजशास्त्र कहता है कि अपराध आता है समाज से, क्योंकि व्यक्ति समाज का दास है। तो एक समाज में रहने वाले सभी प्राणी एक से क्यों नहीं ? एक नियम, कानून मानता है दूसरा क्यों नहीं ? फिर, समृद्धिशाली क्यों अपराध करता है ? जीव-दर्शन इसका कारण व्यक्ति को, व्यक्तित्व को बताता है। मनुष्य काम पात्र होता है। जैसी इच्छा वैसा संकल्प, जैसा संकल्प वैसा कर्म। कामना की प्रकृति उसके **वंशगत जीनों** से प्राप्त प्रवृत्ति से मिलती है। नहीं तो एक परिवेश के दो व्यक्ति अलग-अलग आचरण क्यों करते हैं ? अपराधी जन्मजात अपराधी होता है। अपराधिता विरासत में मिली होती है। शरीर के अस्तव्यस्त आन्तरिक असन्तुलित रसायन की प्रतिक्रिया है **अपराध**। अपराध एक शुद्ध व्यक्तिमूलक घटना है हाँ सामाजिक समस्या मान सकते हैं। समाज अपने बच्चों को सिखाता है नैतिकता के आदर्श नियम, पर प्रतियोगिता और संघर्ष पूर्ण समाज में आने पर वे ही बच्चे अपनी-अपनी अभिवृत्ति के अनुरूप उन नियमों का अनौपचारिक रूपान्तर कर डालते हैं। सामाजिक नैतिकता और यथार्थ वैयक्तिकता के बीच की लम्बी-चौड़ी खाई केवल व्यक्ति की विशेषता का उद्घोष करती है। मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ, अभिरुचि-परीक्षण, साक्षात्कार, प्रश्नावली-प्रणाली आदि और कुछ नहीं केवल यही जानने की विधियाँ हैं कि वास्तविक व्यक्तित्व व्यावसायिक-व्यक्तित्व से कितना मेल खा पाता है। व्यक्ति में परिवर्तन लाने में समाज के नियम, कानून, दण्डविधान बिल्कुल बेकार सिद्ध हो चुके हैं। हाँ यदि कुछ कर सकता है तो उपयुक्त रासायनिक विधियों का प्रयोग।

आधुनिक विज्ञान हमारे व्यक्ति को भी और व्यक्तित्व को भी पूरी तरह से आद्योपान्त बदल सकता है। आज वह जीनों को पालने लगा है। **उत्परिवर्तन** से वह मनचाहे गुण ला सकता है। शरीर के विभिन्न अंगों की कलमबन्दी करके वार्धक्य को भगा सकता है। आज, हमारा रंग, रूप, आदत, गुण सभी कुछ हमारे हाथ में है। रक्त बैंक, चक्षु बैंक, अग्नाशय और वृक्क बैंक आज हर अस्पताल में हैं। हृदय

तो रोज ही बदले जा रहे हैं। बीजों, कीटों, पक्षियों और जन्तुओं के अनेक मनचाहे प्रकार बाजार में उपलब्ध हैं। वह दिन दूर नहीं जब मशीन के सच्चे पुरजों की तरह आदमी के भी सच्चे पुरजों की दुकानें हर बाजार में होंगी। निकट भविष्य में ही मस्तिष्क बदल कर विद्वान व्यक्ति के सारे अनुभव, स्मृतिज्ञान और संचित-विचार कोष किसी व्यक्ति को तत्क्षण दिए जा सकेंगे। गर्भपालन प्राणिशास्त्री को प्रयोगशाला में होगा। माँ-बाप आकर केवल अपनी इच्छित संतान के आकार-प्रकार, रंग-रूप, नाक-नक्शा, गुण-आचार का आदेश मात्र दे जाएँगें।

प्रकृति और संस्कृति का शाश्वत संघर्ष

हमारी प्रकृति है हमारी वैयक्तिकता और हमारी संस्कृति है देश काल विशेष के मान्य आचारों का समुच्चय। दोनों में अनवरत संघर्ष चलता रहता है। काया में तो वासनाएँ जकड़ी रहती ही हैं, पैदा हुए नहीं कि संस्कार शब्दों की, परम्पराओं की, विश्वासों की, आस्थाओं की, धर्म की, देश की, जाति की हथकड़ियाँ लेकर खड़ा हो जाता है और कस कर जकड़ देता है मन को भी। उस बेबसी की दशा में हमारा मन बहकावे में आ जाता है और कहने लगता है—हम हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, हिन्दुस्तानी हैं, समाजवादी हैं, एक तन्त्रवादी हैं आदि आदि। हम अपने को वैसा ही मानने लगते हैं जैसा दूसरों को दिखायी देते हैं। हम सुन्दर हैं, कुरूप हैं, अच्छे हैं, बुरे हैं, पापी हैं, पुण्यात्मा है, यह मेरे प्रति दूसरों की राय पर निर्भर करता है। हमारी अपनी कोई प्रतिमा नहीं रह जाती। इस परमुखापेक्षिता ने हमारे व्यक्ति को मार डाला। हम **'हम'** रहने का तो कभी अवसर ही नहीं पाते। लोकमत के अनुरूप ढलने की लालसा, बन्धनों को निभाने की बाध्यता, संगठनों का साथ देने की आकांक्षा में हमें अपने रूप को इतना काटना-कतरना, बनाना-बिगाड़ना, रंगना-चुनना, सँवारना-सुधारना पड़ता है कि हमारा असली रूप तो रह ही नहीं जाता। समाज हमारे व्यक्तित्व का ह्रासक है, विनाशक है। जो व्यक्ति हैं उन्हें भी वह व्यक्ति मानने को तैयार नहीं। चिल्लाता है—राम **हिन्दू** थे, ईसा **ईसाई** थे, मुहम्मद **मुसलमान** थे, बुद्ध **बौद्ध** थे, महावीर **जैन** थे। यदि किसी व्यक्ति ने अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को व्यक्त करना चाहा भी तो उसे समाज बरदाश्त नहीं कर पाया। इतिहास साक्षी है किसी को जहर की प्याली के, किसी को सूली के, किसी को गोली के और किसी को आग की होली के हवाले कर देना उसकी पुरानी परम्परा है। यह हमारा कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि सत्य के सभी प्रकाशक अपने समय में समाज की ओर से दुरदुराव और तिरस्कार ही पाते रहे।

समाज अपने साँचे में ढालने के प्रयत्न में, न जाने हमसे क्या-क्या दुष्कृत्य कराता है। समायोजन के चक्कर में हम सतह पर कुछ और, और तह पर बिलकुल और हो जाते हैं। ऊपर से झूठा, ईमानदार और भीतर से सच्चा बेईमान। हम ईमानदारी से अपने भीतर झाँक कर देखने का साहस भी नहीं कर पाते। अपनी नग्नता से घबराते हैं। एकान्त से डरते हैं यह सोचकर कि कहीं **'अपने'** से भेंट न हो जाय। सिनेमा, रेडियो, नाटक, खेल, तमाशों की खोज स्वयं से भागने की ही तो कला है। हमें खोजना होगा अपने इन टूटे बिखरे रूपों में से अपने असली रूप को। सीखनी होगी स्वयं शिल्पी बनकर अपने व्यक्तित्व को प्राप्त करने की कला। तोड़नी होंगी हमें समाज की, संस्था की, संस्कार की मानसिक-बेड़ियाँ। समझना होगा कि हमारा व्यक्तित्व इतना निर्बल नहीं जो देश और जाति के घरौंदे से घेरा जा सके, धर्म और विश्वास के बन्धन में बाँधा जा सके। डराती होंगी वातावरण की परिस्थितियाँ किसी को हम उनके थपेड़ों की दया पर जीने वाले नहीं, और न ही उनके घात, प्रतिघातों से इधर-उधर लुढ़कने वाले हैं। हमारी अपनी गति, दिशा है। हम विश्व की एक इकाई हैं। हम कुछ ही नहीं, बहुत कुछ हैं।

समाज सिखाता है—क्रोध बुरा है, काम पाप है, मोह अपराध है। हमारी सारी क्षमताएँ अपराध बता दी गयीं। कितनी संघातक भूल है। व्यक्तित्व में इनका विशिष्ट स्थान है। व्यक्तित्व के सम्पूर्ण चित्र में इनके अपने रंग हैं। इनके बिना जीवन चित्र नितांत अधूरा, बेहद बदरंगा और बिलकुल कुरूप होकर रह जाता है। क्षमा से क्रोध का विरोध नहीं। क्षमा तो क्रोध का ही चरम विकास है। क्रोध का, काम का, मोह का नाश करके तो हम उनके विकसित रूपों का भी नाश कर देते हैं। इनको बिना समझे दबाने का प्रयत्न करें तो ये जहरीले फोड़े बन जायेंगे। इनका मार्गीकरण ही इनका उत्तमोत्तम उपयोग है।

व्यष्टि और समष्टि

जीव की दो सहज प्रवृत्तियाँ हैं आत्मविकास और आत्मविस्तार। एक का सम्बन्ध **'मैं'** से है दूसरे का **'मेरा'** से। इन्हीं से व्यक्ति बनता है और समाज बनता है। दीखें भले ही दो, विकास और विस्तार एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। सच तो यह है कि आत्मविस्तार केवल एक साधन है आत्म विकास का। आत्मविस्तार का अर्थ है सर्व में अहं का विस्तार। परिवार, ग्राम, राष्ट्र सभी आत्मविस्तार ही तो हैं। यह जीव का अपने अस्तित्व को बनाए रखने, अपने को योग्यतम सिद्ध करने के लिए संघर्ष है जिसने इन संघर्ष-व्यूहों की रचना की है। समाज जीव के अन्तर्गत के

विकास का साधन मात्र है। वह हमारा ही रूप है। समाज हमें नहीं बनाता, हम उसे बनाते हैं। समाज की सारी अच्छाई-बुराई व्यक्ति हृदय की अच्छाई-बुराई है। शोषण, विषमता, हिंसा के विष को समाज में बिखेरा है व्यक्ति हृदय ने। समाज तो व्यक्ति का ही एक आयाम है। समाज की सभी समस्याओं की जड़ व्यक्ति अन्तस में है। बाहर समाधान खोजना मूर्खता है। जब तक व्यक्ति ईमानदारी से आत्म-निरीक्षण करना नहीं सीखेगा, समाधान के मार्ग का अन्वेषण नहीं कर पाएगा। **सामाजिक क्रान्तियाँ** करके हम देख चुके, अब **आत्मक्रान्ति** का ही मार्ग शेष है। यह व्यक्ति से ही प्रारम्भ होगा। समाज के सारे दोष व्यक्ति-मेधा से ही निकले हैं और व्यक्ति हृदय ही उनका परिष्कार कर सकता है। व्यक्ति दर्शन ही समाज दर्शन है। समाज दर्शन तो कोरी कपोल कल्पना है। सुधरना और सुधारना दो नहीं एक क्रिया है। हमारा आदर्श होना चाहिए व्यक्तिबोध, समष्टिबोध नहीं। इतिहास साक्षी है, समाज ने समाज को कभी नहीं बदला, बदला व्यक्ति ने।

कहते हैं समाज हमें सभ्यता सिखाता है। कितना बड़ा भ्रम है। सभ्यता, चाहे जिस कोण से आप देखें, हमारी आवश्यकताओं की वृद्धि, हमारी तृष्णा का विस्तार ही तो है। जिसकी आवश्यकताएँ जितनी अधिक हों, वह उतना ही सभ्य माना जाता है। इन्द्रिय-तुष्टि की लालसा में ही हमने सभ्यता का विकास किया। पर हमने प्यास को इतना बढ़ा दिया कि तृप्ति के साधन जुटाते-जुटाते सम्पूर्ण विश्व के एकाएक, एक साथ आत्मघात के साधन जुटा डाले। आज हम सबसे खतरनाक जन्तु हैं। महत्त्वाकांक्षा की प्यास अन्यों को ही नहीं, अपने को भी पी जाती है। साधनों के बड़े-बड़े लट्ठे हमारी तृष्णा की बेल को ऊँचे-ऊँचे सहारे भले ही दे दें, तृप्ति नहीं दे सकते। सुख के लिए तृष्णा-तृप्ति का तरीका केवल मृग-तृष्णा है। इस रोग के धन्वन्तरि केवल भगवान बुद्ध ही थे। उनकी शरण में जाकर सीखना होगा कि तृप्ति, प्राप्ति और तृष्णा की लब्धि मात्र है। गणित की भाषा में—

$$\text{तृप्ति} = \frac{\text{प्राप्ति}}{\text{तृष्णा}}$$

इस समीकरण से स्पष्ट है कि प्राप्ति बढ़ने से तृप्ति नहीं बढ़ती, क्योंकि प्रत्येक प्राप्ति एक नयी और बड़ी तृष्णा को जन्म देती है। तृष्णा बढ़ी कि तृप्ति घटी। तृप्ति तो तभी बढ़ेगी जब तृष्णा घटेगी। यदि तृष्णा शून्य हो जाय तो तृप्ति अनन्त हो जाएगी। तभी तो चिल्लाकर कबीर ने कहा था **'जाको कछू न चाहिए सोइ साहंसाह'**। भगवान बुद्ध का सारा **अपरिग्रह-मार्ग** इसी सूत्र का सक्रिय प्रयोग है। सूत्र बड़ा

सूक्ष्म है, प्रयोग बड़ा कठिन है। यह संसार का त्याग नहीं, साधनों की दासता का त्याग है। यह है निर्ममत्व का मार्ग। संसार को भोगना मना नहीं, मना है उससे चिपकना। हमारी सभ्यता तृष्णा का विकास है भगवान बुद्ध का मार्ग संयम का विकास है। इसमें तृष्णा और तृप्ति का समन्वय है, योग-भोग का सन्तुलन है, मैं और मेरा का सामञ्जस्य है। यही है उनका जीवन-विज्ञान। उससे केवल जी ही सकते हैं। आत्मशोधन उनके मार्ग का प्राथमिक प्रतिबन्ध है, उनके जीवन दर्शन को समझने सीखने और व्यवहार में लाने का एक मात्र साधन है।

समाधान की दिशा

यदि व्यक्ति का ही सारा खेल है तो उसे अपने महान उत्तरदायित्व को पहचानना होगा। यह है तो अप्रिय सत्य कि मनुष्य स्वभाव से जानवर है, पर उसके मस्तिष्क की विशेषता भी तो उसका गुण है। उसे सोचना है कि वह शरीर के आदेशों का पालन करके जानवर ही बना रहे या अपने जानवर-मन से लड़कर मनुष्य बनने का प्रयास करे। उसे लड़ना होगा और जीतना होगा अपने भीतर के जन्तु-संवेगों को। उसे जानवर को पीछे छोड़ने के लिए अपने शारीरिक सुख को राजस्व के रूप में देना होगा। प्रकृति के विरुद्ध तो वह बहुत लड़ चुका, अब उसे अपने ही से संघर्ष करना होगा। यह कार्य भगवान का नहीं, समाज का भी नहीं, केवल व्यक्ति का होगा। विकास केवल व्यक्तिगत प्रयास से होता है। मनुष्य **उद्विकास** का अन्त नहीं, वह तो केवल जानवर की स्मृतियों से लदे **भूत** और आशा भरे **भविष्य** के बीच की कड़ी है। इसका उद्देश्य है एक नवीन जीव की उत्पत्ति जो आनुवंशिक दासता के परे हो, जन्तु संवेगों से रहित हो। यह सच है, हम अनेकता को मिटा तो नहीं सकते पर अन्यों के प्रति दया, करुणा, सहानुभूति तो रख सकते हैं। स्वार्थ-पूर्ण वासनाओं का संयमन करके आत्मरति के स्थान पर आत्मसंयम तो ला सकते हैं। 'मैं' और 'तू' का स्वस्थ समन्वय तो कर सकते हैं। व्यक्ति बदला कि समाज बदला। आत्मसाधक ही सच्चा समाज सुधारक होता है।

इसके लिए हमें जाना होगा महान मनीषी **भगवान बुद्ध** की शरण में, जिन्होंने आज से २५०० वर्ष से अधिक हुए, इस रोग की रामवाण औषधि का आविष्कार किया था। उनके जीवन दर्शन में जीवन को सभी विसंगतियों का समुचित समाधान है, वैयक्तिक मूल्यों के प्रति उदार दृष्टि रखने का हर सम्भव प्रयास है, एकात्मता का समग्रबोध है, ममत्व विसर्जन का मार्ग है, व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धों का सम्यक् विवेचन है और है त्यागमय भोग की आचार संहिता। उनके विचार

ईश्वर की कृपा के याचक नहीं, कर्म के अटल नियम के पोषक हैं। उनकी यह नास्तिकता आस्तिकता से बढ़कर है। इसमें मानव हृदय के प्रति अपार आशा है, मानव उत्कर्ष के प्रति अनन्त विश्वास है, पुरुषार्थ को परमार्थ से भी बड़ा दिखा देने की क्षमता है। आज के शक्तिभय से भयभीत, हिंसा से प्रताड़ित, शोषण से पीड़ित, विलास से विक्षिप्त, विषमता से विषाक्त विश्व को यदि उबारना है, यदि सृष्टि को संहार से बचाना है तो हमारे लिए भगवान बुद्ध को अपना चारित्रनायक, पथ-प्रदर्शक और मार्ग रक्षक बनाने के अलावा कोई मार्ग नहीं। पर ध्यान में रखना है कि मनुष्यता की हर समस्या का समाधान केवल **व्यक्ति** के माध्यम से ही हो सकता है। यही उनके जीवन का अमर सन्देश भी है।

• • •

व्यष्टि एवं समष्टि की समस्या

संस्कृत एवं अंग्रेजी निबन्ध

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(ईशावा० १)

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥

(धम्मपद-बुद्धवग्ग १६)

व्यक्तिसमष्टिविकासानुबद्धा बौद्धदृष्टिः

प्रो० शान्तिभिक्षुशास्त्री

(०) मातृकाबन्धः

> **व्यष्टिं सदैव व्यवहारपथप्रपन्ना**
> **ये चिन्तयन्ति मुनयोऽत्र समष्टिरूपाम् ।**
> **सर्वां समष्टिमपि तत्त्वपथेऽत्र शून्यां**
> **ये भावयन्ति त इहात्र जने जयन्ति ॥**

व्यष्टिसमष्टिविकासानुबद्धां बौद्धदृष्टिं निरूपयितुमत्र क्रियते मातृकाबन्धः। तद्यथा—(१) व्यष्टौ समष्टिभावस्य सङ्केताः, (२) समष्टिभावस्याभिनन्दनम्, (३) व्यष्टि-विकासेऽधिकारिभेदनिरूपणम्, (४) समष्टिविकासे सङ्घस्य गणतन्त्रराज्यस्य च व्यवस्था, (५) समष्टिविकासे एकचक्रादर्शः, (६) साक्ष्यानुस्मरणं चेति। आसां मातृकाणाम् उपपादमुखेन यथा व्यष्टिनिष्ठं मानवजीवनं विकासम् उपगच्छति, यथा च समष्टिनिष्ठं मानवजीवनं समुन्नतिं लभते, यथा चात्र बुद्धस्य भगवतः, बौद्धानां च विदुषां सङ्केताः प्राप्यन्ते तथा दिग्दर्शनं कर्तुं ममात्र प्रयत्नः ।

(१) व्यष्टौ समष्टिभावस्य सङ्केताः

बौद्धदृष्ट्या यद्यपि कश्चिद् एकः पुद्गलादिशब्दवाच्य आत्मा, कारको वेदकश्च न स्वीकृतस्तथापि समष्टिरूपा व्यष्टिः स्वीकृता वर्तते। तद्यथा यत्रापरे अहं—ममादि-शब्दान् व्यवहरन्ति, तत्र बौद्धा अपि व्यवहरन्ति, परं सङ्केतितार्थो भिन्नो भवति। बौद्धा पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तां व्यष्टिं न पश्यन्ति। पञ्चस्कन्धसमष्टावेव व्यष्टिव्यवहारं कुर्वन्ति। अपरे तु पञ्चस्कन्धेभ्योऽनालिङ्गितां व्यष्टिं विभावयन्ति। एवं यत्र पश्यन्त्यपरे कमप्येकम् अवयविनं तत्र बौद्धाः केवलम् अवयवपुञ्जम् एव पश्यन्ति। एवं या काचिद् एक-व्यक्ति-व्यष्ट्यादिपर्याया संवृतिर्वर्तते, सा बौद्धनयेन यद्यपि समष्टिरेव वर्तते तथापि व्यवहारदशायां तस्याः स्वीकारः सर्वबौद्धसम्मत एव। अस्मिन् प्रसङ्गे कोऽप्येको जनो व्यष्टिरिति मन्तव्यः। समाजवर्तिनस्तस्य समाजात् सर्वथा दूरङ्गमस्य वा तस्य विकासोऽत्र चिन्तनीयः। **बौद्धधर्मः स्वहितार्थः, परहितार्थः, मोक्षार्थश्च** भवति। यो न स्वस्य हिताय वर्तते, न परस्य हिताय वर्तते, न च मोक्षाय वर्तते, स न भगवतो धर्मः। तत्र स्वहितचर्यायां परहितचर्यायां च तत्पराणां कृतेऽयं शान्तिदेवस्य निर्देशः—**न हि तद्····यन्न शिक्ष्यम्** (बोधिचर्यावतारः ५।१००) इति। एवमधिकाधिकविद्याचरणशिक्षा-

सम्पन्न एव स्वहितं परहितं च कर्तुं प्रभवतीति समुपदिश्यते व्यष्टिमाहात्म्यस्यैव कल्याणचित्तता, स्रोतआपन्नता, सकृदागामिता, अनागामिता, अर्हत्त्वम्, बोधिचित्तोत्पादः, दानचर्या, शीलचर्या, क्षमाचर्या, वीर्यचर्या, ध्यानचर्या, प्रज्ञाचर्या, बोधिसत्त्वता, बुद्धता चेति विकासपंक्तिः। अस्मिन् व्यष्टिविकासे यद्यपि विविधोच्चसेवातत्परता विविधाधिकारिपदारोहणता वा न गणिता तथापि सा राज्यव्यवस्थाप्रसङ्गे नामनिर्देशमात्रेण कथिता भवित्री। व्यष्टिसामर्थ्यमेव विकासनिमित्तं भवति न जात्यादिकम्। गुणाश्च जातिं न विचारयन्ति (दिव्यावदाने पृ० २४३) इति हि बौद्धसमयः। स्वहितं प्रति पशुरपि न प्रमाद्यति। परहितप्रयत्नपरास्तु ये पुरुषास्ते सुकृतिनः (शिष्यलेखः पद्यं १०१)। व्यष्टिविकासार्थमाचार्यनागार्जुनः प्राह—**क्षान्त्या वीर्येण च भवत्यात्मार्थः, दानशीलाभ्यां सिध्यति परार्थः, मोक्षार्थो ध्यानेन प्रज्ञया च सम्पद्यते इति** (द्रष्टव्या रत्नावली ४।८१)। अस्तु, व्यष्टिविकासो वर्तते बौद्धचिन्ताविषयः।

(२) समष्टिभावस्याभिनन्दनम्

तथागतः सङ्घे समष्टिभावरूपे कृतदृष्टिः स महापरिनिर्वाणसूत्रे भिक्षूणां सङ्घस्य च राज्यकृतां सङ्घस्य चेति द्विविधसङ्घस्य समग्रतामभिनन्दति। तयोर्वृद्धिकरान् धर्मान् निर्दिशति। बौद्धधर्मे गुणवानेव सङ्घो वस्तुतः सङ्घो मतः। सङ्घभुक्तो जनः स्थिराशयो भवति चेत् सङ्घोचितो भण्यते। **यश्च कदाचिद् बुद्धश्रावको भवति, कदाचिद् अचेलको भवति, कदाचिद् आजीवको भवति, कदाचिद् निर्ग्रन्थो भवति, कदाचिद् तापसो भवति, एवं रूपो हि यः अनवस्थितचितः पुद्गलः स श्रद्धाविरहितो भवति, अस्थिरविश्वासो भवति, अज्ञो भवति सद्धर्मस्य, न प्रज्ञां परिपूरयति, न तस्य भवति सङ्घे प्रतिष्ठा** (द्रष्टव्यार्थकथा ३।६ धर्मपदगाथायाः)।

सङ्घो गुणवज्जनभूषितो भवेद् इत्यर्थमेव सर्वशिक्षाः सुचरिताचरणाय, दुश्चरितनिवारणाय। प्रमुखेषु दुश्चरितेषु सङ्घभेदोऽन्यतमः। स सर्वथैव परित्याज्यः। तस्यैवाचरणाद् देवदत्तस्य लोके निन्दा प्रसृता। आगमे तस्य निरयगतिर्निर्दशिता। सङ्घो हि तथागतवचनानुसारं कल्याणपरायणानां विदुषां समूहः। स हि **पुण्यम् आकाङ्क्षमाणानां सङ्घो वै यजतां मुखम्** (सूत्रनिपाते शैलसूत्रम्, गाथा २२) इत्येवं भगवता स्तूयते। राज्यकर्तॄणामपि सङ्घो भगवदभीष्टः। परं भगवान् यावदभिनिष्क्रमणं शाक्यगणराज्यधुरं युवराजः सन् दधानः परमो भीतोऽप्यासीत्। तेन अल्पोदके यथा मत्स्याः स्पन्दमाना भवन्ति तथैव इमाः सर्वाः प्रजा अन्योन्यं समभिलक्ष्य विरुद्धाचरणा दृष्टाः, अतएव तं भयमाविष्टम्, (द्रष्टव्यमत्र सुत्तनिपाते आत्मदण्डसूत्रम्) इति सूत्रे प्रस्तूयते। किं बहुना, **गुणवतां श्रमणब्राह्मणानां यः सङ्घः, परस्परम् अविरुद्धानां प्रजापालकानां च यः सङ्घः, स द्विविधोऽपि सङ्घो भगवद्बुद्धसम्मतः।** परं सङ्घ-

प्रकाराणामियत्ता नास्ति। दृष्टाः पुरा, दृश्यन्ते चाद्यत्वेऽपि बहवः सङ्घा नानुमतास्ते शिष्टैः सर्वैर्बौद्धाबोद्धैः। तद्यथा चौर-दस्यु-तस्करसङ्घाः सुगुप्ता, सुसंवृताश्च। सन्त्यपरेऽपि राज्याश्रयप्राप्तिमुखेन सर्वत्र विवृताः सङ्घा। तद्यथा, कार्यविरतिप्रेरकाः सङ्घाः, उत्कोचादिग्राहिविविधलोकसङ्घाः, नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः। स सनन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्। (काव्यमीमांसा पृष्ठं ६१ बड़ौदा-संस्करणम्) इति न्यायेन निगूहनपरमपटवो विपणिप्रभूणां वणिजां सङ्घाः। इदं दिग्दर्शनमात्रम्। **मायाजीविनां सर्वे सङ्घा ये लोके प्रचलितास्ते न बौद्धसम्मताः। गुणवज्जनसमष्टिरेव बौद्धानां समष्टिः।** तादृक्समष्टिविकास एव बौद्धविचारविषयः।

(३) व्यष्टिविकासेऽधिकारिभेदनिरूपणम्

अनन्ता व्यष्टयः। तासां सामान्या शक्तिर्भवति। विशेषा च शक्तिर्भवति। विशेषा शक्तिर्व्यष्टौ भिन्ना भवति। अतः काचन विद्याधर्मादिचर्या न सर्वस्य जनस्य कृते समाना निर्देष्टुं शक्या। तथागतदेशनापि न समाना तत एव सर्वजनानां कृते। आचार्यनागार्जुनः तमिममर्थमभिलक्ष्य तत एव व्याहरति स्म। यथा वैयाकरणः स्वशिष्यान् पूर्वं वर्णमातृकायां विनयति, ततः क्रमेण गूढेषु विषयेषु तान् करोति विशारदान्, एवं तथागतो विनेयजनानां योग्यतां विनिश्चित्य धर्मं देशयति स्म। पापेभ्यो विरमत, इति समुपदिश्य केचन भगवता शिक्षिताः। पुण्यान्याचरत, इति समुपदिश्य केचन धर्ममार्गं प्रति प्रेरिताः। पुण्येषु रतिं पापेभ्यश्च विरतिं शिक्षयित्वा केचन पटवः कृताः। पुण्यपापवर्जितां चर्यां प्रतिपाद्य केचन परिपक्वाः कृताः। करुणाचर्यां शून्यतादृष्टिं च विवृत्य केचन बोध्यर्थं विनीताः। इत्येवं विविधैः प्रकारैः कृता या तथागतदेशना सा चर्यार्थं लोकानामधिकारिभेदनिरूपणार्थैव (द्रष्टव्योऽत्र नागार्जुनकृतरत्नावलीलेखे चतुर्थो राजवृत्तोपदेशाख्यः परिच्छेदः, तत्रापि श्लोकाः ९४–१००)। अयमर्थः प्रकारेणापरेण विनयपिटकस्य महावर्गे समुपदिष्टः। तद्यथा। भगवान् आनुपूर्वीकथां कथयामास। तद्यथा। दानकथां, शीलकथां, स्वर्गकथां, कामानामादीनवं, नैष्क्रम्ये आनुशंशं प्रकाशयामास। यदा भगवान् अज्ञासीत् श्रोतारं मृदुचित्तं प्रसन्नचित्तम् अथ या बुद्धानां सामुत्कर्षिका धर्मदेशना तं प्रकाशयामास। दुःखं, समुदयं, निरोधं, मार्गं चेति। अस्तु, व्यष्टिविकासार्थं कश्चन विकासक्रमो विकासोपयुक्तजनयोग्यतां दृष्ट्वा कर्तव्यो येन विना काठिन्येन विकासः सम्भवेत्। इत्येष बौद्धो मार्गः सर्वेषां बुद्धिमतां सम्मत एव। भगवांस्तु या या व्यष्टिरिह वर्तते तां तां विषयीकरोत्यप्रमाणैः। सर्वस्य सुखितस्य सर्वदा सुखं तिष्ठतु इति मैत्र्या जनं वेवेष्टि भगवान्। सर्वो दुःखितः भवतु दुःखविवर्जितः—इति करुणया व्याप्नोति जनं भगवान्। सर्वस्य

पुण्यवतः सुखात् न भवतु परिच्युतिरिति मुदितया परिवृणोति जनं भगवान्। सर्वस्य पापोन्मुखस्य पापवृत्तिर्विगच्छतु—इति हितमिच्छन् भगवान् संक्लिष्टं जनं निःसंक्लेशताशयलक्षणया उपेक्षया संस्पृशति भगवान्। एवं व्यष्टिहितमभिलषता जनेन सुखसंयोगाशयतया, दुःखवियोगाशयतया, सुखावियोगाशयतया, हिताशयतया च व्यष्टिं व्यष्टिम् उद्दिश्य प्रवर्तितव्यम्—इति बौद्धसम्मतो मार्गः (द्रष्टव्योऽत्र महायान-सूत्रालङ्कारे चरमोऽधिकारः, तत्र श्लोकः ४३, सप्तदशोऽधिकारः श्लोकौ १८,६२)।

(४) समष्टिविकासे सङ्घस्य गणतन्त्रराज्यस्य च व्यवस्था

समष्टिविकासार्थैव भिक्षुभिक्षुणीसङ्घप्रवर्तनं कृतमासीद् भगवता। तत्र सङ्घभुक्तानां जनानां विकासस्य द्वौ मार्गावास्ताम्। ग्रन्थधुरया वा विकासः कर्तव्यः विपश्यना धुरया वा विकासो विधेयः। उभयविधया धुरया यो विकासमवाप्नोति तस्य महती भवत्यर्थवत्ता—इति विनापि वाग्व्याहृतेन प्रकाशयितुं शक्यम्।

जनसाधारणविकासपरिपालनाद्यर्थं गणतन्त्रराज्यव्यवस्था बुद्धकाले जीविता-सीत्। साम्प्रतं सा बहुत्र लब्धप्रचारा। भारतदेशोऽपि तेषामन्यतमः। अस्यां व्यवस्थायां शीलप्रज्ञासम्पन्नानि यदि भवन्त्यधिकारिमण्डलानि तर्हि सर्वं सुस्थमेव विज्ञातव्यम्। अन्यथा तु दारिद्र्येण जनता परिपीडिता भवति तद्यथा साम्प्रतं भारते। भारते शिक्षितवर्गः, अशिक्षितवर्गः, सम्पन्नवर्गः, विपन्नवर्गश्चेति चतुर्विधो जनवर्गः। तेषु अशिक्षितवर्गे विपन्नवर्गे च बहुजनानामन्तर्भावः। सेयं भारतीयगणतन्त्रस्य विफलता। तस्य सफलता तदा भवित्री यदा जनाः साक्षराः सम्पन्नाश्च भवितारः। सर्वविधराज्यसाफल्यस्य सर्वजनसम्पन्नतैव निकषः।

(५) समष्टि विकासे एकचक्रादर्शः

सर्वलोकसम्पन्नतैव समष्टिविकासस्य समग्र आदर्शः, एष विषयो दीर्घनिकायस्य चक्रवर्तिसूत्रे विस्तरेणोपपादितः। सिंहलद्वीपे यः कोऽपि विपन्नं राष्ट्रं दृष्ट्वा, विविध-दोषपूर्णं च राष्ट्रं सम्भाव्य किमपि व्याहरति स सूत्रमेतद् उदाहरति। अत्र बौद्धराज्य-तन्त्रादर्शं जिज्ञासुना सूत्रस्यास्य परिशीलनं कर्तव्यम्। इमानि तस्य सूत्रस्य विचार-बिन्दवः। **समग्रपृथिवीमण्डलम् एकमेव भवतु राज्यम्। तदायत्तानि भवेयुर्बहूनि विजितानि लघुमण्डलानि। सर्वेषां दोषाणामेकमात्रं निदानं दारिद्र्यं न तत्र लब्धास्पदं भवेत्। राज्यं च अदण्डेन कृतं स्यात्, अशस्त्रेण कृतं स्यात्, धर्मेण च कृतं स्याद्** इति। तदनुरूपोमहाप्रदेशपत्यादितत्तत्स्थानपतिपर्यन्तोऽधिकारिवर्ग नियोगोऽनिवार्य एव।

एतानि समष्टिविकासकराणि सूत्राणि न भूमौ क्वचिदप्यनुसृतानि। भारते तु कौटिल्यादिभिरेतद्विपरीतानि सूत्राणि निर्माय अर्थशास्त्राख्यया प्रचारितानि राज्य-

कृद्भिः प्रायः सर्वत्रानुसृतानि । तथा दृष्ट्वा नागार्जुनाचार्यस्य मनसि महती पीडा जाता । स स्पष्टमेवाह—

परातिसन्धानपरा कष्टा दुर्गतिपद्धतिः ।
अनर्थविद्या दुष्प्रज्ञैरर्थविद्या कथां कृता ॥

(रत्नावली २।३०) इति ।

किं बहुना । धर्मराज्यस्यैव त्रयो निकषाः । दारिद्र्योन्मूलनं, अदण्डप्रवृत्ति, अशस्त्रप्रवृत्तिश्च । एतच्चतुस्तत्त्वसमन्विते राजतन्त्रे विकसति हितचेतना । विकसितायां हितचेतनायां कलिमलबहुलानामपि हितं चिन्तयितुं शक्यते । श्रूयते, तथागतो विनीतवान् दस्युम् अङ्गुलिमालम् । बभूव सोऽत्रार्हतामन्यतमः । सेयं करुणा भगवन्निष्ठा । इयं राजनिष्ठापि भवतु । तथा चाह नागार्जुनः—

हितायैव त्वया चित्तमुन्नाम्यं सर्वदेहिनाम् ।
करुण्यात् सततं राजंस्तीव्रपापकृतामपि ॥
तीव्रपापेषु हिंस्रेषु कृपा कार्या विशेषतः ।
त एव हि कृपास्थानं हतात्मानो महात्मनाम् ॥

(रत्नावली ४।३१, ३२) इति ।

(००) विषयोपसंहरणम्

व्यष्टिः समष्टेः परमोंऽशः । सूक्ष्मतमोंऽशः । एकशब्देन संख्यावाचकेन निर्देश्योंऽशः । व्यष्टीनां समुदाय एव समष्टिः । समष्टौ व्यष्टीनामुचितं स्थानं भवेत् । व्यष्ट्यो न पीडामनुभवेयुर्दण्डेन, शस्त्रेण, अधर्मेण, दारिद्र्येण चेति । यदीयं व्यवस्था भवेत् तर्हि समष्टीनां राज्यकर्मपरायणानां वा मतवादपरायणानां वा कोऽपि प्रहारो नैव भवितुं शक्यः । दण्डशक्त्या शस्त्रशक्त्या च सुव्यवस्था नैव लोके भवित्री । दण्डनायकानां सतामपि नगरेषु काचिद् नास्ति सुरक्षा । अर्थापहारः, हिंसामुखेन प्राणापहारः, दुःशीलताप्रसारश्चेत्यादयो दोषा सर्वत्र बहुलीभूता दृश्यन्ते । एतेषां दोषाणां निवारणे दरिद्रा एव राज्यकृतः । यद्यपि नास्ति तेषां वचने दरिद्रता, प्रतिज्ञायां वा दरिद्रता । उक्तार्थकरणे प्रतिज्ञार्थसम्पादने तु भवत्येव दारिद्र्यम् । किं वचसां शौर्येण लोकानाम् । प्रयोजनसम्पादने यदि शौर्यं प्रदर्श्यते तर्हि भवत्येव लोकानां हितं च सुखं च । उपसंह्रियते साम्प्रतं तथागतवचसा—

सहस्रमपि चेद् वाचो ह्यनर्थपदसंहिताः ।
एकमर्थपदं श्रेयः श्रुत्वा यद् उपशाम्यति ॥ (धर्मपद १००)

● ● ●

बुद्धदृष्टौ समष्टिः

श्रीसुधाकरदीक्षितः

दर्शनं नाम साक्षात्कारः । कस्य साक्षात्कारः ? तत्त्वस्य तत्त्वाधिगमोपायस्य च । किम्पुनस्तत्त्वम् ? व्यष्टि-समष्ट्योः कल्याणम् । कल्याणस्यैव श्रेयः निःश्रेयसं वा पर्यायः ।

कल्याणस्य तदधिगमोपायस्य च साक्षात्कारः कस्य हृदि भवति ? परमकारुणिकस्य । यतः सः परमकारुणिकः, अतएव स्वयं साक्षात् कृतानां तेषां कल्याणाधिगमोपायानां कल्याणसाधकत्वमपि स्वयं साक्षात् करोति, अनन्तरं तान् यथाधिकारं यथायोग्यं सर्वान् समुपदिशति ।

उपदेशश्च प्रायशः सत्तर्कारूढ़ो विधीयमानो हृदयस्पर्शी समादरणीयश्च भवति । अतएव व्यष्टि-समष्ट्योः कल्याणोपायानां, समेषां हृदि यथावत् प्रतिष्ठापनाय ये सत्तर्काः परमकारुणिकेन दार्शनिकेन तदनुयायिभिश्चाश्रीयन्ते, ते तत्प्रतिपादका ग्रन्थाश्च दर्शनपद्भाजो भवन्ति ।

अनेन उपरितनसंक्षेपेण मन्ये तथ्यमिदं स्पष्टं स्यादेव यद् दर्शनं तदेव यद् व्यष्टि-समष्ट्योः कल्याणमेवालक्ष्याविर्भवतीति । एतेन हि दर्शनस्य व्यष्टि-समष्टिभ्यां न केवलं घनिष्ठः सम्बन्धः स्पष्ट्यते अपि तु तयोः परमोपकारकत्वमेव तस्य स्वरूपमित्यपि स्फुटं भवति । अतएव यद् दर्शनरूपेण प्रथितं व्यष्टि-समष्ट्युपकारकं नास्ति अथवा वस्तुगत्या तयोः उपकारकं सदपि तेन रूपेण नोपयुज्यते तस्य स्वस्मिन् रूपे यथावत् प्रतिष्ठापनं तद्सम्भवे च जगतो बहिः निष्कासनं नितरामनिवार्यमिति मम प्रतिभाति ।

व्यष्टि-समष्टिस्वरूपम्

अधुनेदं विचारणीयम्—का व्यष्टिः समष्टिर्वा ? तत्र समष्टिनिरूपणायत्त व्यष्टिनिरूपणम् । समष्टिश्च मानवानां समूह इति वक्तुं युक्तम्, परं समूहविशेषः समष्टिः, न तु समूहसामान्यम् । समूहस्य वैशिष्ट्यं हि उद्देश्यविशेषमाश्रित्य । तच्चोद्देश्यं मानवानामस्तित्वस्य विश्वतोमुखस्य विकासस्य च सम्पादनम् । उद्देश्येनानेन पारस्परिकं प्रेम सहानुभूतिं चाधारीकृत्य अनिवार्यरूपेण अपेक्षितः अयं समूहः समष्टिः समाज इति वा अभिधीयते । अतएव इयं समष्टिः मानवजातेः एको विस्तृतो विशालश्च परिवार एवेति निश्चप्रचम् । अस्याः समष्टेः यत् प्रमुखं घटकं तदेव व्यष्टिरिति स्पष्टम् । तच्च मानव एवेति अनुपदोक्तदिशा निर्विवादम् ।

यथा व्यष्टेः अस्तित्वं सर्वाङ्गीणो विकासश्च समष्ट्यायत्तं तथैव समष्टेः अस्तित्वं सर्वाङ्गीणो विकासश्चापि व्यष्ट्यायत्तं इति सर्वानुमतमेव। परस्परं सापेक्षयोः अनयोः व्यष्टि-समष्ट्योः सत्तायाः अविच्छिन्नरूपेण प्रवाहशीलत्वं समप्राधान्यं समकालभावित्वं चेति नितरां स्पष्टम्, व्यष्टेरपि मातृ-पितृसमूहात्मकसमष्टेरेव जायमानत्वात्।

व्यष्टेरपि समष्ट्यात्मकत्वम्

समष्टिरपि व्यष्टिः व्यष्टिरपि समष्टिः, अनेकस्मिन्नेकोपलब्धेः एकस्मिन्ननेकोपलब्धेश्च सिद्धान्तात्। पुरो दृश्यमानेषु स्तम्भभित्त्यादिषु अनेकेषु अङ्गेषु एकमिदं भवनमुपलभ्यते, एकस्मिन् चास्मिन् भवने इमानि अनेकानि स्तम्भभित्त्यादीनि अङ्गानि उपलभ्यन्ते। वस्तुगत्या नहीदं भवनं किञ्चिदेकं वस्तु, किन्तु स्वीयानि अङ्गानि गुणाविशेषांश्चाश्रित्यैव भवनमिति ख्यातिं भजते। इयमेव स्थितिः मानवात्मिकाया व्यष्टेरपि। तस्या अपि नास्ति काचन शुद्धसत्ता किन्तु मानसिकीनां भौतिकीनां च तासाम् अवस्थानां सा समुदायमात्रम्, याः उत्पाद-स्थिति-भङ्गानाम् अविच्छिन्नधारासु प्रवहमानाः सन्ति। इमा मानसिक्य अवस्था एव **'नाम'** शब्देन भौतिक्यश्चावस्थाः **'रूप'** शब्देन व्यपदिश्यन्ते। नाम्न एव तिस्रः स्थितयः वेदना, संज्ञा, संस्काररूपेण प्रसिद्धाः सन्ति। पापपुण्यादिविभिन्नप्रकारकं चित्तमेव 'विज्ञान' रूपेण प्रथितम्। आसाम् अवस्थानां समुदायस्य समुदाय एव मानवात्मिका व्यष्टिः। अयम् अवस्थानाम् समुदाय एव पञ्चस्कन्धरूपेण प्रसिद्धः–रूपस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः, विज्ञानस्कन्धश्चेति। तथा हि संयुक्तनिकाये—

'यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति'ति॥

अस्यायमाशयः

यथा चक्रादिषु विभिन्नेषु अङ्गेषु एव रथ इति ख्यातिस्तथैव पञ्चसु स्कन्धेष्वेव व्यक्तेः ख्यातिः। एवं व्यष्टिरपि समष्टिरेवेति सुव्यक्तं भवति। तेन च परमार्थतः समष्टिरेव सर्वस्वमिति स्थिते सति समष्टिकल्याणमेव बुद्धदर्शनस्य लक्ष्यमिति पर्यवस्यति।

समष्टिकल्याणम्, बुद्धत्वम्, करुणा च

अस्याः समष्टेः कल्याणस्य वासना एव परार्थवासना। इयं हि परार्थवासना शुद्धवासना इत्युप्युच्यते। इयमेव बोधिसत्त्वस्य विशिष्टं लक्ष्यम्। अनया वासनया अनुप्राणित एव बोधिसत्त्वः क्रमशस्तद् बुद्धत्वमधिकरोति, यत्र व्यक्तित्वस्य विलयेन सार्द्धमियं शुद्धवासनापदाभिधेया परार्थवासनापरपर्याया समष्टिकल्याणभावना एव सर्वस्वं भवति। इयं समष्टिकल्याणभावना बुद्धे तथा आत्मसाद् भवति यथा सः

एकतस्तु आत्मनो व्यक्तित्वं समष्ट्यात्मकं सम्पाद्य तिष्ठति अन्यथा स्वाभाविक्याः समष्टिकल्याणभावनाया एवासम्भवात्, अन्यतश्च प्रतिक्षणं तथा प्रयतते येन तस्य स्कन्धनिवृत्तिः शीघ्रं न स्यात्, स्कन्धनिवृत्तौ सत्यां समष्टिसेवाया अवसरस्य लब्धुमशक्यत्वात्। इदमेव बुद्धस्य बुद्धत्वम् असाधारण्यं च।

इमामेव परमस्पृहणीयां समष्टिकल्याणभावनाम् आलक्ष्य बौद्धा योगिनः तादृशं बैन्दवं सिद्धं वा देहं कामयन्ते, यः प्राकृतनियमानां शृङ्खलया न बद्ध्यते, नापि मृत्युना ग्रस्यते। अत एव तं देहमाश्रित्य यथाकामं यत्र कुत्रापि विचरन्तस्ते सुदीर्घकालं यावत् समष्टिकल्याणसम्पादने समर्थाः भवन्ति। अमुं देहविशेषं तदैव बौद्धयोगी सङ्कोचयति यदा समष्टिगतानां तृष्णानाम् अशेषक्षयं सम्पाद्य ताञ्च समष्टिं महानिर्वाणपथे महापरिनिर्वाणपथे वा सुदृढं संयोज्य सिद्धप्रयोजनो भवति।

इयं हि समष्टिकल्याणवासना यया करुणया सम्भवति सा हि साध्यकरुणारूपेण बुद्धजगति प्रथिता विद्यते, बुद्धदृष्टौ अस्या एव करुणाया चरमलक्ष्यत्वात्। इयमेव करुणा तत्र भवति भगवति बुद्धे प्रमाणमिति **धर्मकीर्तिः** प्रमाणवार्त्तिके स्पष्टयति—**'करुणावत्त्वात् भगवान् प्रमाणमिति'**।

अस्या एव **'दुःखाद् दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा'** इति रूपेण **मनोरथनन्दिः** स्वरूपं वर्णयति। इयं करुणा समष्टिगतदुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेण समुदेति। अतएव **धर्मकीर्तिः** प्रतिपादयति—

"दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैव दयोदयः" इति।

दुःखेषु सम्मुखं प्रस्तुतेषु सत्सु तेषामेव महापुरुषाणां हृदि करुणेयम् उत्पद्यते, ये नैरात्म्यदर्शनस्वभावाः सन्ति, आत्मदृष्टेरेव मोहं प्रति मूलकारणत्वात्, मोहस्य द्वेषं प्रति, द्वेषस्य च दुःखं प्रति कारणत्वस्य सुस्पष्टत्वाच्च। स्वभावतः नैरात्म्यदर्शने सुप्रतिष्ठिते कश्चन् माम् अपकरिष्यतीति भ्रमस्य अभावः स्वाभाविकः, तेन च द्वेषाभावः स्वतःसिद्धः, ततश्च अशेषदुःखोच्छेद अपरिहार्यः। एतेनेदम् स्पष्टम्—इयं साध्यभूता करुणा दोषाणां मूलकारणभूतायाः आत्मदृष्टेः अभावेन दुःखसन्तानस्पर्शमात्रेण च जायमाना न सत्त्वानुरोधिनी किन्तु करुणाविषयस्य दुःखात्मकस्य वस्तुनः धर्मभूता, अत एव न कदापि दोषाय भवति। यथा च **धर्मकीर्त्तिः**—

"दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी।

× × ×

वस्तुधर्मा दयोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी॥" इति।

एवंविधया करुणया उपेता हि महापुरुषाः, अकारणवत्सलाः उपकारसाधने एव सततं निरतचित्ताः नूनं कृपामयाः करुणामया वा। इमे हि महापुरुषाः वस्तुगत्या

अपराधीना अपि समष्टिकल्याणे एव प्रतिक्षणं निमग्नचित्ताः समष्ट्यधीनतायामेव परम-निर्वाणसुखम् अनुभवन्ति। तथा च धर्मकीर्त्तिः—

"तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महतीकृपा।
परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः॥" इति

एवम्भूताः कृपामया महामुनय एव सम्यक् सम्प्रबुद्धा इत्यप्युच्यन्ते। अस्याः करुणायाः साधनमपि करुणा एव। सा हि साधनभूता करुणा, श्रमणेषु प्रत्येकबुद्धेषु उपलभ्यमाना सत्त्वावलम्बना भवति, अर्थात् सत्त्वानां दुःखदुःखत्वं परिणामदुःखत्वं च अवलम्ब्यैव इयं करुणा एषूत्पद्यते।

अनेन उपरितनसंक्षेपेण अहमिदमेव स्पष्टयितुमिच्छामि यत् समष्टिकल्याणमेव बुद्ध-दर्शनस्य लक्ष्यम्। समष्टेश्च क्षेत्रं बुद्धदृष्ट्या अतीवव्यापकम्। तदीयं यद् दार्शनिकं तथ्यं तदनुरोधेन व्यष्टिरपि समष्टिरूपैव, किम्बहुना यावत्पर्यन्तं व्यष्टिः नात्मानं समष्टिं मनुते तावत् पर्यन्तम् अपूर्णैव सा। तस्याः पूर्णत्वम् स्वस्मिन् समष्टिभावनायाः प्रतिष्ठापनेनैव सम्भवति। अतएव बुद्धदृष्ट्या समष्टिमपेक्ष्य व्यष्टिव्यवहारः सांवृतिकसत्तामाश्रित्य स्यान्नाम, स्याच्च तस्याः व्यष्टिरूपेण संरक्षणं पोषणं च, परं पारमार्थिकसत्तादृष्ट्या समष्टेरेव सर्वस्वभूततया व्यष्टेः व्यष्टित्वरूपेण नास्ति किञ्चित् स्वीयम् अस्तित्वम्। इदमन्यद् यद् व्यष्टित्वेन व्यष्टेः प्रतीतौ सत्यामेव तदपेक्ष्य समष्टिरिति व्यवहारसम्भवेन समष्टित्वेन समष्टेरपि नास्ति परमार्थतः अस्तित्वम्, परं वस्तुगत्या स्वलक्षणात्मिका सा विद्यत एव। मन्ये भगवतो बुद्धस्य नैरात्म्यदर्शनमिदमेव स्पष्टयति।

बुद्धदर्शने सामाजिकव्यवस्था

एवं बुद्धदृष्ट्या व्यष्टि-समष्टिस्वरूपे तयोः परस्परं सापेक्षत्वरूपे पूरकत्वरूपे वा सम्बन्धे स्फुटे सति विकासस्तयोः कथमिति विविच्यमाने स्थितस्य सम्पुष्टस्य च विकासश्चिन्तनीयो भवतीति दिशा पूर्वं व्यष्टि-समष्ट्योः स्थितिसम्पुष्टी कथं संम्भवत इति चिन्तनीयम्। वस्तुतः एतदुभयं समुचितव्यवस्थायत्तम्। समुचितव्यवस्थाया निर्धारणं च न दर्शनस्य प्रमुखो विषयः। दर्शनं हि तादृशव्यवस्थायै अपेक्षितं मूलभूतम् सिद्धान्तं संकेतयन् व्यष्टिसंशोधने एव सुदृढं यत्नमातिष्ठति। यत्नेनानेन भावनात्मिकाया एकतायाः सुप्रतिष्ठापनपुरःसरं व्यष्टित्वेन व्यष्टौ क्षुद्रस्वार्थसाधनदृष्टेः सर्वात्मना विरहं सम्पाद्य दर्शनं कृतकृत्यं भवति। बुद्धदर्शनेन सङ्केतितः सिद्धान्तश्चायम् तृष्णायाः अशेषक्षयस्यैव। एतेन हि सैव समाजव्यवस्था उपादातुं योग्या यस्याः परमं फलं तृष्णाया अशेषक्षय एव स्यादिति सङ्केतो लभ्यते। तेन हि तृष्णया तृषितैः विधीयमाना कापि व्यवस्था पर्यवसाने दोषफला एव भवति, अतः सर्वदोषमूलायाः तृष्णायाः

परित्यागपुरःसरं समष्टिगताः सर्वा अपि व्यवस्थाः केवलं कर्त्तव्यबुद्धया विधेया इति निर्गलति ।

अहन्त्विदं मन्ये, येयं वर्णाश्रमव्यवस्था सामाजिकव्यवस्थारूपेण प्रसिद्धा, तया सार्द्धं नास्ति कोऽपि विरोधः भगवतो बुद्धस्य । यद्यपि सुन्दरिकभरद्वाजसूत्रस्य आश्वलायनसूत्रादिकस्य च अवलोकनेन व्यक्तमिदम्—भगवान् बुद्धः जातिदृष्ट्या कस्यचन गरीयस्त्वं कनीयस्त्वं वा न मनुते, किन्तु सदाचरणदृष्ट्यैव तत् मनुते; परं नैतावता वर्णाश्रमव्यवस्थां सः खण्डयति तिरस्करोति वा अपितु सद्ब्राह्मणान् प्रशंसत एव ।

वस्तुगत्या बुद्धः सदाचरणस्य वैशिष्ट्यं मन्वानः सदाचरणशीलमेव सर्वोच्चं मनुते । सदाचारस्योत्कर्षश्च व्यक्तित्वस्य समष्टौ सर्वात्मना लयेनैव निर्धार्यते । यदि हि वर्णाश्रमव्यवस्था कदाचित् निरंकुशरूपेण अमर्यादितरूपेण वा व्यष्टेः पदस्य वा महत्त्वख्यापने तयोः दुरुपयोगे वा पर्यवस्यति, तर्हि नूनं सा दोषाय स्यात्; परं नेदं कथमपि वर्णाश्रमव्यवस्थाया लक्ष्यम् । बुद्धः कामयते वर्णाश्रमव्यवस्थायास्तदेव रमणीयं स्पृहणीयं वा स्वरूपं यत्र व्यष्टिपदं वापेक्ष्य सदाचरणमेव सर्वोत्कर्षेण विराजेत । अतएव सः वर्णाश्रमव्यवस्थायाः विकल्परूपेण काञ्चन अन्याम् सामाजिकीं व्यवस्थां न निर्दिशति, प्रायशस्तु सः एवंविधेषु बहुविधेषु लौकिकेषु प्रश्नेषु मौनमेवावलम्बते ।

बहूनां तु सूक्ष्मेक्षिकया तत्त्वं परिशीलयताम् इदं मतम्—बौद्धजैनमतानुयायिनो विद्वांसः सामाजिकीं व्यवस्थां वर्णाश्रमानुरोधिनीमेवानुमन्यन्ते । अत एव शङ्कराचार्य-सोमदेवसूरिप्रभृतिभिः जयमङ्गलानीतिवाक्यामृतादिषु वर्णाश्रमव्यवस्था तथैव स्वीक्रियते यथा कामन्दकीयनीतिसार-कौटिलीयार्थशास्त्रादिषूपलभ्यते । आयुर्वेदीय-चिकित्सापद्धतिः विशेषतस्तदीयरसरसायनादिसिद्धिपद्धतिश्च बुद्धपरम्परायामपि यथावत् स्वीक्रियते, सा च वर्णाश्रमव्यवस्थामुपेक्ष्य नानुसर्तुं शक्यते नापि तया यथापेक्षमिष्टं फलं लब्धुं शक्यम् । अतः समाजं परिचालयितुं व्यवस्थापयितुं च वर्णाश्रमव्यवस्था स्वीयेन यथार्थस्वरूपेण नूनमभ्युपेया बौद्धजैनादिभि इति ।

समष्ट्ये सर्वात्मना समर्पणबुद्धया वर्णाश्रमव्यवस्थामाश्रित्य नूनं समाजस्तथा व्यवस्थापयितुं शक्यते यथा सर्वं समञ्जसं स्यादिति मम सुदृढो विश्वासः । यथाऽधुनापि व्यवहारे मर्यादापरिपालनाय अस्माभिः व्यक्तिः सम्मान्यते, व्यक्तिश्चात्मानं सर्वात्मना अस्मासु समर्पयति । अस्माभिः पदं सम्मान्यते, पदे विद्यमानश्च जनः तदनुरूपं त्यागं सन्तोषम् आर्जवादिकञ्च स्वायत्तीकृत्य आत्मन औदार्यं प्रकामं समाजानुगुणं विकासयति, अन्यथा परस्परं दोषमात्रदर्शने सर्वं विप्लुतं भवत्येव । तथैव सर्वत्रापि अपेक्ष्यते इति वयम् अनुभवाम एव ।

बुद्धस्य समष्टिसंशोधनपद्धतिः

बुद्धः परमकल्याणस्य बहून् उपायान् संकेतयन् स्वर्गं कामयमानान् गृहस्थान् प्रति शीलं शिक्षयितुं प्रथमतस्त्रिशरणगमनविधिं संकेतयति—**'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, सङ्घं शरणं गच्छामी'ति।** अत्र त्रिरत्ने प्रथमं रत्नं व्यष्टेः शरणं प्रति गमनमेव; तदेव सम्भवदुक्तिकमपि। इदमन्यद् यत् सैव व्यक्तिः शरणीकर्तुं शक्यते या स्वीयं व्यक्तित्वं समष्टौ विलापयति। अत एवात्र 'बुद्धं शरणं गच्छामी'त्युच्यते न तु व्यक्तिं शरणं गच्छामीति। अनन्तरं 'धर्मं शरणं गच्छामी'ति द्वितीयं रत्नम्। इदं हि 'सङ्घं शरणं गच्छामी'ति तृतीयरत्नस्य पूर्वं निर्दिष्टमस्ति। अत्र 'धर्म' इत्यनेन बुद्धत्वावाप्तौ उपयुक्ता एव धर्मा इष्टा इति नूनं मन्तव्यम्; तेनेदं सुस्पष्टम्, यद् व्यष्टि-समष्ट्योः मध्ये सुदृढं फलाधायकं सम्पर्कसूत्रं बुद्धकारकधर्म एव; तस्य शरणं गतः समष्टेः शरणं स्वभावतो गच्छत्येव। समष्टिं प्रति गमनं नाम तस्यामात्मनः समर्पणमेव, तदेव च बुद्धदृष्ट्या मुख्यं लक्ष्यम्।

अस्यैव त्रिरत्नस्य कल्याणार्थम् अपेक्षितस्य यथावत् सम्पत्तये पञ्चशीलमपि गृहस्थम् प्रत्युपदिश्यते। तच्च—१. प्राणातिपातविरतिः, २. अदत्तादानविरतिः, ३. कामनियमाचारविरतिः, ४. मृषावादविरतिः, ५. सुरामैरयप्रमादस्थानविरतिः इति।

एवमेव प्राचीनेषु पालिसाहित्येषु ब्रह्मविहारनाम्ना चतस्रो वृत्तयः मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षारूपाः प्रसिद्धाः सन्ति। नूनमासां वृत्तीनां व्यष्टि-समष्ट्योः मध्ये अपेक्षितस्य प्रशस्ततमस्य स्पृहणीयस्य सम्बन्धस्य स्थापने तयो सम्पुष्टौ विकासे चानितरसाधारणः उपयोगः विद्यते। येन व्यष्टिसंशोधनपुरःसरं समष्टिगतसुव्यवस्थाया एको विशिष्टः प्रकारः अनितरसाधारणः भगवता बुद्धेन स्वीकृतः प्रसङ्गान्तरेण स्पष्टो भवति। प्रसङ्गश्चायम् चारिकायाः वर्षावासस्य प्रवारणायाश्च विद्यते। भगवान् बुद्धः भिक्षुभिः सार्धं चारिकाम् अनुतिष्ठति स्म। तत्र भिक्षूणां सन्देहजातं निवारयन् सः तेभ्यो नियमान् अशिक्षयत्। गृहस्थान् प्रत्यपि प्रश्नप्रतिवचनपूर्वकं धर्मान् निरदिशत्। वर्षर्त्तौ केनचन उपासकेन वर्षावासार्थं निमन्त्रितास्ते भिक्षवः चारिकाम् इमाम् अवरोध्य एकत्र अवतिष्ठन्ते स्म। उपासका गृहस्थास्तत्र तेषां भिक्षादिकं व्यवस्थापयन्ति स्म, भिक्षवश्च तेभ्यो धर्मान् उपदिशन्ति स्म। एवं व्यष्टि-समष्ट्योः सम्बन्धान् द्रढयन् भगवान्बुद्धः तयोः विकासस्य प्रशस्तं मार्गं परिष्कारयामास।

वर्षर्तोः पर्यवसाने तत्र एकः समुत्सवः समायोज्यते स्म। तत्र समवेतान् समान् भिक्षून् उपासकांश्च एको भिक्षुः धर्मोपदेशेन अनुगृह्णाति स्म। तस्मिन् हि उपदेशदिने सर्वेऽपि उपोषिता एवाविद्यन्त। अनन्तरं सायम् एकं विशिष्टं सम्मेलनं समायोज्य तत्र परस्परं पापप्रकाशनम्, तस्य स्वीकरणम्, तादृशस्य पापस्य पुनः अननुष्ठानादि-

प्रतिज्ञाकरणं विधाय भिक्षवः स्वीयं व्यक्तित्वं शोधयन्ति स्म। सर्वान्ते च अत्यर्थं विशुद्धेभ्यस्तेभ्यो भिक्षुभ्यः उपासकैः गृहस्थैः आनीतानि जीवनोपयोगीनि वस्तूनि वितीर्यन्ते स्म। अयं प्रवारणायाः उत्सवः प्रति पञ्चमे वर्षे यया परिषदा समायोज्यते स्म, सा पञ्चवार्षिकी परिषदिति नाम्ना बुद्धजगति प्रसिद्धिमभजत्। इयं परिषत् कदाचित् 'खाश' नाम्ना विख्यातेन राज्ञापि समाकारिता आसीत्। तत्र च तेन राज्ञाऽपि स्वीयं सर्वस्वं समष्टये वितीर्य इदं निदर्शनम् उपस्थापितं यद् कीदृशो राजा प्रजानुरञ्जने समर्थो भवतीति। ह्वेनत्साङ्गः अपि कूचायां वामियाने चामुम् उत्सवम् अवालोकयत्। कदाचित् चीनदेशस्य महाराजोऽपि पञ्चवार्षिकीम् इमां परिषदं निमन्त्रयामास।

प्रसङ्गश्चायं स्पष्टयति—संग्रहः, परोक्षे निषिद्धाचरणं प्रत्यक्षे चात्मनः समक्त्व-प्रकाशनं च विघटनस्य भेदबुद्धेर्वा मूलं कारणम्। इदमेव सर्वं यदि नानुष्ठीयते कदाचिद् बलात् अनिच्छया अनुष्ठीयतापि परं काले काले यदि संग्रहः वितीर्यते निषिद्धाचरणं च प्रकाश्यते त्यज्यते चेद् व्यष्टि-समष्ट्योः प्रशस्ततरमसम्बन्धस्थापनपुरःसरं तयोः विकासः अपरिहार्यः।

यद्यपीदं सर्वमन्यत्रापि धार्मिकवाङ्मये समुपलभ्यते, परं समूहे स्वीयपापप्रकाशन-पुरःसरं व्यक्तित्वसंशोधनप्रकारः कार्यरूपेण परिणतः भगवतो बुद्धस्य चरित्रे समुपलभ्यमानः पाखण्डात् प्रमादाच्चास्मान् रक्षितुं बद्धपरिकरस्य भगवतो बुद्धस्यानितर-साधारणं वैशिष्ट्यम् अवद्योतयति। प्रकारममुम् अनुष्ठातुं यादृग् विशालं व्यक्तित्व-मपेक्ष्यते तस्य निर्माणाय भगवतो बुद्धस्यादर्शाः नूनमस्माभिः समादरणीया इति विशेषतः अवधानविषयः।

मम तु इदमेव प्रतीयते—भगवान् बुद्धः नूनं समष्टिमेव सर्वस्वं मनुते। तस्य कल्पनायां व्यक्तित्वं सङ्कोचशालि, परं तद् व्यापकं सत् करुणायै उपयुज्यत एव। तस्य व्यापकत्वं हि समष्टौ व्यक्तित्वस्य विलयेनैव सम्भाव्यते। एतेन हि समष्टिभावना एवान्तिमं लक्ष्यं बुद्धदर्शनस्य इति स्पष्टं भवति। अन्यत्र हि अस्माकं वाङ्मये वेदान्ता-दिषु समुपलभ्यमानानां तत्त्वचिन्तकानां कल्पनायां व्यक्तित्वमेव स्वभावतः अतीव व्यापकम् आकस्मिककारणवशेनैव तत् सङ्कुचति। तस्य हि आकस्मिककारणस्य निरासपुरःसरं व्यक्तित्वं स्वाभाविके स्वीये रूपे प्रतिष्ठाप्यते चेत् पृथक् समष्टेः अस्तित्वम् अलीकमेव भवति। तेन हि व्यक्ति एव सर्वस्वमिति स्पष्टं जायते।

उभयविधायां दृष्टौ मूलभूतं तथ्यमेकम्। विश्वशान्त्यै सङ्कोचभाव अन्तरायः, व्यापकता विशालता वा अनिवार्यं तत्त्वम् इति। व्यष्टिः समष्टिर्वा भवतु प्रधानं, तस्या सङ्कोचो मास्तु। तस्याः विशालतमत्वं सम्पादयितुं यत्नाः अनुष्ठेयाः। तेन हि नूनं यथापेक्षं सुखं शान्तिश्चासाद्य समग्रं जगत् स्वस्थं भविष्यतीति यथामति निवेद्य विरमामि।

● ● ●

समकालीनभारते व्यष्टि-समष्टिसम्बन्धानां दिशा

प्रो० कैलासनाथ शर्मा

यद्यपि व्यक्तेः समाजस्य च सम्बन्धेषु दर्शनेतिहाससमाजशास्त्रदृष्ट्या विचारः कर्तुं शक्यते तथापि केवलं व्यावहारिकं पक्षमवलम्ब्य स्वविचारान् प्रस्तौमि विश्वसिमि च एतद् गोष्ठीभाजोऽन्ये विद्वांसः **दर्शनसमाजशास्त्रपक्षयोः** विश्लेषणमूल्याङ्कने प्रस्तुतीकरिष्यन्ति ।

आपञ्चमदशकाद् भारते आर्थिकविकासाय पञ्चवर्षीयाः योजनाः समारब्धाः सन्ति । आसां योजनानां मूलभूतं धारणाद्वयं विद्यते । आद्या धारणा इयमस्ति—यावता अनुपातेन देशस्य अर्थव्यवस्थायां आर्थिको विनियोगः वर्द्धिष्यते, प्रायः तावता अनुपातेनैव आर्थिको विकासः सम्पत्स्यते । अपरा धारणा इयमस्ति—आर्थिकविनियोगविकासयोः माध्यमाः सामाजिकसंस्थाः सङ्गठनानि च भविष्यन्ति । यदि संस्थानां सङ्गठनानां च प्रवर्तमानरूपाणि सन्तोषप्रदानि न सन्ति, तदा तानि देशान्तरात् उपलब्धुं शक्यन्ते । पाश्चात्यदेशाः आर्थिकदृष्ट्या सफलाः समर्थाश्च मन्यन्ते । अतः तेषाम् आर्थिकसफलतायाः रहस्यम्—तत्संस्था-संगठनानाञ्च विशिष्टरूपान्येव सन्ति इति स्वीक्रियते । अतः प्रायः विकासशीलदेशेषु ईदृक्षानां संस्थासङ्गठनानामायातं द्रुतगत्या अभवत् । यदा इमानि संस्थासङ्गठनानि लक्ष्यपूर्तौ असफलानि भवितुं प्रवर्तन्ते तदा इदं कथ्यते यत् पूँजीवादिसंस्थासङ्गठनापेक्षया साम्यवादिरूसचीनादिदेशस्थसंस्थासङ्गठनानाम् आयातं स्यात् । प्रायः इदमपि कथ्यते यद् एशियामहाद्वीपान्तर्गतजापानदेशः आर्थिकदृष्ट्या फले ग्रहिः देशः अस्ति, अतः जापानीयसंस्थासंगठनानाम् आयातम् उपयोगि भविष्यति । यदि कदापि भारतदेशस्य आर्थिकविकाससम्बन्धिनां संस्थासङ्गठनानाम् इतिहासो लेखिष्यते तदा एतत्प्रतिक्रियामूलाधाराणां संस्थासङ्गठनानां स्वरूपं तद्विकासश्च चित्रीकरिष्यते ।

संस्थानां सङ्गठनानां च अनेके प्रयोगाः अभूवन्, परन्तु आर्थिकविकासस्य गतिः ऊर्ध्वगामिनीं स्थिरतां प्राप्तुं नाशकत् । आर्थिकविकासस्य प्रयत्नैः सह आर्थिकेषु राजनीतिकेषु च क्षेत्रेषु भ्रष्टाचारः उत्तरोत्तरं वर्धिष्णुः दृश्यते । शासकीयसङ्गठनेषु अनुशासनहीनता वृद्धिंगता, स्वकर्तव्यानि प्रति च आस्था हीयमाना वर्तते । कस्मिंश्चिदपि कार्यालये सामान्यतः यथासमयं कार्यं न भवति, प्रायः कार्याणि सम्पादयितुं उत्कोचस्य आश्रयः, अथवा तादृशानां सामाजिकसम्बन्धानामाश्रयः स्वीक्रियते, ये

कर्मचारिणां स्वार्थपूर्त्यै निर्मीयन्ते। सार्वजनीनक्षेत्रे सर्वेषु औद्योगिकसङ्गठनेषु अयं रोगः पूर्णतः व्याप्तो दरीदृश्यते। समाजवादोद्घोषेण अधिकाधिकं सङ्गठनानि सार्वजनीनक्षेत्रे आनीयन्ते, परन्तु तानि सर्वाणि सार्वजनीनहितपूर्त्यपेक्षया वैयक्तिकहितपूर्तौ साधन-विशेषतया उपयुज्यन्ते।

आभिः समस्याभिः सहैव अस्माभिः राजनीतिकभ्रष्टाचारात् (दलबदलसे) संस्थासदस्यतापरिवर्तनाच्च उत्पन्नायां राजनीतिकास्थिरतायाम् उद्देश्यहोनतायां च विचारः कर्तव्यः। यतोहि राजनीतिकास्थिरता समष्टेः हितभावनायाः अभावश्च शासकीयसङ्गठनानाम् अराजकतां भ्रष्टाचारं च वर्धयति अवरुणद्धि च आर्थिकविकासम्। लोकसभासदस्यानां निर्वाचनम् इदानीमेव सम्पन्नं वर्तते। इदं सर्वमान्यं तथ्यम्, यद् इमानि निर्वाचनानि भ्रष्टाचारमूलानि। निर्वाचने कलहायमानाः प्रत्याशिनः संस्थाश्च निर्वाचनाडम्बरे व्ययार्थं धनानि कुतः प्राप्नुवन्ति? केचन केन हेतुना धनानि एभ्यो ददति। एवं विधानां प्रश्नानामुत्तराणि नाज्ञातानि बुद्धिमताम्। ये धनपतयः निर्वाचने प्रत्याशिभ्यो धनं प्रयच्छन्ति, तेऽवश्यं सांसदेभ्यो वैयक्तिकं लाभं कांक्षन्ते।

अपरञ्च—१९६७ (सप्तषष्ट्युत्तरैकोनविंशतितमात्) ख्रीष्टवत्सरात् शनैः शनैः भारतीया राजनीतिः सिद्धान्तविहीना विद्यमाना विलोक्यते। इदानीमधि एषा दुःखस्था अस्ति यत् प्रत्येकं राजनयिकः यत्र स्वार्थपूर्तिं विलोकयति तत्रैव त्यक्तलज्जः पतति। सर्वाः राजनीतिकसंस्थाः समाजवादजनतन्त्रधर्मनिरपेक्षतादिसिद्धान्तान् उद्घोषयन्ति, परन्तु तेषां वास्तविकी निष्ठा अवसरवादसिद्धान्ते वरीवर्ति। उपर्युक्तोद्घोषाः सभ्य-विगर्हितावसरवादस्य आवरणरूपेण प्रयुज्यन्ते। एतस्मादपि अधिकतरं किं हास्या-स्पदं भविष्यति यत् उत्तरप्रदेशस्य लोकदलशासनेन आदशमकक्षाशिक्षणं संस्कृताध्या-पनस्थाने उर्दूभाषाध्यापनाज्ञा उद्घोषिता। यतोहि मुस्लिमसम्प्रदायस्य मतानि निर्वाचनसाफल्याय अपेक्ष्यन्ते। परं लोकदलस्य कार्यवाहकप्रधानमन्त्रिणश्चरणसिंहस्य विचारेण एतादृशी आज्ञा अनुचिता वर्तते। अत्रेदं वक्तव्यम्—यदि स चरणः वास्तव्येन इमं नियमम् अनुचितं मनुते, तदा उत्तरप्रदेशमुख्यमन्त्रिणा वनारसीदासेन लोकदलनिर्णयं विना, विना च विधानसभासहमतिं कथंकारम् एतन्निर्णीतम्। एतादृशस्य आचारहीनस्य सर्वकारस्य मुख्यमन्त्रिणः राजनीतिकदलस्य च नास्ति अधिकारः शासने।

इमे सामाजिका व्याधयः आर्थिकेषु राजनीतिकेषु क्षेत्रेष्वेव न सन्ति बद्ध-सीमानः। शिक्षणसंस्थासु अपि इमे रोगाः प्रदूषयाम्बभूवुः। छात्रेषु अनुशासनहीनता, अध्यापने प्रत्यहं बाधाः, परीक्षासु च बद्धसमूहं प्रतिलिपिपरम्परा, यथासमयं परीक्षा-

कार्याभावः, परीक्षकेषु च अङ्कवर्धनार्थम् अनुचिताधिकारप्रयोगः, परीक्षकानाञ्च तथैव आचरणम्, **इमे दृष्टान्ताः** (इमानि लक्षणानि) सामाजिकसंरचनायां द्रुततरगत्या प्रसरणशीलस्य कैंसररोगस्य। भविष्यतिकाले यदा इमे छात्राः सर्वेषु सङ्गठनेषु नियोक्ष्यन्ते तदा सर्वेषां सङ्गठनानां दुर्दशा अनुमातुं शक्यते।

भारतीयसमाजस्य एषा दुःखस्था अनेकेषु दार्शनिकेषु सैद्धान्तिकेषु च प्रश्नेषु विचारार्थम् अस्मान् नियुंक्ते। अस्मद् दृष्ट्या एतेषां सर्वेषां प्रश्नानां मूलभूतोऽन्यतमः प्रश्नः—'व्यष्टेः समष्टेश्च सम्बन्धानां निर्णयः' अस्ति, ततः पश्चात् तादृशानां साधनानां निर्वाचनं तदुपयोगश्च यदाधारेण वाञ्छितसम्बन्धाः स्थापितुं शक्यन्ते।

व्यष्टि समष्टिमन्तरा निरन्तरं शाश्वतं द्वन्द्वं विद्यमानमस्ति। व्यष्टेरुपरि यदि समष्टेः प्रभावो नाभविष्यत्तर्हितत्स्वार्थसिद्धो पूर्णस्वतन्त्रता अभिलिष्यत्, अपि नात्रेयं स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता रूपं गृह्णीयात्। समष्टेः रक्षायै इदं आवश्यकम्, यत् **व्यक्तिः** पार्थक्येन स्वार्थसिद्धौ तत्रश्च्छन्नमतिः न स्यात्। तदैव समाजस्य सर्वाङ्गीणविकासाग्निर्ज्वलितुं शक्यते यदा सर्वाणि काष्ठखण्डानि सहैव ज्वलिष्यन्ति।—

व्यक्तिः समष्टिमनसा यदि कर्म कुर्याद् विष्वग्विसृत्वरविकासगुणः समाजः।
एकेन पावककणेन कियानिहार्थः सम्भूय काष्ठनिचयैरनलः समिन्धे॥

भ्रष्टाचारः, अनुशासनहीनता, स्ववृत्तिं प्रति निष्ठायाः अभावः, राजनीतिकं दलबदलनं (दलस्य अवदलनं), अपराधश्च, इमानि प्रमाणानि यत् व्यक्तिः स्वार्थसाधने सम्पृक्तः सन् समष्टिगतहितेषु विचारलेशशून्यः प्रमत्तः सञ्जातः। अस्यां स्थितौ समष्टिजीवनं सङ्कटापन्नं वर्तते।

अस्याः स्थितेर्व्याख्या हेतुसन्दोहैः कर्तुं शक्यते। भारतीय सामाजिकव्यवस्थायां परम्परया व्यक्तिः लघुसमष्ट्या आवद्धः आसीत्–उदाहरणतः—कुटुम्बः, परिवारः, जातिः, ग्रामश्च इमे समूहाः लघुसमष्टिरूपाः व्यष्टेराचरणं निर्मान्ति स्म, अलङ्कुर्वन्ति स्म। सत्यावश्यके नियच्छन्ति स्म। एतत्समष्टिभिः, धर्मेण च निर्दिष्टं व्यक्तेः समाजीकरणं व्यक्तेराचरणे आन्तरिकनियन्त्रणं उत्पादयति स्म। अत एव बाह्यनियन्त्रणस्य आवश्यकता स्तोकैव आसीत्।

अस्यां स्थितौ शनैःशनैः परिवर्तनं जातम्। स्वतन्त्रतालाभेन अस्याः स्थितेः क्रान्तिकारि परिवर्तनं कृतम्। १८७२ खीष्टाब्दात् **ईष्टइण्डियाकम्पनी**संस्थायाः नीत्या सम्पत्तिसम्बन्धे परिवारात् जातेः ग्रामाच्च व्यक्तिः एककः स्वीचक्रे। अस्मिन्नेव काले विशेषविवाह-अधिनियमेन विवाहविषयेऽपि व्यक्तिः परिवाराज्जातेश्च स्वतन्त्रः अकारि।

भारतस्य स्वतन्त्रतायाः अनन्तरं नूतनं संविधानं निरमायि व्यक्तिश्चास्य आधारशिलात्वेन स्वीकृता। नूतनेन सम्विधानेन समग्रं भारतराष्ट्रम् एकसमष्टिरूपेण स्वीचक्रे, तथा च जातिवर्गप्रभृतिसमष्टीनां निषेधः कृतः। परन्तु अनुसूचितजातीनां जनजातीनां च समष्ट्यः वैधानिका अमान्यन्त।

किन्तु सम्विधानस्य इमं नियमं पालयितुमसामाजिकस्तरेण न कोऽपि प्रयासः कृतः। सम्विधानेन भारतराष्ट्रस्य एकसमष्टिरूपेण स्वीकरणे, व्यक्तिशश्च एकमात्रसमष्ट्या स्वीकरणे महदन्तरम् विद्यते। एतदन्तरं दूरीकर्तुं व्यक्तिचेतनायां परिवर्तनमावश्यकम् आसीत्। एतदावश्यकपरिवर्तनस्य उद्भावने न कोऽपि प्रयत्नः कृतः। नैतिकतायामाधृतानि आचरणानि समष्टिहितार्थम्, व्यक्तिं स्वार्थत्यागार्थं प्रेरयन्ति उद्योजयन्ति च। परोक्षं च समष्ट्या बध्नन्ति। नैतिकताया आधारशिलायाम् आचरणं प्रतिष्ठापयितुं न केऽपि प्रयत्नाः अक्रियन्त। पाश्चात्यदर्शने व्यक्तेः पूर्णस्वतन्त्रताधारणया एतत्प्रयत्नाभावस्य सम्बलं प्रदाय परमोत्कर्षः प्रदत्तः। दर्शनस्यास्य चरमोत्कर्षः अमरीकादेशस्य न्यायमूर्ति **होम्समहोदयस्य** अनेन वक्तव्येन स्पष्टीभवति—'यदा लोकाः किमपि कार्यं चिकीर्षन्ति, तत्कार्यनिषेधश्च स्पष्टं मया सम्विधाने नोपलक्ष्यते, तदा मया कथ्यते—इदं कार्यम् अस्मभ्यं रोचेत न वा रोचेत तैः क्रियताम्, नास्ति तेन किमपि मत्प्रयोजनम्' When the People want to do Something I can't find any thing in the constitution expressly forbidding them to do, I Say whatever I like it or not Godomnit, let'em do it।

एतत् सुनिश्चितं यत् कस्मिंश्चिदपि सम्विधाने समष्टिदृष्ट्या अनुचितानां समस्तानाम् आचरणानां निषेधं समावेशितुं न शक्यते। यदि सम्विधानाद् अतिरिक्तानाम् आचरणानाम् उपरि प्रकारान्तरेण अङ्कुशो न भवेत् तर्हि व्यक्तिगतस्वतन्त्रता अविलम्बं स्वच्छन्दतायां परावर्तेत।

वर्तमानकाले पाश्चात्यदेशेषु स्वीकृता व्यक्तेः पूर्णस्वतन्त्रता तत्तद्देशस्य आर्थिकविकासस्य प्रारम्भदशायां नासीत्। षोडशतमे ख्रीष्टसम्वत्सरे **प्रोटेस्टेन्टधर्मेण यूरोपीय**व्यक्तेराचरणानि नियन्त्रितानि, इदानीमपि तन्नियन्त्रितो जनः स्ववृत्यां व्यवसाये वा निष्ठापूर्वकं कार्यं करोति। आर्थिकराजनीतिके शिक्षणे संगठने च तुलनात्मकदृष्ट्या पर्याप्तं अनुशासनम् अस्ति। क्षेत्रान्तरेषु व्यक्तेः स्वतन्त्रता-कामना देशस्य आर्थिकविकासाद् उत्पन्नसमृद्धेः उपभोग-लिप्सा एव प्रतीयते। भारते एतादृश्याः स्वतन्त्रतायाः अनुकरणं विशेषतया व्यवसाये वृत्तौ च अनुशासनहीनतायाः निष्ठा-

हीनतायाः पृष्ठभूमिरूपेण घातकम्, जनसंख्याबाहुल्याद् आर्थिकसाधनानां सीमितत्वाद् घातकतरञ्च ।

प्रश्नोऽयं जागर्ति इदानीम्—यदि समष्टिरक्षार्थं सामान्यतः विशेषतश्च आर्थिकविकासार्थं व्यक्तेरनुशासनम् आवश्यकम्, तर्हि कानि अस्य साधनानि ? ऐतिहासिकदृष्ट्या इदं कार्यम् भारते योरोपदेशेषु च **धर्मेण** कृतम् । जापानदेशे च **मेइजीरेस्टोरेशनशासनात्** पश्चात् १८६८ खीष्टवत्सरात् परिवारेण शिक्षणसंस्थाभिश्च कृतम् । **रूसचीन**देशयोः इदमनुशासनकार्यम् "राजनीतिकशिक्षया कृतम्" इति **लेनिनः** शब्दायते । एतत्प्रतीयते यत् भारतराष्ट्रे इदं कार्यम् राजनीतिकशिक्षा कर्तुं न पार्यते, यतो हि सम्पूर्णाराजनीतिकव्यवस्था विषाक्ता विद्यते । सङ्गठितैः प्रयत्नैः परिवारेण शिक्षणसंस्थाभिश्च इदम् अनुशासनकार्यं क्रियेत चेत् सफलता लप्स्यते । सति सम्भवे धर्मोऽपि आश्रयणीयः ।

• • •

INDIVIDUAL & SOCIETY : THE BUDDHIST VIEWPOINT

PROFESSOR B. V. KISHAN

Buddhism recognises the concreteness of the world and the life of man. The words of the Buddha reflect the multi-dimensional aspects of human life within the perspective of the moral values, ideals and concepts which aim to coalesce the distortions and conflicts faced by men in history. Buddhism has stressed on the deeper bonds which link mankind together. Both on the *individual* and *social* levels the non-recognition of the unity underlying all manisfestations in nature throw the social sanity into jeopardy. Buddhist philosophy, in so far as it is near to the teaching of the Buddha inspires the individual to rise to great heights of altruism, and thus adopt a constructive role in shaping his life and society in accordance with the precepts laid down by the *Buddha.*

Man emerges as a vital entity in Buddhism. The shape and tone of his life has to be constructed and defined by the individual himself. It is true that according to the Buddhist theory the influence of past actions is strong in the makeup of man, but this does not mean that there is no scope to have redemption from the morass of suffering, evil and stagnation faced by man. The right actions can undo that which is the source of suffering and evil maintains the *Buddha.* The individual emerges supreme in the face of the heavy odds against him, due to the reason that the constituents which comprise him possess all the potentiality required to push him towards the higher success morally and also worldly. It is true that the Buddhist theory has given a most positive connotation of the moral values and has elaborately dealt with the nature and content of moral action.

But this should not be taken as indicative of any lack of positive approach towards the world and the human responsibilities which they bring forth. Moral values and ideals do not presuppose a vacuum to function without the presence of the numerous elements which formulate the totality of human life and activities. Moral theory can be exercised only in the presence of the humanity which surround man. There is no question of living the moral values if such living does not possess a

comparative significance in the face of the activities of persons which fall short of the ideals of human life which have been held as all important by the Buddha himself and also the Buddhist thinkers, down through the ages. It remains that Buddhist philosophers have developed the various aspects of the teaching of the Buddha, often losing sight of the totality and coherence of human life and its predicaments, only to give a very limited and often negative perspective of the being of man in relation to his own kind, the society and history.

Dharma Chakra Pravartana Sūtra, lays down the basic aspects of the teaching of the Buddha. This early sermon deals with the basic facts of life faced by all men in a most direct way. The predominance of suffering in human life is recognised by the Buddha and a way is outlined to come out of the grip of gloom and vicissitudes of life. The nature of *Dharma* is outlined by the *Buddha* and the path of righteousness is defined to those who aim at conquering the suffering. The Buddha has laid down the elements of a robust and practical ethics. It is very important to recognise the *pragmatic ethics* of Buddhism. Such ethical precepts are not meant only for the monks, but also for the people coming from all walks of life. The argument that the Buddhist philosophy is primarily other-worldly and meant for mendicants does not hold ground due to the reason that Buddhism had never been a religion, meant for persons who wanted to detach themselves from the criss-cross relations which bind individuals in manifold relations. This is exemplified by the standpoint of the Buddha that nothing can be gained by aligning with beliefs life eternalism and self-mortification. Acceptance of eternalism makes one unaware of the relevance of the surrounding world and confounds the role which the individual is duty-bound to play within it. *Self-mortification* and stress on *asceticism* is avoided, for that would hinder the growth of human personality in a meaningful way within the life situations.

The acceptance of the idea of *impermanence* does not mean that the Buddha did not establish the value and significance of the personality of man. The world may be in constant change, but the individual by treading the path of wisdom and morality can rise above the phenomenal world and be a beacon of truth, for others to follow. The transitoriness of the constituents of the personality of man ..the *Rūpa*, *Vedanā*, *Samjñana*, *Samskāra* and *Vijñāna* are rccognised. yet the .awakened individual rises above the transitoriness and remains the unchanging symbol of the *noble*

values. Actions produce the appropriate results and the law of causation should be believed, not for any metaphysical purposes but to recognise that good actions which can uplift the individual above the narrow confines of ego and self, can place the individual on a lofty Pedestal which is above the desires of the mediocre individuals. To reach the acme of the essence and spirit of the noble values may itself be regarded as a rebirth of man, which implies the death of ignoble desires and the fostering of noble values, which is like a new birth of man in the world.

The Dhamma indicate the set of all comprehending values which are expected to lead man from one level of achievement to other levels of achievement and progress. *Dhamma* in Buddhism does not mean only higher moral values but it does possess also social meaning and significance. Dhamma comprehends the entire gamut of life and also its unpredictable novel situations. The practice of Dhamma on the individual level is a clear proposition, but what is not always clear is the cumulative force created by the adoption of the principles of *Dhamma* by the individuals on the social level. Society contains the individuals as its brick and mortar and the beliefs of the individuals will determine the texture of society. The quality of the *individuals* determines the quality of the *society*. In this context that the moral values stressed by Buddhism have to be taken note of. The universalistic aspect of the noble values stressed by the *Buddha* have gained a new significance in the world of today, for it is possible that such values can only cement the fragmented humanity.

व्यष्टि एवं समष्टि सम्बन्धी परिसंवाद-गोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के आर्थिक सहयोग से सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के श्रमणविद्यासंकायान्तर्गत बौद्धदर्शन विभाग द्वारा दिनांक १० जनवरी, १९८० से १३ जनवरी १९८० तक बौद्ध दृष्टि से **'व्यक्ति, समाज, उनका सम्बन्ध और विकास'** विषय पर एक चतुर्दिवसीय अखिल भारतीय परिसंवाद-गोष्ठी का आयोजन किया गया। गोष्ठी में **दिल्ली, लेह-लद्दाख, जयपुर, लखनऊ, कानपुर, चण्डीगढ़, राँची सोलन (हि० प्र०), नागपुर, शान्तिनिकेतन, पचमढ़ी, पूना, कुरुक्षेत्र, शिलांग (मेघालय), सागर, पटियाला, धारवाड़, वाल्टेयर, दरभंगा** आदि दूर-दूर स्थानों से डॉ० एन० के० देवराज, डॉ० धर्मेन्द्र गोयल, डॉ० शान्तिभिक्षु शास्त्री, डॉ० ए० के० सरन, डॉ० के० एन० शर्मा, डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती, डॉ० नारायण शास्त्री द्रविड, डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य, डॉ० हर्षनारायण, डॉ० प्रतापचन्द्र, डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय, डॉ० लालमणि जोशी, डॉ० महेश तिवारी, डॉ० सुनीति कुमार पाठक, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० केवलकृष्ण मित्तल, डॉ० सिद्धेश्वर भट्ट, पं० आनन्द झा आदि दर्शन एवं समाज शास्त्र विषय के भारत प्रसिद्ध लगभग ३५ विद्वान् अपने-अपने निबन्धों के साथ उपस्थित हुए। लगभग ५० की संख्या में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गांधी संस्थान, अमेरिकन लाइब्रेरी, केन्द्रीय तिब्बती शिक्षा संस्थान आदि शिक्षा संस्थाओं के सम्बद्ध विषय के स्थानीय विद्वान् प्रतिदिन प्रतिगोष्ठी में सोत्साह सम्मिलित हुए। इन विद्वानों के निबन्ध और परस्पर के उच्चस्तरीय विचार-विमर्श द्वारा न केवल उत्तम कोटि के विचार सामने आये, अपितु भारतीय दर्शन विशेषतः बौद्ध दर्शन की दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज से सम्बद्ध वर्तमान समस्याओं के समाधान की सम्भावनाओं के कतिपय निश्चित संकेत दृष्टिगोचर हुए।

ज्ञात है कि पश्चिम के दार्शनिकों, समाज वैज्ञानिकों एवं राजनीतिशास्त्रियों ने व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्ध को प्रमुख विषय बनाकर प्रभूत चिन्तन किया है। चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय मनीषियों का भी अग्रणी स्थान रहा है। यद्यपि इनके चिन्तन का प्रमुख क्षेत्र आध्यात्मिक रहा है, फिर भी उन्होंने समसामयिक युग में व्यक्ति, समाज और राज्य को अपने विशिष्ट जीवन दर्शन द्वारा प्रभावित किया है।

भारतीय दर्शनों में विशेष कर बौद्ध दर्शन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही न केवल भारत के अपितु विश्व के अधिकांश जनजीवन को प्रभावित किया है। ऐसे महत्त्वपूर्ण दर्शन के आलोक में व्यक्ति समाज एवं उनसे सम्बद्ध प्रश्नों पर विद्वानों का बैठकर आपस में विचार-विमर्श करना प्रासंगिक, उचित एवं उपयोगी रहा।

दिनांक १० जनवरी ८० को प्रातः ९ बजे काशी विद्यापीठ के कुलपति तथा प्रसिद्ध दार्शनिक एवं समाजशास्त्री **प्रो० राजाराम शास्त्री** ने परिसंवाद-गोष्ठी का उद्घाटन किया। सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के कुलपति विद्वन्मूर्धन्य **प्रो० बदरीनाथ शुक्ल** ने उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता की। बौद्धदर्शन विभागाध्यक्ष **श्री रामशंकर त्रिपाठी** ने समागत विद्वानों का स्वागत किया तथा पालि विभागाध्यक्ष **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने व्यक्ति एवं समाज से सम्बद्ध वर्तमान समस्याओं का उल्लेख करते हुए विषय प्रवर्तन किया।

बौद्ध दर्शन का प्रसार एवं परिचय विद्वानों में भी प्रायः विरल हो गया है। बौद्ध दर्शनों में व्यक्ति एवं समाज का तात्त्विक विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु बौद्धों की सामाजिक जीवन दृष्टि और उसका व्यक्तिजीवन के साथ सम्बन्ध का व्यावहारिक पक्ष संघ और विनय के नियमों में परिलक्षित होता है। फलतः दर्शन और विनय की दृष्टि से तीन आधारभूत निबन्ध परिसंवाद-गोष्ठी की आरम्भ तिथि से लगभग एक माह पूर्व ही विद्वानों की सेवा में प्रेषित कर दिये गये, जिससे विचार-विमर्श के द्वारा कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये जा सकें। बौद्ध दर्शन की दृष्टि से दो तथा विनय की दृष्टि से एक निबन्ध था। **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने 'बौद्ध दृष्टि में व्यक्ति, लोक तथा सम्बन्ध' **श्री रामशंकर त्रिपाठी** ने 'बौद्ध दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज' तथा तिब्बती शिक्षा संस्थान के प्रधानाचार्य **प्रो० एस० रिम्पोछे** तथा वहीं के उपाचार्य **श्री सेम्पा दोर्जे** ने 'बौद्ध विनय की दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज' विषय पर सम्मिलित निबन्ध प्रस्तुत किया। सेमिनार के द्वितीय अधिवेशन में भी ये निबन्ध प्रस्तुत किये गये जिन पर पर्याप्त चर्चा हुई।

विभिन्न बौद्ध दर्शनों, अन्य भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों को आधार बनाकर व्यक्ति, समाज और उनके सम्बन्धों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लगभग ३० निबन्धों में दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष **डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय** ने कहा कि बौद्ध शून्यवाद और वेदान्त का ब्रह्मवाद दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति और समाज सम्बन्धी वर्तमान समस्या के समाधान में असमर्थ हैं। यदि किसी तरह दोनों दर्शनों को मिलाया जा सके तो वे विश्व को इस सम्बन्ध

में नया आलोक दे सकते हैं। शान्ति निकेतन के **डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय** ने प्रतिपादित किया कि व्यक्ति और समष्टि को लेकर आधुनिक समाजशास्त्रियों ने जो विश्लेषण किया है, उससे बौद्धदर्शन का विश्लेषण कहीं अधिक मूलग्राही एवं सोद्देश्य है। दिल्ली विश्वविद्यालय के **डॉ० सिद्धेश्वर भट्ट** ने कहा कि बौद्धों की दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों की तात्त्विक स्थिति समान है। अर्थात् दोनों व्यावहारिक संरचनाएँ हैं, फिर भी व्यक्ति प्राथमिक स्तर की तथा समाज गौण स्तर की रचना है। वहीं के **डॉ० महेश तिवारी** ने कहा कि बुद्ध की अवस्था यद्यपि व्यक्ति के स्तर की है, फिर भी उनका व्यक्तित्व समाज के साथ समरस हो गया है। इस अवस्था में व्यक्ति और समाज सम्बन्धी सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। वहीं के **डॉ० केवलकृष्ण मित्तल** के अनुसार व्यष्टि और समाज में बौद्ध दृष्टि से कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के **डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य** ने कहा कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के प्रति सदा सतर्क रहे हैं। उनका लक्ष्य केवल निर्वाण नहीं, अपितु जनहित एवं विश्वकल्याण रहा है। सागर विश्वविद्यालय के **डॉ० प्रतापचन्द्र** का कहना था कि भारतीय विद्या के अध्येताओं का एक बड़ा वर्ग पालि-त्रिपिटक में संगृहीत समाज दर्शन परक विचारों की अनदेखी करता आया है। वैज्ञानिक इतिहास लेखक यह माँग करता है कि विविधता को एक काल्पनिक समरूपता के आवरण में छिपाने की जगह उसको सम्मानपूर्वक उचित स्थान दिया जाय। प्रारम्भिक बौद्धों ने इस समस्या पर गहराई से विचार किया है। केन्द्रीय-तिब्बती-संस्थान के प्राचार्य **प्रो० एस० रिम्पोछे** और वहीं के आचार्य **गेशे थवख्यस्** ने कहा कि आत्मा का निषेध कर बौद्धों ने व्यक्तिवाद की बुराइयों से लोक की रक्षा की तथा करुणा के द्वारा व्यक्ति का उपयोग समाज के हित में किया। इस तरह व्यक्ति और समाज में एक सामञ्जस्य उपस्थित किया। चण्डीगढ़ के **डॉ० धर्मेन्द्र गोयल** ने व्यक्ति और समाज सम्बन्धी समस्या के समाधान में बौद्धों की प्रज्ञा और करुणा के अपूर्व योगदान की चर्चा की। नागपुर के **डॉ० नारायणशास्त्री द्रविड़** ने बौद्ध दर्शन और रसेल के चिन्तन में व्यष्टि और समष्टि का स्वरूप निरूपित किया। शिलांग (मेघालय) के **डॉ० हर्षनारायण** का विचार था कि बौद्ध धर्म और दर्शन व्यक्ति की सीमा से ऊपर नहीं उठ सकता है, किन्तु उसमें समष्टिवादी परिणति की सम्भावनायें निहित हैं। मुंगेर के **प्रो० हरिशंकर सिंह** ने बताया कि माध्यमिक दर्शन में वे सूत्र हैं जो हमारी आज की समस्याओं को सुलझाने में आलोक प्रदान कर सकते हैं।

पूना के **प्रो० ए० के० सरन** काशी विद्यापीठ के **प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रो० मुकुट विहारी लाल, प्रो० कृष्णनाथ, प्रो० रमेशचन्द्र तिवारी**, कानपुर के **श्री के० एन**

शर्मा आदि समाजशास्त्र के भारत प्रसिद्ध मनीषियों ने समाजशास्त्र की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का विश्लेषण करते हुए कहा कि विश्व में व्यक्तिवादी, समाजवादी एवं समन्वयवादी तीन प्रकार की बिचारधाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम दो दृष्टियाँ एकान्तवादी हैं। बौद्धदर्शन तीसरी विचारधारा के ज्यादा नजदीक है, किन्तु अध्यात्मवादी होने के कारण बौद्ध दृष्टि इनसे ऊपर है। इस धारा में ऐसे तत्त्व अवश्य हैं, जो मानवीय और सामाजिक समस्याओं के समाधान के नये सूत्र प्रदान कर सकते हैं। आवश्यकता है आधुनिक समाजशास्त्रियों के साथ बैठकर विचारों के आदान-प्रदान की। उन्होंने आशा व्यक्त की कि संस्कृतविश्वविद्यालय इस दिशा में पहल करेगा। राँची के **डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती** ने मानव विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। बलिया के **डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय** ने भारतीय बौद्ध कला में व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित दृष्टिकोण उपस्थित किया। **डॉ० बी० के० राय** वाराणसी ने आधुनिक भौतिक, रासायनिक आदि विज्ञानों की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का विश्लेषण करते हुए कहा कि भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अहिंसा, सेवा, करुणा आदि जिन मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित किया उन्हीं से कल्याण की आशा है। शान्तिनिकेतन के **डॉ० सुनीति कुमार पाठक** ने बौद्धोंके ब्रह्मविहार, बोधिचित्त और ज्वलिता चाण्डाली सिद्धान्तों से वर्तमान समस्या के समाधान में योगदान की चर्चा की। वाराणसी के **श्री राधेश्यामधर द्विवेदी** ने व्यष्टि और समष्टि के सन्दर्भ में बुद्ध के स्वनियन्त्रित अध्यात्मवाद की चर्चा की। पटियाला के **डॉ० लालमणि जोशी** ने 'विमलकीर्तिनिर्देशसूत्र' के विश्लेषण के आधार पर व्यष्टिऔर समष्टि के सम्बन्धों की विशद चर्चा की। पचमढ़ी के **श्री टी० छोगडुब् शास्त्री** तथा लद्दाख के **श्री टशी पलजोर** ने महायानी दर्शन और महायानी साधना के आधार पर व्यक्ति, समाज उनके सम्बन्धों के सम्बन्ध में अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। सोलन के **डॉ० शान्तिभिक्षु शास्त्री** ने अपने संस्कृत निबन्ध में व्यक्ति और समाज के विकास के सन्दर्भ में बौद्ध दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत किया। दरभंगा के **पं० श्री आनन्द झा** ने व्यक्ति और समाज का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए कहा कि सामाजिक विकास के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणों के विकास की आवश्यकता है।

निष्कर्ष

व्यक्ति और समाज से सम्बद्ध समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में गोष्ठी में सम्मिलित विद्वानों की राय में बौद्ध दर्शन का मध्यममार्ग उचित समाधान प्रस्तुत कर सकता है। व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टियाँ एकान्तवादी हैं। बौद्धों का मध्यममार्ग इन एकान्तदृष्टियों का निषेध करता है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति महत्त्वहीन

नहीं है, और न समाज की उपेक्षा है। नैरात्म्य पर आधारित **समता, करुणा** और **सेवा की भावना** द्वारा बौद्ध दर्शन व्यक्ति का ऐसा विकास चाहता है कि उसकी क्षमता का समाज के हित में पूर्ण उपयोग हो सके। समाजहित ही व्यक्ति का अपना हित बन जाता है। बौद्धों की बोधिसत्त्व की अवधारणा इस सम्बन्ध में आलोक प्रदान कर सकती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यद्यपि व्यक्ति और समाज दोनों की स्वाभाविक सत्ता नहीं है, किन्तु व्यवहार में दोनों का महत्त्व है। व्यक्तित्व के विकास में निश्चित रूप से समाज का योगदान है, अतः बौद्धों की दृष्टि में व्यक्ति का ऐसा विकास होना चाहिए कि उसकी आत्मदृष्टि पूर्णरूप से विगलित हो जाय तथा समाज सेवा और समाज कल्याण उसका एकमात्र कर्तव्य हो जाय। बौद्धों ने इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन किया है। विद्वानों की राय में इस प्रकार की गोष्ठियों द्वारा बौद्धों के चिन्तन को प्रकाश में लाना चाहिए और व्यापक विचार-विमर्श द्वारा आधुनिक समस्याओं के समाधान में उनका उपयोग होना चाहिए।

विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो० बदरीनाथ शुक्ल** ने अपने समापन भाषण में विद्वानों के निबन्ध और विचार-विमर्श के उच्च एवं गम्भीर स्तर पर सन्तोष व्यक्त किया तथा गोष्ठी के विषय की व्यापकता का निरूपण करते हुए बार-बार इस प्रकार की गोष्ठियों के आयोजन की आवश्यकता पर बल दिया। **श्रमणविद्यासंकाय** के अध्यक्ष **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** के द्वारा विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के साथ गोष्ठी का विसर्जन हुआ।

● ● ●

सामाजिक समता

[सामाजिक समता की यह संगोष्ठी २८ से ३० अप्रैल १९७८ को सम्पन्न हुई थी]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०।१९०।४)

सामाजिक समता का प्रश्न : प्राचीन एवं नवीन

विषय प्रस्ताव

भारतीय शास्त्रों में समता का स्वर किसी न किसी रूप में **ऋग्वेद काल** से **अर्वाचीन काल** तक पाया जाता है। इसी प्रकार इसके विपरीत विशिष्टता या विभेद का स्वर भी सदा से मुखर रहा है। इन दो विरोधी प्रवृत्तियों का विकास **भारतवर्ष** जैसे प्राचीनतम देश के लिए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, जिसकी धर्म एवं संस्कृति के निर्माण में प्रारम्भ से ही अनेकानेक जाति-प्रजातियों, स्थानीय एवं आगन्तुक जन-समूहों के रीति-रिवाज, विविध विश्वास एवं धार्मिक अनुष्ठानों का योग-दान था। इन सारी विविधताओं के बीच **समता** के प्रश्न का जीवित रहना और उसके पक्ष में प्रायः सभी प्रमुख पक्षों का आग्रह बना रहना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण विविधताओं में **समन्वय** एवं उसके **संग्रह** की प्रवृत्ति विकसित होती गयी, जो **भारतीय संस्कृति** की एक विशेषता कही जाती है। इस पूरी पृष्ठभूमि में **अध्यात्म** के क्षेत्र में वैचारिक **स्तर पर** समता या समत्व का चिन्तन हुआ और उसका यथासम्भव प्रभाव आन्तरिक साधनाओं पर भी देखा जाता है। जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं के बीच इसे समता का एकाङ्गी विकास कहा जा सकता है। इसके आधार पर भारतीय चिन्तकों पर यह एक आरोप भी लगाया जाता है कि समता के आध्यात्मिक चिन्तन के पीछे भारतीयों में जीवन के व्यावहारिक एवं वास्तविक समस्याओं से पलायन की प्रवृत्ति काम करती है। इस आक्षेप के पीछे सम्भव तथ्य की हमें समीक्षा करनी चाहिए।

आज के सन्दर्भ में समता का मुख्य प्रश्न सामाजिक समता से सम्बन्धित है। विदित है कि सामाजिकता के प्रश्न के साथ **आर्थिक, राजनीतिक** और **सांस्कृतिक** समस्यायें घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं। जीवन के इन सभी क्षेत्रों को प्रभावित करते हुए समता के प्रश्न का समाधान करना ही आज की प्रमुख समस्या है। इसके अतिरिक्त इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी ध्यान जाना चाहिए कि समता का व्यक्ति की स्वतन्त्रता या स्वाधीनता के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। समाज में जिस मात्रा में समता को प्रतिष्ठा मिलती है, उसी मात्रा में व्यक्ति अपने विकास के लिए अवसर प्राप्त कर सकेगा। उसी के आधार पर वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग भी कर सकेगा। उक्त प्रकार की **समता** एवं **स्वतन्त्रता** को आज **नैतिक मूल्य** प्रदान करना होगा, जिन्हें प्राप्त कर निर्विशेष व्यक्ति समाज में सम्मानित एवं श्रेष्ठ समझा जाय।

यह कहना सही नहीं होगा कि विविध एवं विराट् भारतीय समाज में पिछले सहस्रों वर्षों तक समतावादी मूल्यों के अभाव में ही यहाँ का व्यक्ति जीवन यापन करता रहा है। अवश्य ही **भारतीय जीवन** में भी एक प्रकार की समता का विकास हुआ था, जिसके आधार पर अधिकांश के सामूहिक जीवन में सामञ्जस्य बना रहा। किन्तु आज की मान्यताओं के अनुसार उसे सामाजिक समता की श्रेणी में रखना कठिन होगा। इसका प्रमुख कारण है:–भिन्न-भिन्न जीवन दृष्टि, अतः उसका भेद सैद्धान्तिक है। आधुनिक चिन्तकों के विचार में उपर्युक्त सभी अवधारणाओं का उद्गम-स्रोत मानव है, **ईश्वर, आत्मा** या **धर्म** नहीं है। यह मानव भी सिद्ध मानव नहीं है, न केवल वह साधन मात्र है। यह साध्य एवं साधन दोनों है। कहा जा सकता है कि यह वर्ण, जाति, लिङ्ग, देश, धर्म आदि से निरपेक्ष मानव है। यह रहस्य या परलोक आदि से सम्बन्धित मानव नहीं, अपितु एकमात्र ऐहिक है। इस प्रकार के मानव से सम्बन्धित नैतिकता जैसे समता और स्वतन्त्रता आदि का उत्स समाज है। इसीलिए समता एवं स्वतंत्रता भी उपार्जित मानी जाती है। वह काल्पनिक, रहस्यमय एवं समाज-निरपेक्ष नहीं है। समता एवं स्वतन्त्रता को यदि **धार्मिकता** का **मूल्य** प्रदान करना चाहें तो उसका अभिप्राय मात्र इतना होगा कि इसके पीछे **सामाजिक-विवेक** है, और विवेक धर्म का सहचारी है। विवेक पर आधारित यह सामाजिक समता किसी भी स्थिति में सिद्ध वस्तु नहीं, अपितु साध्य है।

भारतीय सन्दर्भ में उक्त से भिन्न समता का मुख्यतः विकास आध्यात्मिक हुआ है। किन्तु आध्यात्मिक होने मात्र से उसका सम्बन्ध समाज से सर्वथा कट नहीं जाता, क्योंकि **आध्यात्मिकता** एवं **व्यावहारिकता** के बीच कोई अत्यन्त विभाजक रेखा खींच देना सम्भव नहीं है। भारतीय चिन्तन में आध्यात्मिकता भी किसी एक ही प्रकार की नहीं है, जिसके आधार पर निर्णय कर लिया जाय कि आध्यात्मिकता सदा व्यवहार से विमुख दिशा में रहती है। एक ओर ईश्वर, आत्मा और नित्यता आदि के तात्त्विक आधार पर अध्यात्म की व्याख्या की जाती है, तो दूसरी ओर अनीश्वर, अनात्म और अनित्यता के आधार पर अध्यात्म की पारमार्थिकता खड़ी की जाती है। अनात्मवादी धारा में ईश्वर और आत्मा आदि के न मानने के कारण परिशेषतः मानव महत्त्व बढ़ जाता है। उस स्थिति में मानव-केन्द्रित नीति, धर्म एवं संस्कृति की व्याख्या सरल हो जाती है। **ईश्वर एवं आत्मवादी** भी अद्वितीय **ब्रह्मवाद** के आधार पर **व्यक्ति** को **ब्रह्म** से अभिन्न मानकर मानव को यथासम्भव महत्त्वशाली बनाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार **अनात्मता या आत्मौपम्य** के आधार पर भारतीय चिन्तकों द्वारा एक प्रकार से समानता की अवधारणा खड़ी की जाती है। एक

विशेष प्रकार के **आत्मवादी आचार्य** अद्वैत आत्मा के साथ **स्वातन्त्र्य-शक्ति** को समन्वित कर **आत्मवादी समता** को स्वतन्त्रता के साथ जोड़ते हैं और उस स्वातन्त्र्य शक्ति से सम्पूर्ण व्यवहार के संग्रह का प्रयत्न करते हैं। **अनात्मवाद** दुःखता की समस्या के बीच प्रारम्भ हुआ था, इसलिए उसमें **करुणा** का विकास हो सका। करुणा क्रिया-शक्ति है, वह **उपाय-कुशलता** है, जिसके प्रयोग से प्राणियों को दुःख से मुक्त किया जा सकता है। इस स्थिति में व्यक्ति में स्वतन्त्र सर्जनशीलता का विकास होता है। **अद्वैत-आत्मवाद** में जीव-दृष्टि के विनाश से विषमता समाप्त होती है, जबकि **अनात्मवाद** में अनात्म-दृष्टि के उच्छेद से। यहाँ तक कि अनात्मवाद में **'कुछ नहीं'** का **'सब कुछ'** के साथ सम्बन्ध जोड़कर सर्वसंग्रह करने की चेष्टा की गयी है, जबकि आत्मवाद में **सर्व** को **आत्मा** के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न देखा जाता है।

उक्त प्रकार के सम्पूर्ण प्रयत्नों से इतना स्पष्ट होता है कि **भारतीय चिन्तकों** के समक्ष अति प्राचीन काल में ही समता की समस्या उजागर हो चुकी थी और उन्होंने उस पर सहस्राब्दियों तक विचार किया, जैसा कि अन्यत्र नहीं देखा जाता। किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि उनकी दृष्टि तात्त्विक समता के सामाजिक एवं व्यावहारिक विनियोग की ओर क्यों नहीं गयी ? इसके विपरीत क्यों एक ओर सिद्धान्त की दृष्टि से तात्त्विक एकता और दूसरी ओर समाज व्यवस्था में घोर विषमता का समर्थन किया गया ? प्राचीन काल में **अध्यात्म** और **व्यवहार** को धर्म संतुलित करता था, किन्तु यहाँ क्यों नहीं ऐसा सम्भव हुआ ? **धर्म** से समाज में व्याप्त विषमता एवं ऊँच-नीच के भाव को हटाये जाने की अपेक्षा थी, किन्तु उसने जाति एवं वर्णवाद जैसे विषमतावादी व्यवस्था को धर्म व्यवस्था होने का गौरव प्रदान कर दिया। यह देखा जाता है कि **अनात्मवादी-अनीश्वरवादी** धारा में विकसित धर्म जिसे **श्रमण-धर्म** कहा जाता है, जिसके प्रमुख लोक नायक थे—भगवान **बुद्ध** एवं **महावीर।** उन्होंने केवल जातिवाद को मानने से ही इन्कार नहीं किया, प्रत्युत उसके पोषक शास्त्र और प्रतिपादक भाषा के प्रामाण्य एवं पवित्रता को भी अस्वीकार किया। उस धर्म ने संघ के रूप में एक ऐसे समाज के गठन का प्रयास किया, जिसका आदर्श व्यावहारिक जीवन में समानता की स्थापना थी। उन्होंने देवाधिदेव के प्रामाण्य को न स्वीकार करके ज्ञान (सर्वज्ञता), गुण और वीतरागता के आधार पर मानव के प्रामाण्य को स्थापित किया। इस नये आदर्श को सिर्फ श्रमणों ने ही नहीं, परवर्ती **आगमवादी-तान्त्रिकों** और **वैष्णव-सम्प्रदायों** ने भी यथाकथंचित् स्वीकार किया। इस प्रकार देखा जाता है कि विभिन्न धर्मों ने समता के आध्यात्मिक तत्त्व को समाज में प्रतिष्ठित करने की अनेक चेष्टायें की हैं।

इतने के बाद भी भारतीय इतिहास में कभी यह नहीं देखा गया कि समता मानवाधारित होकर समाज-व्यवस्था का रूप ग्रहण की हो। **श्रमणों** में **बौद्धों** का आन्दोलन सर्वाधिक तीव्र एवं कालव्यापी था। यह सत्य है कि उनका मानव केन्द्रित विचार तथा समतावादी दृष्टि आज भी विश्व-मानव को प्रभावित करती है, किन्तु यहाँ एक मात्रा के बाद उसका प्रभाव अस्त हो गया। इसका दोष जिन कारणों में खोजा जाता है, उनमें एक बौद्धों का वैराग्यवादी होना भी बताया जाता है। कहा जाता है कि बौद्धों ने आध्यात्मिक और धार्मिक स्तर पर विषमतापूर्ण मान्यताओं का अवश्य विरोध किया, किन्तु सामाजिक स्तर पर उनके द्वारा यह संभव नहीं हो सका, क्योंकि सामाजिक समस्याओं के प्रति श्रमण या तो उदासीन थे या उनमें सामाजिक विषमताओं से जूझने के लिए अपेक्षित क्षमता नहीं थी। जो कुछ हो, भारतीय इतिहास में विषमता विरोधी आन्दोलनों की एक सीमा देखी गयी। यह भी देखा गया कि विगत शताब्दियों में उत्तर और **दक्षिण भारत** में उदारवादी सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु उनका प्रभाव बहुत ही सीमित था। उन्होंने सामाजिक विषमता के प्रति व्यंग्य अवश्य किया, किन्तु वे उस प्रश्न को सामाजिक स्तर पर उभार न पाये। विफलता के कारणों के अन्वेषण में बरबस **कर्मवाद** की मान्यता की ओर ध्यान आकृष्ट होता है। बिना अपवाद के सभी भारतीय धर्म एवं दर्शनों ने कर्मवाद को स्वीकार किया है। कहा जाता है कि सामाजिक एवं व्यक्तिगत विषमता के पीछे अदृष्ट कर्मों के फल की मान्यता एक प्रधान हेतु है। इस स्थिति में **कर्मवाद** से **सामाजिक-समता** के आधुनिक सन्दर्भ में तालमेल बैठ नहीं सकता। **सामाजिक-विषमता** के प्रसंग में अवश्य ही इस मान्यता की समीक्षा करनी होगी।

भारतीय नीति-मीमांसा में कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपराध एवं दण्ड की व्यवस्था का यह तार्किक सिद्धान्त है। इसके द्वारा मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ता है और रहस्यवादी शक्तियों का महत्त्व घटता है। यही कारण है कि **अनीश्वर** एवं **अनात्मवादियों** ने अन्यों की अपेक्षा **कर्मवाद** की स्थापना में अधिक बल लगाया। किये अपराध का ही दण्ड मनुष्य को प्राप्त हो, किसी भी स्थिति में न किये का वह दण्ड-भागी न बने। इस व्यवस्था के बीच किसी अतिरिक्त शक्ति की कृपा या अभिशाप का हस्तक्षेप न हो—इसकी व्यवस्था करना कर्मवाद का उद्देश्य है। इस नियम को अधिक दोष-हीन रखने की दृष्टि से मनुष्य के उन भोगों के अतीत कारणों की या वर्तमान उन कर्मों के अनागत फलों की खोज में अदृष्ट कर्मों एवं फलों की कल्पना की गयी, जिनका कर्म या भोग ऐहिक जीवन में दृष्ट नहीं था। इस प्रकार के अदृष्टों को सुसंगत करने के लिए **पुनर्जन्म** का विश्वास सहायक हुआ। फलतः उसके आधार

पर पुनर्जन्म की भी तार्किक व्याख्या होने लगी। **पुनर्जन्म** के सत्य होने न होने के सम्बन्ध में विचार करने का यहाँ प्रसंग नहीं है। यहाँ प्रसंग है **कर्मवाद** को अधिकाधिक सुसंगत रखने की। इस प्रकार के कर्मवाद में दो प्रकार की तार्किक त्रुटियाँ समझी जाती हैं। प्राचीनकाल में भी **दृष्ट कारणों** के रहते **अदृष्ट कारणों** की खोज को असंगत माना गया। आधुनिक काल में जैसे-जैसे **भौतिक-विज्ञान** एवं **मानव-विज्ञानों** के नये-नये तथ्य ज्ञात होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे पहले के **अदृष्ट एवं अज्ञात** दृष्ट एवं ज्ञात कोटि में आते जा रहे हैं। इससे अवश्य ही परलोक की कल्पना का विस्तार घटता जाना चाहिए किन्तु इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसी प्रकार यह मानना कि व्यक्ति अनिवार्यतः स्व-कृत कर्मों का ही फल भोगता है, यह सिद्धान्त मानव समाज के बीच दूरी घटते जाने और उनके बीच नये-नये सूक्ष्म एवं व्यापक संबंधों के बढ़ते जाने के साथ संशोधनीय हो चुका है, इसकी ओर हमें ध्यान देना होगा। इन परिवर्तनों के साथ प्राचीन **ऐहिकतावाद** के स्वरूप में भी बहुत कुछ परिवर्तन आ चुका है, क्योंकि जीवन की ऐहिकता में भी बहुत प्रकार के अदृष्टों का समावेश हो चुका है, जिनकी साक्षी हैं—भौतिक एवं मानव-विज्ञानों की नयीं उपलब्धियाँ।

ऊपर वर्णित तार्किक एवं तथ्यात्मक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में निष्कर्ष के रूप में कुछ ऐसी सम्भावनायें संकेतित होती हैं, जिनके आधार पर हम भारतीय चिन्तन परम्परा में समता के सम्पूर्ण सामाजिक पक्षों पर नवीन सन्दर्भ में अपना विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते हैं, जिससे इस विषय को अन्य अर्वाचीन विचारकों से अधिक गम्भीर एवं व्यापक आयाम मिल सके। इन तथ्यों के स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि **समता** एव **स्वतन्त्रता** एक **नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्य** हैं, जिनका क्षेत्र नितान्त मानवीय एवं सामाजिक है, किन्तु उसका उद्गम स्रोत मनुष्य-जाति का वह अन्तरतम **अध्यात्म** है, जिसे सहस्राब्दियों में अपने गहन चिन्तन एवं प्रातिभ अनुभवों में संचित किया है। उस संचित निधि का यदि नवीन सन्दर्भ में नवीन विचारों के साथ योग स्थापित किया जा सके, तो वह नितान्त स्वाभाविक होगा। इस स्थिति में आधुनिकता के प्रति किसी प्रकार का आक्रोश प्रदर्शन न करके अपनी चिन्तन परम्परा के वास्तविक सामर्थ्य का पुनः मूल्यांकन करना होगा।

उक्त दिशा में हमें इसका निर्णय लेना होगा कि **आध्यात्मिक-समता** या समत्व के साथ **सामाजिक समता** का सम्बन्ध क्या है ? निर्वाण या मोक्ष जो आध्यात्मिक समत्व का आदर्श माना जाता है, उसका सामाजिक मूल्य क्या है ? इस सन्दर्भ में हम उन ऐतिहासिक अनैतिहासिकमुक्त पुरुषों के चरित्र को आधार मानकर कुछ

निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जिन्होंने आध्यात्मिकता के समानान्तर व्यवहार एवं समाज को भी प्रभावित किया। इस प्रसंग में सुप्रसिद्ध पंच ज्ञानियों का नाम लिया जाता है।

कृष्णो योगी, शुकस्त्यागी, भूपौ जनक-राघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः॥

इसके अतिरिक्त **महावीर, बुद्ध, शङ्कराचार्य** और **रामानुजाचार्य** जैसे महापुरुषों में ज्ञान और चरित्र के बीच जो अविरोध एवं समन्वय था, उसका विश्लेषण महत्त्वपूर्ण होगा। भगवान् बुद्ध और बौद्धों का सम्पूर्ण इतिहास इस प्रकार के अध्ययन में हमारे दिशा-निर्देशक हैं। भोग और मोक्ष, ज्ञान एवं प्रयोग के बीच सम्बन्ध क्या हो ? इस पर विभिन्न शास्त्रों में गहन विचार किया गया है, उन्हें नवीन सन्दर्भ में पुनः स्थापित करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इनके बीच तमः-प्रकाशवत् विरोध, सत्यानृत का मिथुनीकरण, **न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि दृश्यते, भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव, सर्वमिदं विभोः शरीरम्** इत्यादि जैसे प्राचीन निष्कर्ष आज के आधुनिक सामाजिक समस्याओं के चिन्तन के लिये मार्ग का निर्देश करते हैं।

हमें इसका भी विचार करना होगा कि परम्परागत चिन्तन में आध्यात्मिक समता जब सर्वग्राही है, तो उसकी अक्षुण्णता के लिये समाज की किन विषमताओं का दूरीकरण नितान्त अपेक्षित है। इस दिशा में इसका व्यापक आकलन करना निर्णायक होगा कि विषमताओं में कितनी कृत्रिम एवं लोगों के निहित स्वार्थों के कारण समाज पर आरोपित हैं, और कितनी स्वाभाविक। कहना नहीं है कि कृत्रिम विषमताओं का धार्मिक एवं नैतिक स्तर पर अवमूल्यन होना चाहिये। इसके पूर्व कि विषमताओं के निराकरण की बात की जाय, इसे निश्चित करना होगा कि आज विषमता का प्रधान केन्द्र-विन्दु कौन है ? और उसके पोषण में परम्परागत, नीति, धर्म और दर्शन कितने अनुकूल एवं प्रतिकूल हैं। प्रतिकूल का निराकरण सामाजिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक समस्या है। उनके समाधान के लिये कैसे उपाय प्रयुक्त होंगे, इसके निर्णय पर समाज का सम्पूर्ण भविष्य निर्भर रहेगा। विश्व के इतिहास में और आज भी इस दिशा में अनेकविध आधुनिक प्रयोग किये जा रहे हैं, उनमें से अपने अनुकूल का वरण करना होगा। किसी भी स्थिति में हमें प्रयोग के लिये दो तत्त्वों की ओर ध्यान देना होगा—एक **करुणा** और दूसरी **अहिंसा**। आज के सन्दर्भ में भी इन दोनों के अपरिमित विकास की सम्भावनायें हैं। इसके लिये इनकी शक्तियों का आधुनिक दृष्टि से विश्लेषण करना आवश्यक होगा।

कहना नहीं है कि सामाजिक समता विषमता के प्रश्न पर परम्परागत कर्म-वादी मान्यताओं का जन-मानस पर प्रधान रूप से प्रभाव रहता है। इसलिए नये संदर्भ में **कर्मवाद** की पुनः परीक्षा करनी होगी। कर्मों का दृष्ट अदृष्ट के रूप में अनिवार्य रूप से विभाजन करना अपेक्षित है या नहीं, यदि है; तो अदृष्ट की कोटि में जितने का समावेश किया जाता है उसका ज्ञान, विज्ञान की नई प्रगति में कितना औचित्य है, इसका भी निर्णय करना होगा। **गीताकार** ने कर्म, अकर्म और विकर्म के विभाजन की चेष्टा की है। अन्त में अपनी दृष्टि से उन्होंने कहा है कि कर्मों का निर्धारण बहुत ही गहन है—**'गहना कर्मणो गतिः'**। भगवान् **बुद्ध** और **महावीर** ने इस प्रश्न को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनके विश्लेषण आज भी यथासम्भव हमारे दिशा-निर्देशक हो सकते हैं। वास्तव में नई दुनियाँ में दूरी के कम हो जाने से तथा सम्बन्धों के सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट होते जाने से सामूहिक कर्मों का प्रभाव इस मात्रा में व्यापक होता जा रहा है, जिसके फल का भोग आज व्यक्ति को करना पड़ रहा है। इस स्थिति में कर्मफल का व्यक्तिगत विश्लेषण करना किस मात्रा तक उचित होगा, यह बहुत ही विचारणीय है।

भारतीय सन्दर्भ में **सामाजिक समता** के प्रश्न की अग्रिम सम्भावनाओं पर विद्वानों का विचार जानने के लिए ऊपर कुछ मुद्दों को उठाया गया है। आशा है विद्वज्जन अपने विचारविमर्श द्वारा इसे एक समुचित दिशा प्रदान करेंगे।

—प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय

• • •

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में मानव समता

डॉ० रामशङ्कर त्रिपाठी

मानव इतिहास के आरम्भिक काल में न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्डदाता, सारा मानव-समुदाय परस्पर सहिष्णुता, सहृदयता, सत्यता एवं मानवता के सिद्धान्तों के आधार पर स्वयं नियन्त्रित तथा संचालित होता था। सम्भवतः प्रारम्भिक सहयोग की इसी भावना को **महाभारत** ने धर्म की संज्ञा प्रदान की है—

नैव राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ शान्ति० ५९।१४।

किन्तु परस्पर सहयोग का यह सिद्धान्त अधिक दिनों तक न चल सका। लोभ एवं स्वार्थ ने प्रकृति-गंगा के सुरम्य तट पर मानवता की मणिकर्णिका का शनैः शनैः शिलान्यास किया। फलस्वरूप **'मात्स्यन्याय'** ने जन्म ग्रहण किया, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त ने धीरे-धीरे अँगड़ाई ली। फिर क्या था, प्रबल निर्बल को सताने लगे, प्रबल प्रबलतरसे भय खाने लगे, प्रबलतर प्रबलतम से घबड़ाने लगे। चतुर्दिक् अव्यवस्था की वैतरणी बहने लगी। किसी का न गृह सुरक्षित था, न गृहिणी।[1] सम्भवतः ऐसी ही परिस्थिति में कुछ विवेकशील व्यक्तियों ने परस्पर मिलकर समाज की सुरक्षा का भार किसी ऐसे व्यक्ति के कन्धे पर रखने का निश्चय किया जो शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों ही दृष्टियों से समर्थ था। यही **राजा** का सर्वप्रथम चुनाव था। **ऐतरेयब्राह्मण** (१।१४) में आया है कि राजा के अभाव में देवों ने अपनी दुर्दशा देखी। अतः सबने मिलकर एकमत से राजा का चुनाव किया। इससे यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि सामरिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या नृपत्व को अंकुरित किया। **कौटिल्य** ने अपने जगद्विदित **अर्थशास्त्र** में लिखा है कि **'मात्स्यन्याय'** से आक्रान्त होकर लोगों ने **मनुवैवस्वत** को अपना राजा बनाया[2]। ऐसी ही बात **रामायण** (२।६७), **शान्तिपर्व** (१५।३० एवं ६७।१६) तथा कतिपय **पुराणों** में भी कही गई है।

---

१. अराजकाः प्रजाःपूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ शान्ति० ६७।१७।

२. अर्थशास्त्र १।४।

एक बार चयन हो जाने का यह अर्थ कदापि न था कि राजा स्वेच्छाचारिता करे, समाज एवं उसके नियमों की अवहेलना करे, धर्म के विरुद्ध आचरण करे। राजा को नियन्त्रित करने की बागडोर जनता के हाथों में थी। जनता ही राजा का निर्माता एवं भाग्यविधाता थी। **महाभारत** में राजा **वेन** की कथा वर्णित है। वेन अत्यन्त प्रतापी और विशाल साम्राज्य का अधिपति था। विशाल साम्राज्य का नियन्ता वेन, अपने विपुल ऐश्वर्य को देखकर अपने को ही नियन्त्रित न कर सका। उसने स्वेच्छाचारिता आरम्भ की। फलतः लोगों ने उसका वध कर डाला[1]। **शान्तिपर्व** में कहा गया है कि अधार्मिक, स्वेच्छाचारी राजा का वध कर उसके परिवार को आपत्ति के गर्त में झोंक देना चाहिए[2]। **तैत्तिरीयसंहिता** एवं **शतपथ-ब्राह्मण** के काल में राज्य पाकर मनमानी करने वाले राजा को देश की नागरिकता से वंचित कर दिया जाता था[3]।

भारत के सुदूर अतीत की झाँकी देखने से यह पता चलता है कि उस समय राज-पद सहज एवं बहुत गौरवास्पद न था। राज-पद के साथ सुख की अपेक्षा दुःख का, शान्ति की अपेक्षा अशान्ति का एवं पुण्य की अपेक्षा पाप का सम्बन्ध अधिक दृढ़ था। यही कारण है कि बुद्धिमान् एवं सच्चरित्र जन इससे दूर रहना चाहते थे। शासक होने की अपेक्षा शासित होना उन्हें अधिक पसन्द था[4]। वे राज-पद से दूर रहना चाहते थे[5]। उस समय **राजा** का प्रधान कर्तव्य **प्रजा** की रक्षा करना ही माना जाता था। प्रजा वर्ग अपनी रक्षा के लिये ही अपनी आय का **षष्ठांश** राजा को वेतन के रूप में दिया करता था[6]। **मार्कण्डेयपुराण** (१३०।३३-३४) में राजा **'मरुत्त'** की मातामही ने उपदेश देते समय उसे समझाया है कि—राजा का शरीर आमोद-प्रमोद के लिये नहीं बना है, प्रत्युत् वह कर्तव्य पालन करने तथा पृथ्वी की रक्षा करने के प्रयत्न में कष्ट सहने के लिये है। राजा पर धर्म का नियन्त्रण सार्व-कालिक था। क्रोध के वशीभूत रहकर मर्यादा का उल्लंघन करने वाले राजा मृत्यु के ग्रास बना दिये जाते थे[7]।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९।९३-९५। भागवत ४।१४ तथा मनु० ७।४१।
२. शान्ति० ९२।९।
३. तैत्तिरीय० २।३।१ तथा शतपथब्राह्मण १२।९।३।१-३।
४. देखिये—महाभारत, शान्तिपर्व ५९ अ०। ५. शान्तिपर्व ६७।२१-२२।
६. बौधायनगृह्यसूत्र १।१०।१, शुक्रनीति १।१८८ तथा शान्ति० ७१।१०।
७. प्रायशश्च कोपवशा राजानः प्रकृतिकोपैर्हताः श्रूयन्ते। अर्थशास्त्र ८।३।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में **राजा** के उद्गम के विषय में प्रधानतया दो मत मिलते हैं—(१) राजा का चुनाव होता था और (२) राजा दैवी अधिकार से सम्पन्न माना जाता था।

(१) **ऋग्वेद** (१०।१७३) तथा **अथर्ववेद** (६।८७ एवं ८८।१–२) में राजा के चयन के विषय में किञ्चित् धुँधला संकेत उपलब्ध होता है। **अथर्ववेद** के एक दूसरे स्थल पर राजा के निर्वाचन का कुछ स्पष्ट संकेत देखा जा सकता है—लोग राज्य करने के लिये तुम्हें चुनते हैं, ये दिशाएँ, ये पंच देवियाँ तुम्हें चुनती हैं[1]। भद्र लोग, सूत, ग्राम-मुखिया, रथकार, धातुनिर्माता आदि राजा का चयन करते थे, ऐसी ध्वनि अथर्ववेद में मिलती है[2]। **तैत्तिरीयब्राह्मण** (१।७।३) में राजा के निर्माता को 'रत्निन्' कहा गया है। ये रत्नी लोग ही राजा को राज्य देते थे[3]। इन स्थलों से यह बात समर्थित होती है कि राजा भद्र-वर्ग, उच्च कर्मचारियों तथा सामान्यजनों से राज्य पाता था।

वैदिक युग की परिसमाप्ति तथा लौकिक साहित्य के ठीक उषाकाल तक आते-आते राजत्व-पद आनुवंशिक हो चला था। अब राजा के निर्माता एवं भाग्यविधाता के रूप में सामान्य जनता की सम्मति का पूर्व मूल्य न रह गया था। फिर भी जनता की राय अभी, अब भी आवश्यक थी। **अयोध्या** के चक्रवर्ती सम्राट् महाराज **दशरथ** ने अपने निश्चय के समर्थन के लिये उस समय नागरिकों की एक सभा बुलाई थी, जब वे राम का राज्याभिषेक करना चाहते थे[4]।

महाभारत के **आदिपर्व** के अनुसार जब महाराज **परीक्षित** की मृत्यु हो गई उस समय राजधानी के नागरिकों ने एकत्रित हो उनके अल्पवयस्य बालक **जनमेजय** को अपना राजा चुना। बालक जनमेजय उस समय अपने मन्त्रियों एवं पुरोहितों की सहायता से राज्य करता था[5]।

महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन समय में जनता के द्वारा निर्वाचित किये जाने पर राजा सबके समक्ष यह शपथ लेता था कि 'मैं मन, वाणी और क्रिया द्वारा भूतलवर्ती **ब्रह्म** (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा। **वेद** में दण्डनीति

१. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ३।४।२।
२. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वमितो जनान्॥ ३।५।७।
३. रत्निनामेतानि हवींषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः।१।७।३।
४. देखिये—अयोध्याकाण्ड १–२। ५. महाभारत आदिपर्व–४४।६।

से सम्बन्ध रखने वाला जो नित्य धर्म बतलाया गया है, उसका मैं निःशङ्क होकर पालन करूँगा। कभी स्वच्छन्द नहीं होऊँगा। **ब्राह्मण** मेरे लिये अदण्डनीय होंगे तथा मैं सम्पूर्ण जगत् को वर्णसङ्करता और धर्मसङ्करता से बचाऊँगा[1] आदि आदि।

(२) प्राचीन ग्रन्थों में राजा के निर्वाचन के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त भी मिलता है, जिसके अनुसार राजा के पद, उसकी महत्ता और उसके व्यापार को द्योतित करने के लिये उसमें देवों के अंश होने की कल्पना की गई है। **महाभारत,** सम्पूर्ण **धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र** एवं **पुराण** इसी सिद्धान्त का प्रमुख रूप से समर्थन करते हैं। इसी के प्रचार तथा प्रसार के लिये डिण्डिम-घोष करते हैं। राजा दैवी अधिकार से सम्पन्न होता था, इसकी प्रथम झाँकी **ऋग्वेद** में देखी जा सकती है। ऋग्वेद (४।४२) में **'पुरुकुत्स'** के पुत्र राजा **'त्रसद्दस्यु'** का वर्णन है। वह बड़े आत्म-गौरव के साथ उद्घोषित करता है—'मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग तथा पृथ्वी हूँ।' **अथर्ववेद** में आया है—'हे राजन्, तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम इन्द्र के समान विश्व में सुस्थिर रहो। राज्य तुम्हारे द्वारा धारण किया जाता रहे।'[2] इसी प्रकार की अभिव्यक्ति **शतपथब्राह्मण** में भी मिलती है—'राजन्य प्रजापति का है, वह एकाकी है, किन्तु बहुतों पर शासन करता है।'[3] यहाँ राजा प्रजापति के प्रतिनिधि के रूप में वर्णित है। **महाभारत** के **शान्तिपर्व** में राजा के दैविक अंशवाली बात बहुधा वर्णित है। **मनुस्मृति** आदि धर्मशास्त्र, **काव्य** एवं समूचे **पुराण** राजा में देवत्व की कल्पना वाली बात से भरे पड़े हैं।[4]

राजा होने के अधिकारी

राजा किसे होना चाहिये? इस विषय पर हमारे पुरातन ग्रन्थकार एकमत नहीं हैं। **मनु** के अनुसार **क्षत्रिय** ही राज्य के सिंहासन का वास्तविक अधिकारी माना गया है। उन्होंने चारो वर्णों के कर्मों का विभाजन करते हुए अपने विश्व-विश्रुत ग्रन्थ **मनुस्मृति** में कहा है कि—'प्रजा-रक्षण, दान अर्थात् वितरण, यज्ञानुष्ठान, वेदाध्ययन तथा अपनी ओर आकृष्ट कर विवेक को विनष्ट करने वाली वस्तुओं से विरक्ति'—संक्षेप में ये ही **क्षत्रिय**

---

१. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्।
यश्चात्र धर्मो नित्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ शान्ति० ५९।१०६–१०७

२. देखिये–६।८७।१–२। ३. देखिये–५।१।५।१४।

४. देखिये–मनु ५।९६, ७।५, ७।८। तथा रघुवंश २।७५।

के कार्य हैं।[१] किन्तु धर्मशास्त्र के महारथी व्याख्याता आचार्य **'कुल्लूक'** का कहना है कि **'राजा'** शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हो सकता है। वे यह मानते हैं कि जो कोई भी व्यक्ति प्रजा का रक्षण करता है वह **राजा** है।[२] **महाभारत, पुराण** एवं **रघुवंश** आदि महाकाव्य क्षत्रिय को ही राजा होने का सर्वाधिकार समर्पित करते हैं। लगता है प्रजा-रक्षण तथा क्षत्रिय जाति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मान लिया गया था। जगत् के पालक भगवान् **विष्णु** की **क्षत्रिय** जाति कल्पित की गई है। **मनु** आदि प्रारम्भिक राजा **क्षत्रिय** जाति के ही बतलाये गये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि दूसरी जाति के व्यक्ति राजा हो ही नहीं सकते थे। अतीत काल में इस भारत वसुधा के ऊपर कतिपय ब्राह्मण वंशों ने राज्य एवं साम्राज्य स्थापित किये थे। इनमें बहुत से अपने जमाने के बेजोड़ योद्धा एवं राजनीति के भीष्मपितामह थे। **शुङ्ग** साम्राज्य का संस्थापक **पुष्यमित्र** ब्राह्मण-वंश का ही अवतंस था।[3] **जैमिनि** (२।३।३) की व्याख्या में **कुमारिल भट्ट** ने लिखा है कि अतीत की परिधि में सभी जातियों के लोग शासक होते देखे गये हैं। अतीत के लम्बे आयाम में यत्र-तत्र **शूद्र** भी शासक हुए हैं। इसके लिए **मनुस्मृति** में भी एकाधिक प्रमाण देखे जा सकते हैं।[४] **मनुस्मृति** के सप्तम अध्याय (श्लोक ४१) में अधार्मिक अतः राज्यच्युत किये गये राजाओं की एक संक्षिप्त तालिका है। उसमें **पैजवन** अथवा **पैजवन सुदा** नाम से एक राजा का उल्लेख किया गया है। यह पैजवन शूद्र था। इसकी विपुल सम्पत्ति की चर्चा **महाभारत** तथा **स्कन्दपुराण** में भी आई है।

मन्त्रिपरिषद्

राज्य के सागर सदृश विशाल कृत्य केवल एक व्यक्ति के ही सामर्थ्य से समाहित नहीं किये जा सकते। सरल कार्य भी एक व्यक्ति के लिये करना कठिन है, तो शासन-कार्य, जो कि प्रजा का अनुरंजन करना अपना पावन कर्तव्य मानता है, बिना सहायकों के कैसे चल सकता है।[५] कार्य की अधिकता के कारण एक व्यक्ति से त्रुटियाँ

---

१. देखिये—१।८९।

२. 'राजशब्दोऽपि नाम क्षत्रियजातिवचनः, किन्त्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः। अत एवाह 'यथावृत्तो भवेन्नृपः' इति ॥' मनुस्मृति ७।१ पर कुल्लूक की टीका।

३. देखिये—हरिवंश ३।२।३५।

४. न शूद्रराज्ये निवसेत्·······। मनु० ४।६१।
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः। मनु० ४।८४।

५. 'न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि श्यहम्। शान्तिपर्व १०६।११।

भी अधिक सम्भावित हैं। अतः प्राचीन काल से ही राजा लोग राज्य कार्य के संचालन के लिये, उसे सही एवं सरल ढंग से चलाने के लिये, मन्त्रियों की नियुक्ति किया करते थे। **आपस्तम्बधर्मसूत्र**[1] में **'अमात्य'** शब्द 'मन्त्री' के अर्थ में अर्थात् अपने वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कदाचित् अपने सही एवं अभ्रान्त अर्थ में 'अमात्य' शब्द का यह प्रथम प्रयोग है।

मन्त्रिपरिषद् का गठन

मन्त्रिपरिषद् के गठन के पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि प्राचीन साहित्य में अमात्य एवं मन्त्री में अन्तर माना जाता था। **अमरकोश** के अनुसार अमात्यों के दो भेद हैं। जो **अमात्य 'धीसचिव'** होते थे उन्हें मन्त्री कहा जाता था और ऐसे अमात्य जो मन्त्री नहीं थे **'कर्मसचिव'** कहलाते थे। **वाल्मीकि रामायण** में भी 'अमात्य' एवं 'मन्त्री' में अन्तर बतलाया गया है।[2] **कौटिल्य** के अनुसार भी अमात्यों एवं मन्त्रियों में अन्तर है।[3] **कौटिल्य** ने मन्त्रियों को अमात्यों की अपेक्षा अधिक उच्चपदाधिकारी माना है।

महाभारत में अमात्यों के इन द्विविध रूपों की बहुत सुस्पष्ट झांकी मिलती है।[4] **शान्तिपर्व** में, राजनीति के परमाचार्य तथा धनुर्विद्या के अप्रतिम योद्धा **भीष्म** के अनुसार **अमात्य परिषद्** की सदस्य संख्या सैंतीस होनी चाहिए। इस अमात्य परिषद् में सभी वर्णों का समुचित प्रतिनिधित्व देखा जा सकता है। इसमें चार वेदविद् **ब्राह्मण,** आठ शूरवीर **क्षत्रिय,** इक्कीस सम्पत्ति-सम्पन्न **वैश्य,** तीन विनीत एवं पवित्र **शूद्र,** तथा एक पुराणविद्या का ज्ञाता **सूत,** होने चाहिए। वस्तुतः यह सामान्य अमात्य-परिषद् से भिन्न जान पड़ती है। इसमें संसद का सा रूप दिखलाई पड़ता है। सम्भवतः राज्य के सारे मसले विचारार्थ सर्वप्रथम इसी परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। सम्भवतः यह लोवर परिषद् थी। इस परिषद् में भली-भाँति विचार कर लिए जाने पर ही विषय अपर परिषद् में जाता था। इसी अपर परिषद् को मन्त्रि-परिषद् कहा गया है। इसमें आठ मन्त्री हुआ करते थे। कदाचित् राजा ही इस परिषद् का अध्यक्ष हुआ करता था।[5] इस परिषद् के सदस्य किस-किस जाति के लोग होते थे, यह निर्देश नहीं किया गया है। सम्भवतः इसमें उच्च वर्ग के ही लोग रहा करते थे।

---

१. 'गुरूनमात्यांश्चैव नातिजीवेत्' अर्थात् 'राजा को अपने गुरुओं एवं अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक नहीं जीना या रहना चाहिए।' २।१०।२५।१०।

२. अयोध्याकाण्ड १।२।१७। ३. अर्थशास्त्र १।८। ४. शान्तिपर्व ८५।७–११।

५. अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्। शान्ति० ८५।११।

इस परिषद् के निर्णयों को, इसके द्वारा पारित विधानों को देश में प्रचारित किया जाता था और राष्ट्र के प्रत्येक नागरिकों को इससे परिचित कराया जाता था।[१]

मन्त्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में ऐकमत्य नहीं है। किन्तु प्रायः सभी आचार्यों ने इसे **सात** से **दश** के भीतर ही माना है।

व्यवहार (न्याय पद्धति)

प्राचीन काल में निष्पक्ष न्याय कर अपराधी को दण्डित करना राजा का प्रमुख कार्य माना जाता था। **रामायण, महाभारत,** सारी **स्मृतियाँ** एवं **अर्थशास्त्र** आदि न्याय-शासन को राजा का प्रधान कर्तव्य बतलाते हैं। राजा की कचहरी या न्यायालय को धर्मासन, धर्मस्थान् या धर्माधिकरण कहा जाता था। **मृच्छकटिक** में न्यायालय के लिए **अधिकरण-मण्डप** तथा प्रधान न्यायाधीश के लिए **अधिकरणिक** कहा गया है। न्यायालय का अत्यन्त विकसित एवं आधुनिक रूप मृच्छकटिक में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है।[२] **स्मृतियाँ,** तथा **काव्यों** आदि के अवलोकन से यह बात प्रतीत होती है कि प्राचीन समय में दो प्रकार के **न्यायालय** होते थे—(१) राजा का न्यायालय तथा (२) मुख्य न्यायाधीश का न्यायालय[3]। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश माना जाता था।[४] मुख्य न्यायाधीश के न्यायालय का निर्णय राजा की अनुमति की प्राप्ति के लिए भेजा जाता था। किन्तु राजा के न्यायालय में भी, राजा की सहायता के लिए, धर्मस्थ (विधि-वेत्ता) रहा करते थे, जो राजा को सही निर्णय लेने में सहायक होते थे।[५]

न्यायाधीशों को **स्मृतियों** के अनुसार ही प्रायः निर्णय करना पड़ता था। छोटी जाति के व्यक्ति (जैसे चर्मकार आदि) भी न्याय के समान रूप से भागीदार थे।[६] न्याय-व्यवस्था के समय सभी जातियों के जनों के कुल, जाति तथा देश आदि के धर्मों पर दृष्टि रखी जाती थी। (मनु० ८।४१–४६)। उस काल में न्याय सस्ता तथा सर्वजनसुलभ था। न्याय के समक्ष छोटे-बड़े का विचार नहीं किया जाता था।

---

१. ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत्।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा॥ शान्ति० ८५।१२।

२. देखिये—मृच्छकटिक, अंक ९।

३. देखिये—याज्ञवल्क्यस्मृति तथा नारदस्मृति।

४. देखिये—मृच्छकटिक, पृष्ठ ६१७, डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी के द्वारा सम्पादित संस्करण।

५. रघुवंश—१७।३९। ६. मनुस्मृति ८।४१।

स्वायत्त ग्राम-संस्थाएँ

महाभारत तथा **मनुस्मृति**—ये दोनों ही ग्रन्थ–स्वायत्त-ग्राम-संस्थाओं के विषय में अक्षरशः एकमत हैं।[1] इनके अनुसार ग्राम में अपना शासन चलता रहता था। ग्राम का शासक **'ग्रामिक'** या **'ग्रामाधिपति'** कहलाता था। केन्द्र में चाहे जो भी शासन या शासक हो, उससे ग्राम-शासन पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ता था। ग्राम का स्थानीय शासन स्वतः संचालित होना था। ग्रामिक का कार्य द्विविध था। एक ओर तो वह गाँव के समग्र विषयों को देखता तथा सुलझाता था और दूसरी ओर गाँव के लोगों से राजा के लिए कर भी ग्रहण करता था। **कर, आक्रमण** तथा **रक्षा** आदि बातों के अतिरिक्त **केन्द्रीय शासन** किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था, वह केवल एक सामान्य नियन्त्रण भर रखता था। गाँव अपने आप में एक अति छोटे राज्य के रूप में कार्य करता था। केन्द्र ने अपने कतिपय अधिकार इन इकाइयों को सौंप दिये थे। **ग्राम-संस्था राष्ट्र** की न्यूनतम इकाई थी। इसके ऊपर फिर दश गाँवों की इकाई बनती थी। दश गाँवों के रक्षक को **'ग्रामदशेश'** कहा जाता था। इसके ऊपर बीस गाँवों की, सौ गाँवों की तथा सहस्र गाँवों की इकाइयाँ होती थीं।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि राज्य-संगठन में साधारण व्यक्तियों का भी योगदान रहा करता था।

धर्म-निरपेक्षता

'स्वस्वकर्मण्यभिरतः सिद्धिं विन्दति मानवः' अपने-अपने कर्म में रत रहता हुआ प्रत्येक प्राणी सफलता सहचरी का आसानी से संगम कर लेता है यह सिद्धान्त प्राचीन शासन-तन्त्र की प्रमुखतम विचारधाराओं में एक था। उस जमाने में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने कुल-धर्म, जाति-धर्म तथा देश-धर्म के अनुसार आचरण करे। राजा चाहे जिस मत का रहता रहा हो, पर वह अपनी प्रजा के धर्माचरण में कभी भी बाधा नहीं डालता था। अपनी शिक्षा, अपने परम्परा-प्राप्त आचार आदि के पालन एवं प्रचार के लिए प्रत्येक व्यक्ति को छूट थी।[2]

धर्म अथवा ला (Law)

इस निबन्ध में कई बार **धर्म** शब्द आया है। मानव-अधिकार के सन्दर्भ में धर्म शब्द को सुनकर कतिपय व्यक्ति यह विचार कर सकते हैं कि भारत के प्राचीन

---

१. देखिये–महाभारत, शान्तिपर्व ८७।३–१२ तथा मनुस्मृति ७।११६–१२०।

२. देखिये–मनुस्मृति ८।४१ तथा आगे एवं २।२० भी।
'स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ मनु० ७।३५

काल में **'मानव-स्वातन्त्र्य'** अथवा **'मानव-अधिकार'** नाम की कोई वस्तु न थी, अथवा उसका कोई खास मूल्य न था, क्योंकि उस समय शासन धर्म के आधार पर, मजहब के आधार पर सञ्चालित होता था। किन्तु यह बात निराधार है। शासन के सन्दर्भ में धर्म का अर्थ मजहब या एक वर्ग विशेष की मान्यता समझना भारी भूल होगी।

प्राचीन काल के साहित्य को देखने से यह विदित होता है कि उस समय शासन आदि सार्वजनीन कार्यों में प्रयुक्त **'धर्म'** किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं था, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता रहा, जो समाज के अङ्ग तथा व्यक्ति के रूप में मानव के कार्यों को व्यवस्थित करता हुआ समाज में मर्यादा की स्थापना करता था। इसको और सरल ढंग से समझाने के लिए कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में **धर्म, कानून, विधि, मर्यादा, दण्ड** तथा **ला** समानार्थक शब्द थे। **'दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः'** (मनु० ७।१८) दण्ड को ही विद्वानों ने धर्म की संज्ञा प्रदान की है।[1] जब हम धर्म एवं दण्ड या ला को समानार्थक मानते हैं, तभी यह बात भी सही ढंग से लग जाती है कि—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ मनु १।८५

अर्थात् **सत्ययुग** में धर्म कुछ दूसरे ही ढंग का रहा। **त्रेता** और **द्वापर** में इसके कुछ और ही रूप रहे तथा इस **कलियुग** में अन्य प्रकार के ही धर्म की व्यवस्था है। युग के अनुरूप धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है।

इस बात का समर्थन **महाभारत** तथा **बौधायनधर्मसूत्र** में भी होता है। इनके अनुसार **धर्म** तीन प्रकार का होता है—(१) **वेदोक्त,** (२) **धर्मशास्त्रों** के द्वारा कथित तथा (३) **परम्परा** या शिष्ट जनों से प्राप्त।[2] धर्म के ये तीनों ही स्रोत जब संगम को प्राप्त होते थे तभी महाधर्म रूप प्रयाग के स्वरूप का निर्माण होता था, जो सभी वर्ग के व्यक्तियों, यहाँ तक कि प्राणिमात्र के लिये भी शिरोधार्य हुआ करता था।

---

१. और देखिये—मनु० ७।१७, महाभारत १५।१०।
२. वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥ अनुशासनपर्व १४५।६५
त्रिविधं धर्मलक्षणम्। वनपर्व २०७।८३। उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्।......स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः। बौधायनधर्मसूत्र १।१।१-४।

स्त्रियों की अवस्था

स्वर्ग एवं अपवर्ग के मार्गभूत भारत के सुदूर अतीत के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्त्रियों को गौरवास्पद स्थिति प्राप्त थी। उन्हें अर्द्धांगिनी का दर्जा प्राप्त था। वे देवी कही जाती थीं। इस देश के धार्मिक साहित्य ने जहाँ एक ओर **विष्णु, शिव, गणेश** तथा **इन्द्र** आदि देवों की कल्पना की है वहीं उसने **दुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी** एवं **महासरस्वती** की भी आदरास्पद सत्ता स्वीकार की है। हमारे देश के दार्शनिकों ने भी शक्ति की कल्पना ब्रह्म से कम नहीं की है। यदि वे **काशी** में **शिव** की आराधना से मुक्ति की कामना करते थे तो **विन्ध्य** की उपत्यका में विराजमान **माँ दुर्गा** की अर्चना से **धर्म, अर्थ, काम** एवं **मोक्ष** की भी अभिलाषा रखते थे। यदि **हिमालय** की उत्तुङ्ग श्रृङ्खलाओं के मध्य **नर-नारायण** का दर्शन कर उन्हें शान्ति मिलती थी तो भारत के सुदूर दक्षिण **कन्याकुमारी** में तपस्यारत कुमारी **पार्वती** के समक्ष श्रद्धावनत हो, वे सारी मनोकामनाएँ पूरी करने की अभिलाषा रखते थे। इस तरह हम देखते हैं कि इस देश के अत्यन्त प्राचीन परिवेश में स्त्रियों का दर्जा प्रायः पुरुषों के ही समकक्ष था।

हमारे देश में **विवाह** एकमात्र ऐन्द्रिय सुख की तृप्ति के लिये ही न था। महर्षियों ने जिन कारणों से विवाह की आवश्यकता बतलाई है, उनमें धार्मिक कृत्यों का सम्पादन तथा पुत्रोत्पादन प्रमुख थे। धर्मपत्नी के बिना पुरुष अपूर्ण थे, उन्हें धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का पूर्ण अधिकार प्राप्त न था।[1] आखिर मर्यादापुरुषोत्तम **राम अश्वमेध** की याज्ञिक क्रिया तभी सम्पन्न कर सके, जब उन्होंने अपने वाम भाग में **सीता** की सुवर्णप्रतिमा स्थापित की। विवाह का दूसरा प्रमुख कारण था कालानुसार स्त्री के साथ निवास कर पुत्र उत्पन्न करना, क्योंकि इसके बिना कोई भी व्यक्ति **पितृ-ऋण** से उऋण नहीं माना जा सकता था। **ऐन्द्रिय सुख** तो विवाह का अन्तिम एवं निम्नतम कारण था।

स्त्री-शिक्षा

यह एक बहुत बड़ी विचित्र बात है, और बहुत लोगों को यह जानकर आश्चर्य भी होगा कि वर्तमान तथा मध्यकाल की अपेक्षा प्राचीनकाल में स्त्रियों की शैक्षणिक अवस्था कहीं दिव्य एवं भव्य थी। विश्व के उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** की कतिपय ऋचायें पूज्य भारतीय नारियों के द्वारा रची गई हैं। जिन भारतीय ललनाओं ने अपनी बौद्धिक परिपक्वता तथा मानसिक उच्च धरातलता के साथ

१. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। तैत्तिरीय ब्रा० २, २, २, ६।

अपनी कवित्व शक्ति से ऋग्वेद को समृद्ध कर महर्षियों की समकक्षता अर्जित की है, उनमें **'आपाला' 'घोषा काक्षीवती'** तथा **'विश्ववारा'** अग्रणी हैं। मिथिलाधिपति, अध्यात्मतत्त्ववेत्ता महाराज **जनक** की सभा के उज्ज्वल हीरक, अपने जमाने के बेजोड़ दार्शनिक **याज्ञवल्क्य** की दो स्त्रियाँ थीं, जिनमें **मैत्रेयी** अपते पति की ही भाँति सर्वदा सत्यज्ञान की खोज में ही रत रहा करती थी। किसी समय भौतिक सम्पत्ति की बात करने पर उसने अपने पति से कहा था—**'जिससे मैं अमर नहीं हो सकूँगी उससे मेरा क्या प्रयोजन।'**[१] महाराज जनक की ही सभा की मध्यमणि थीं महादेवी **गार्गी**। उस समय विरले हीं तार्किक, दार्शनिक व्यक्ति, अध्यात्मक्षेत्र के उत्तर प्रत्युत्तर कर्ताओं में अग्रणी, तेजस्वी व्यक्तित्व गार्गी के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस कर पाते थे। उसने दार्शनिक शिरोमणि **याज्ञवल्क्य** के भी दाँत खट्टे कर दिये थे। दिग्गज विद्वानों को भी उसका सामना करने पर दिग्भ्रम हो जाया करता था।[२]

वैदिक तथा दार्शनिक जगत् में अपनी प्रतिमा से जगती को आलोकित करने वाली इस धरती की नारियाँ लौकिक काव्य निर्माण में भी पुरुषों से पीछे न थीं। जिन कवियित्रियों ने अपनी कल्पना से संस्कृत-साहित्य को चतुर्दिक् श्रीसम्पन्न किया है उनमें **विज्जका, अवन्तिसुन्दरी** तथा **शीला भट्टारिका** आदि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

प्राचीन काल में पुरुषों की हीं भाँति स्त्रियों को भी उपनयन तथा वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। **स्मृतिकार हारीत** ने स्त्रियों के उपनयन तथा वेदाध्ययन सम्बन्धी अधिकार की व्याख्या दे रखी है। विश्व-विश्रुत भाषावैज्ञानिक **पाणिनि** ने भी **'आचार्या'** एवं **'उपाध्याया'** शब्दों के साधनार्थ व्युत्पत्ति दी है।[३] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्र एवं वार्तिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों की ही भाँति गुरुकुलों में देश-विदेश से आये हुए श्रद्धावनत शिष्यों को पढ़ाया करती थीं।

यदि हम भारत के अतीत काल के विषय में जरा सावधानी से विचार करने का प्रयास करें तो हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि उस काल में भी सामान्य रूप से नारियों में शिक्षा का प्रचुर प्रचार था। **गोभिलगृह्यसूत्र**[४] तथा **काठकगृह्यसूत्र**[५] से यह पता चलता है कि उस समय की दुलहिनें प्रायः शिक्षित हुआ करती थीं। वे अपने विवाह के अवसर पर वर के साथ ही मन्त्रोच्चारण किया करती थीं। स्पष्ट है कि

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१–३।
२. वही ३।७।८।
३. काशिका ४।१।५९ तथा ३।३।२१।
४. २।१।१९–२०।
५. २५–२३।

उस समय तक स्त्रियों को **वैदिक मन्त्रों** के उच्चारण का अधिकार उपलब्ध था। **कामसूत्र** से भी स्त्रियों की सामान्य शिक्षा का परिज्ञान होता है। आचार्य **वात्स्यायन** ने नवपरिणीताओं के प्रेम-पत्र की चर्चा की है। कविता-कामिनी के विलास महाकवि **कालिदास** के काल तक भी, आज की ही भाँति, प्रेम-पत्र की परिपाटी का पर्याप्त प्रचलन था। जगद्विदित नाटक **'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'** में नायिका **शकुन्तला** के द्वारा दुष्यन्त को प्रेम-पत्र लिखने की चर्चा की गई है।[1]

किन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जो नारियाँ मन्त्रद्रष्टा थीं, **ऋग्वेद** की निर्मात्री थीं, जो वैदिक ऋचाओं से दूसरों को पावन करने की क्षमता रखती थीं, पावन अवसरों पर जिन्हें वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, वे ही बाद में वैदिक साहित्य के प्रभाव के ह्रासोन्मुख होने पर तथा स्मृतियों के उद्गम काल तक आते-आते वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के भी अधिकार से वंचित कर दी गईं। उनका वेदाध्ययन तथा मन्त्रोच्चारण आदि का अधिकार छीन लिया गया। वेदों के अध्ययन तथा संस्कारों आदि की दृष्टि से उनकी गणना शूद्रों की श्रेणी में की जाने लगी। प्रायः सभी **स्मृतियाँ, पुराण** तथा **महाभारत** स्त्रियों के वेदाध्ययन के निषेध के बारे में एक मत हैं।[2] यद्यपि कालान्तर में स्त्रियों को वैदिक अधिकार से वंचित कर दिया गया था, किन्तु उनका सामान्य अध्ययन फिर भी अबाध गति से चलता रहा।

सहशिक्षा

इस देश में **संहिताकाल** से लेकर **सूत्र-काल** (६०० ई० पू० से ई० सन्० के आरम्भ) पर्यन्त स्त्री शिक्षा का प्रसार प्रचुरमात्रा में था। यतः स्त्री शिक्षा के लिये कहीं भी अलग विधान नहीं मिलता, इससे प्रतीत होता है कि बालक एवं बालिकाएँ सभी एक ही गुरु के समक्ष बैठकर साथ-साथ शिक्षा ग्रहण किया करते थे। गुरु से उपदेश पाते और अपने भविष्य का निर्माण करते थे। सह शिक्षा की झलक हम **भवभूति** के **'मालती माधव'** रूपक में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।[3]

विवाह

ऋग्वेद के परिशीलन से यह विदित होता है कि लड़कियों को स्वयं वर चुनने का अधिकार प्राप्त था।[4] इससे यह भी प्रतीत हो जाता है कि लड़कियाँ वयस्क हो

---

१. शाकुन्तलम्–३।१२–१३

२. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। भागवत १।४।२५।

३. 'अयि, किं न वेत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय नानादिगन्तवासिनां साहचर्यमासीत्।' (प्रथम अंक)। ४. ऋग्वेद १०।२७।१२।

जाने पर विवाह किया करती थीं। किन्तु वय-सम्बन्धी निश्चितता के विषय में कोई एक सुदृढ़ नियम न था। ऋग्वेद में ही अल्पवयस्का लड़कियों के विवाह के भी संकेत उपलब्ध होते हैं। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह जाया करती थीं।[१]

गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि उनके काल में युवती हो जाने के बाद ही स्त्रियों का विवाह होता था, क्योंकि विवाह के अनन्तर कतिपय दिनों के भीतर ही नवपरिणीता के साथ वर के संयोग-संभोग का आदेश मिलता है। वर्ष के भीतर ही पुत्रोत्पादन का आशीर्वाद प्रदान किया जाता था। ई० पू० ६०० से प्रथम शती तक प्रायः युवती स्त्रियाँ ही विवाहित होती थीं[२], किन्तु बाद में २०० ई० के लगभग (याज्ञवल्क्यस्मृति का काल) यौवन-प्राप्ति के पूर्व ही उनके विवाह का विधान मिलता है।

बहुपत्नीकता तथा बहुभर्तृकता

यद्यपि **वैदिक साहित्य** के आलोडन से यह बात सूर्य की भाँति प्रकाशित हो जाती है कि उन दिनों तक एक पत्नीकता का ही आदर्श था किन्तु बहुपत्नीकता के भी उदाहरण मिल ही जाते हैं। **ऋग्वेद** तथा **अथर्ववेद** में पत्नी के द्वारा सौत के प्रति अपने प्राण-प्रिय पति के प्रेम को घटाने के लिये, उसके आकर्षण को सौत की ओर से मोड़ने के लिये मन्त्र पढ़ा गया है।[३] ऋग्वेद से यह बात विदित होती है कि **इन्द्र** की कई रानियाँ थीं।[४] महाराज **हरिश्चन्द्र** की पूरी-पूरी एक सौ पत्नियाँ थीं।[५] बहुत सी पत्नियों को एक साथ रखने की यह भगोड़ी प्रथा केवल राजाओं-महाराजाओं तक ही परिसीमित न थी। आर्थिक दृष्टि से सामान्य व्यक्ति भी एक से अधिक पत्नियों का आनन्द लेना चाहते थे। मिथिला के प्रसिद्ध दार्शनिक **याज्ञवल्क्य** की दो पत्नियाँ थीं—**कात्यायनी** एवं **मैत्रेयी**।

सांसारिक सुखों की अभिलाषा-रज्जु प्रत्येक प्राणी के हृदय को जकड़ कर जड़ बना देती है। यद्यपि एक से अधिक पत्नी पालने की प्रथा **ऋग्वेद** से वर्तमान काल तक अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होती है, तथापि **संहिता-काल** से लेकर **सूत्र-काल** तथा

---

१. साऽहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥ महाभारत, १२, ३२५, १०३।

२. वाल्मीकि रामायण २।११९।३४।

३. ऋग्वेद १०।१४५ तथा अथर्ववेद ३।१८।

४. ऋग्वेद १०।१५९।

५. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१।

बाद के साहित्य में भी एक विवाह आदर्श माना गया है। स्वयं ऋग्वेद में भी बहुत-सी स्त्रियों को रखना महान् कष्टकारक बतलाया गया है।

जिस प्रकार एक पुरुष एक ही समय में एक से अधिक पत्नियों को रख सकता था, उनसे अपना मनोरंजन कर सकता था, उसी प्रकार स्त्रियों को एक साथ एक से अधिक पति रखने का अधिकार प्राप्त न था। **तैत्तिरीय संहिता**[1] एवं **ऐतरेय ब्राह्मण**[2] के अध्ययन से यह बात सुस्पष्ट विदित होती है कि उनके प्रणयन-काल तक भारत-वसुन्धरा पर कहीं भी बहुभर्तृकता का पता नहीं था। एक मात्र **द्रौपदी** के उदाहरण को छोड़कर समग्र संस्कृत साहित्य में एक भी ऐसा स्थल नहीं है, जिससे बहुभर्तृकता का पता चल सके अथवा समर्थन हो। **महाभारत** में यह स्पष्ट लिखा है कि जब लोगों को इस बात का पता चला कि **युधिष्ठिर** ने **द्रौपदी** को सभों भाइयों की पत्नी मान लिया है, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनके लिये यह एकदम अस्वाभाविक तथा विधान-विहीन बात थी। जब युधिष्ठिर को यह समझाने का प्रबल प्रयास किया गया कि इस तरह की बात अव्यावहारिक तथा परम्परा विरुद्ध है, तब उन्होंने उत्तर दिया—इस तरह का कार्य पहले भी होता था। अपने पक्ष के समर्थन के लिये उन्होंने दो उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि—**'जटिला गौतमी'** सप्तर्षियों की पत्नी थी तथा सभी दश **प्राचेतस भाई, वार्क्षी** के पति थे। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण महाभारत के उक्त स्थल को छोड़कर और कहीं नहीं मिलते। अतः इनकी ऐतिहासिकता को असंदिग्ध नहीं माना जा सकता। तत्कालीन समाज बहुभर्तृकता की प्रथा को निन्दनीय मानता था। सभा पर्व में **कर्ण** ने **द्रौपदी** को वेश्या कहा है, क्योंकि वह एक साथ पाँच पाण्डवों की पत्नी थी।

अन्तर्जातीय विवाह

अन्तर्जातीय विवाह सूत्र **ग्रन्थों** के काल तक वैध प्रतीत होते हैं।[3] **वसिष्ठ धर्मसूत्र** के अनुसार **शूद्र स्त्री** के साथ **उच्चवर्ण** के व्यक्ति विवाह कर सकते थे। किन्तु इस तरह का विवाह धार्मिक कृत्य के लिये नहीं अपितु आमोद-प्रमोद के लिये, सांसारिक आनन्द के लिये हुआ करता था। धार्मिक कृत्य का सम्पादन तो उच्चवर्ण का व्यक्ति सवर्णा स्त्री के साथ ही करने का अधिकारी था।[4] किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि **सूत्रकाल** या सूत्रकाल से पूर्व भी अन्तर्जातीय विवाह स्वाभाविक एवं

---

१. तैत्तिरीय संहिता ६।६।४।३, ६।५।२।४। २. ऐतरेय ब्राह्मण १२।११।
३. विष्णुधर्मसूत्र २६।१–४। ४. वसिष्ठधर्मसूत्र १८।१८।

सामान्य रूप से प्रचलित न थे। जब कोई शूद्रा कन्या अत्यन्त सुन्दरी हो, उसके सौन्दर्य, शरीर गठन तथा गुणों की चर्चा चतुर्दिक् प्रसरित हो रही हो, तभी कोई उच्चवर्ण का व्यक्ति उसे अङ्गीकार करता था।[1] आखिर आमोद-प्रमोद कूड़ा-कर्कट से नहीं, अपितु चित्ताकर्षक वस्तुओं से ही तो होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह के नाम पर जो कुछ छूट दी गई है उसका केवल इतना ही अर्थ है कि उच्च वर्ण के व्यक्ति निम्नवर्ण की स्त्री से विवाह कर सकते थे। कोई भी **शूद्र उच्च वर्ण** की कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी न था।[2]

विवाहादि सम्बन्धी यह उदारता **सूत्र काल** के बाद क्रमशः लुप्त होती गई और **स्मृतियों** तथा **पुराणों** के समय तक आते-आते विवाह सम्बन्धी कठोर नियम बन चुके थे। यद्यपि मनुस्मृति में अन्तर्जातीय विवाह की झाँकी यत्र-तत्र देखी जा सकती है, किन्तु कुल मिलाकर जोड़ने-घटाने पर निषेध पक्ष ही प्रबल प्रतीत होता है।[3]

विधवा-विवाह

हिन्दू समाज में **ऋग्वेद** से लेकर आज तक विधवा स्त्रियों की दशा में कुछ विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया है। **ऋग्वेद** में विधवा की जो कुछ धूमिल झाँकी मिलती है उससे विदित होता है कि वे समाज की उपेक्षिता महिलाएँ थीं। समाज के अवांछनीय तत्त्वों से उन्हें सर्वदा भय बना रहता था। **धर्मशास्त्रों** तथा **पुराणों** से विदित होता है कि उन दिनों विधवा स्त्रियों का जीवन कठोर तपस्या का जीवन था। शृङ्गार तथा प्रसाधन की बात तो दूर रही, भर पेट भोजन और आराम की नींद भी उन्हें दुर्लभ थी। तपस्या की तपती आग में शरीर को सुखाकर काँटा बना देना, सौन्दर्य की विकसती कली को भूख की ज्वाला में झुलसा कर सुखा देना ही उनका धर्म था। विवाहादि मांगलिक उत्सवों में उनका दर्शन धूमकेतु की भाँति अमंगलकारी समझा जाता था। यात्रा के आरम्भ में यदि वे सामने आ जायँ तो उनका मिलन सियारिन के दर्शन की तरह अपशकुन माना जाता था। केवल जीवन यात्रा को चलाने भर के लिये आवश्यक सम्पत्ति पर ही उनका अधिकार था। शास्त्रों में विधवा-विवाह के लिये यत्र तत्र चर्चा पाई जाती है।[4] परन्तु इस प्रकार की चर्चा

---

१. स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ मनुस्मृति २।२३८। २. देखिये—मनुस्मृति ३।१३।

३. न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ मनु० ३।१४।

४. को वां शयुत्रा विधवेव देवरम्। ऋग्वेद १०।४०।२।
नारी तु पत्यभावे वै देवरं कृणुते पतिम्। महाभारत १३।१२।१९।

केवल कुछ अपवाद मात्र है, सूखते हुए वंशवृक्ष को पुनरुज्जीवित करने के लिये प्रयास मात्र है। **धर्मशास्त्रकारों** का बहुमत **विधवाओं** के तपस्वी जीवन का ही पक्षपाती था।

स्त्रियों के कुछ विशेषाधिकार

कुछ माने में भारतीय स्त्रियों कों पुरुषों की अपेक्षा विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों की हत्या नहीं की जा सकती थी। मार्ग आदि में उन्हें आगे निकल जाने का अवसर प्रदान किया जाता था। **पतित व्यक्ति** का **पुत्र पतित** माना जाता था, किन्तु **पतित की कन्या पतित** नहीं समझी जाती थी, वह स्वाभाविक रूप से समाज-ग्राह्य थी।[1] समान अपराध के लिये स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा आधा ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था। **ब्राह्मणों** की भाँति **स्त्रियाँ** भी करमुक्त थीं।[2] घाट आदि की उतराई में भी उन्हें कोई कर नहीं देना पड़ता था। स्त्री-धन के अधिकार में पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों को प्रमुखता प्राप्त थी। (मनु० ९।१३१)।

जहाँ तक पारिवारिक परिवेश में स्त्री के अधिकार की बात है, उसका स्थान असंदिग्धरूप से सर्वोपरि था। **'गृहिणीगृहमुच्यते'** पत्नी को **'गृह'** ही कहा जाता था। वह घर की सार्वभौम साम्राज्ञी थी, परिवार के सदस्यों को उचित पुरस्कार प्रदाता थी। उसका गौरव पिता के गौरव से एक हजार गुना अधिक था।[3] घर का दैनन्दिन एवं वार्षिक वजट उसके हाथों में रहता था। उसे घर की सारी सूक्ष्म बातें ज्ञात रहा करती थीं।[4]

दाय-भाग

मनु के अनुसार दाय-भाग की दृष्टि से पुत्री एवं पुत्र समान थे, दोनों ही दाय के अधिकारी थे। किन्तु अन्य प्रसंगों के विवरण से पता चलता है कि पुत्र की अनुपस्थिति में ही पुत्री को दाय-भाग की अधिकारिणी माना जाता था। पुत्र के अभाव में पुत्री के रहते कोई अन्य सम्बन्धी आदि किसी व्यक्ति के धन का अधिकारी नहीं माना जाता था।[5]

---

१. वशिष्ठधर्मसूत्र १३।५१–५३, आप० ध० सू० २।६।१३।४; आदि।
२. आप० ध० सू० २।१०।२६।१०–११।
३. सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते। मनु० २।१४५।
४. महाभारत, वनपर्व (अ० २३३) और कामसूत्र (६।१।३२)।
५. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥ मनु० ९।१३०।

वस्तुतः ऐसी परम्परा वैदिक काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उदाहरणार्थ **ऋग्वेद में उषा** की उपमा उस नारी से दी गई है, जो भ्राता के अभाव में पिता के धन को प्राप्त करती है। (ऋग्वेद १।१२४)

स्त्रियाँ राज्य-शासन की भी अधिकारिणी हुआ करती थीं। **रामायण में राम के वन गमन** की बात उपस्थित होने पर **सीता** को सिंहासन देने की बात आई है।[१] **महाभारत** में **भीष्म** ने **युधिष्ठिर** को सलाह दी है कि—युद्ध में मृत राजाओं को यदि कोई **पुत्र** न हो तो उनकी **पुत्रियों** को सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया जाय।[२] रघुवंश के अनुसार **अग्निवर्ष** की मृत्यु के बाद उसकी **पटरानी** सिंहासन पर बैठी थीं।[३]

शूद्रों की स्थिति

संसार को नियमित एवं सन्तुलित रूप से चलाने के लिये वैदिक साहित्य के **आरम्भिक** काल से ही समूचे समाज को चार वर्गों या वर्णों में विभक्त पाया जाता है। इन वर्णों की उत्पत्ति की कल्पना वैदिक साहित्य के कुछ विलक्षण ढंग से ही की गई है। इसके अनुसार आदि पुरुष विष्णु के मुख से ब्राह्मणों, बाहुओं से क्षत्रियों, जाँघों से वैश्यों तथा पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। वर्णों की उत्पत्ति विषयक यह कल्पना संहिताकाल से आरम्भ कर स्मृति-ग्रन्थों तथा पुराणों के काल तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती चली आई है।[४] समग्र संस्कृत-साहित्य वर्णों की उत्पत्ति-विषयक इसी विचारधारा से उद्वेलित है।

शूद्र समाज का वह निकृष्ट वर्ग माना जाता रहा है, जिसका कर्तव्य था द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की परिचर्या। परिचर्या के लिये ही वह प्रजापति के द्वारा रचा गया है। यही उसका शास्त्रविहित कर्म है। धनसंचय का अधिकार शूद्र को नहीं था। धार्मिक कार्य के सम्पादन में भी वह स्वतन्त्र न था। इसके लिये उसे राजा से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। स्वामी के द्वारा धारण कर छोड़ी गई वस्तुएँ ही उसका धन था। शूद्र का अपना कोई धन नहीं था। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार था। यह स्वामी का ही पावन कर्तव्य था कि वह अपनी शुश्रूषा में लगे शूद्र के समूचे परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था करे।[५]

---

१. देखिये—२।३७।३८। २. देखिये—१२।३२।२३। ३. देखिये—१९।५५।
४. देखिये—मनु० १।८७। तथा भागवत ११।५।२।
५. देखिये—महाभारत, शान्तिपर्व, ६०।२८-३७।

शूद्र एवं शिक्षा

शूद्र वेद वहिष्कृत था। उसे वेद पढ़ने का अधिकार बिलकुल प्राप्त न था। वह **इतिहास पुराण** आदि सुन सकता था। व्यासासन पर बैठ कर इतिहास-पुराण आदि की व्याख्या करने का अधिकार शूद्र को नहीं प्राप्त था। यतः वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार शूद्र को प्राप्त न था, अतः वह वैदिक यज्ञों को भी करने का अधिकारी न था। शूद्र की नियमित शिक्षा का कहीं विस्तृत निर्देश उपलब्ध नहीं होता। वह हस्तशिल्प आदि की शिक्षा किसी गुरु से ले सकता था। किन्तु कोई भी उच्च वर्ण का व्यक्ति किसी शूद्र को किसी भी तरह की शिक्षा के लिये अपना शिष्य नहीं बनाता था। अपने जमाने के बेजोड़ धनुर्धर, धनुर्विद्या के परमाचार्य **आचार्य द्रोण** ब्राह्मण थे। उन्होंने धनुर्विद्या की शिक्षा लेने के लिये श्रद्धा के साथ अपने पास आये हुए भील कुमार **एकलव्य** को इसलिये अस्वीकार कर दिया था, क्योंकि वह **शूद्र** था। **वेदों, उपनिषदों** तथा **स्मृतियों** आदि के अध्ययन में **शूद्र** का अधिकार न था।

समूचे संस्कृत-साहित्य में, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, एक भी शूद्र आचार्य का पता नहीं चलता, जिससे शिष्य-गण विद्याध्ययन करते रहे हों। हाँ **मनुस्मृति**[1] में अत्यन्त क्षीण यह संकेत अवश्य मिलता है कि जब तब जहाँ-तहाँ कोई **अध्यात्म-तत्त्वोपदेष्टा** शूद्र हो जाता है, जिससे उच्च वर्ण के लोगों को भी कल्याणकारी ज्ञान ले लेना चाहिये। किन्तु यह केवल धर्म व्यवस्थामात्र प्रतीत होती है।

शूद्र का यज्ञ एवं देवपूजा सम्बन्धी अधिकार

आरम्भ में **शूद्रों** के **यज्ञ** एवं **देवपूजा** आदि के विषय में कुछ अधिक कठोर नियम न थे। **ब्राह्मण क्षत्रिय** एवं **वैश्य** की भाँति **शूद्र** भी यज्ञ कर अपने लिये स्वर्ग की सीढ़ी का निर्माण कर सकता था, देवपूजा कर मुक्ति के द्वार तक पहुँच सकता था। **बादरि** नामक एक प्राचीन आचार्य ने लिखा है कि **शूद्र** भी **यज्ञ** कर सकते हैं[2]। **भारद्वाजश्रौतसूत्र** ने कुछ प्राचीन आचार्यों का मत प्रकाशित किया है, जिसके अनुसार **शूद्र** भी तीनों **वैदिक अग्नि** जलाकर अपने त्रिविध तापों का उपशमन कर सकते थे[3]। **महाभारत** के अनुसार तीनों वर्णों की भाँति **शूद्र** भी **यज्ञ** कर सकता था। किन्तु उसे स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का अधिकार प्राप्त न था। वह यज्ञ (पाकयज्ञ) की समाप्ति पर यथेच्छ दक्षिणा भी दे सकता था।

---

१. देखिये—मनु० २।२३८ और उसपर कुल्लूकभट्ट की टीका।

२. 'निमित्तार्थेन वादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात्।' जैमिनी १।३।२७।

३. भारद्वाजश्रौतसूत्र ५।२।८।

महाभारत के अनुसार **पैजवन** नामक एक **शूद्र** ने **ऐन्द्राग्न यज्ञ** की समाप्ति पर दक्षिणा के रूप में एक लाख पूर्णपात्र दान किया था।[1]

पैजवन शूद्र की एक बहुत महत्त्वपूर्ण कथा **स्कन्दपुराण** के ब्राह्म खण्ड में आती है। कथा का अतिसंक्षिप्त प्रारूप इस प्रकार है—**पैजवन** विष्णु एवं ब्राह्मणों का पूजक था। उसके पास विशाल सम्पत्ति थी। उसका व्यापार अपने देश के भीतर तथा बाहर भी चला करता था। सम्पत्ति देकर वह दूसरे लोगों को भी व्यापार करने की प्रेरणा दिया करता था। व्यापार से उसने विपुल सम्पत्ति अर्जित की थी। वह नित्य **देव-पूजा** करता तथा दान देता था। देवमन्दिरों का भी वह निर्माण करवाता था। एक बार उसके घर **गालव मुनि** पधारे। उन्होंने **पैजवन** से कहा—'चातुर्मास्य में तुम्हें विष्णु की कथा का सेवन करना चाहिए, विष्णु की स्तुति, पूजा ध्यान और शालग्राम की अर्चना भी करनी चाहिए।' इस पर पैजवन शूद्र ने कहा—'मैं शूद्र हूँ। अतः **शालग्राम विष्णु** की पूजा कैसे कर सकता हूँ?' **गालव** मुनि ने व्यवस्था की—**'ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की भाँति सदाचारी शूद्र भी शालग्राम—शिला की पूजा कर सकता है।'**

इस कथानक से जो कतिपय तथ्य सामने आते हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि शूद्रों को वेदों के अध्ययन एवं उनके मन्त्रोच्चारण का अधिकार महाभारत के समय तक पहुँचते पहुँचते समाप्त हो चुका था। किन्तु यज्ञ करने, दक्षिणा देने, एवं मूर्ति पूजा आदि का अधिकार शूद्रों को भी ब्राह्मण आदि के समान ही उपलब्ध था। वे उस तरह अछूत न थे जैसा कि कालान्तर में व्यवहार किया जाने लगा। स्मृति-कारों ने शूद्रों को कूप, बावली आदि के निर्माण कराने तथा मन्त्रों के बिना कुछ सामान्य धार्मिक कृत्यों के संपादन का ही अधिकार प्रदान किया है। शूद्र एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही ग्रहण करने का अधिकारी था।

शूद्र एवं सरकारी नौकरियाँ और न्यायालय

अन्य वर्णों की भाँति शूद्र भी सरकारी नौकरियों में स्थान पा सकते और समानता के अधिकार के साथ रह सकते थे। कम से कम सरकारी सेना में तो उनकी ऐसी ही स्थिति थी।[2] सम्भवतः राजा की सेनाओं में एक दल **शूद्र सेना** का भी रहता था।[3]

प्राचीन समय में न्यायालयों की भी समुचित व्यवस्था थी। इन न्यायालयों में देश की सारी प्रजा अपने लिये न्याय की माँग कर सकती थी। न्यायालय के समक्ष

१. शान्तिपर्व ६०।३९।　　२. देखिये–मृच्छकटिक ६।२३।　　३. कौटिल्य–९।२।

ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न था। न्यायालय की तुला सबके लिये समान रूप से सुलभ थी।

शूद्र राज्य कार्य के संचालन में भी सहयोग करता था। वह राजा की मन्त्रि-परिषद् का भी सदस्य होता था, जैसा कि हमने पीछे के प्रकरण में देखा है।

शूद्रों को जहाँ एक ओर कतिपय बातों में उच्च वर्णों के समान अधिकार प्राप्त नहीं थे, वहीं उन्हें कुछ विशिष्ट सुविधाएँ भी सुलभ थीं। शूद्र, ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के कुछ विशिष्ट व्यवसायों को छोड़कर कोई भी व्यवसाय कर सकते थे। वह कुछ भी खा-पी सकते थे। निषिद्ध भोजन खा लेने पर भी उन्हें प्रायश्चित्त से शुद्ध होने की आवश्यकता न थी। वे विवाह के अतिरिक्त अन्य संस्कारों के विशाल जंजाल से भी मुक्त थे। उनके समक्ष गोत्र-प्रवर की झंझट भी न थी। शास्त्रविरुद्ध आचरण करने पर भी उन्हें प्रायश्चित करने की आवश्यकता न थी।

• • •

भारतीय धर्म-दर्शन का स्वर सामाजिक समता अथवा विषमता ?

डॉ हर्षनारायण

भारतीय दर्शन भारतीय धर्मरूपी अवयवी का प्रायः अवयव-विशेष मात्र है, **धर्म** से व्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं । अतः लोकयात्रा, लोकव्यवहार के विषय में दर्शन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में धर्म की व्यवस्था को मान कर चलता है, धर्म के अनुवदन के अतिरिक्त अपनी ओर से विशेष कुछ नहीं कहता । और तो और, जिसे **चार्वाक** अथवा **लोकायत**दर्शन कहा जाता है वह भी लोकयात्रा का नियमन, कर्तव्याकर्तव्य का व्यवस्थापन, नहीं करता, जिससे उसे **जयन्तभट्ट** का यह उपालम्भ सुनना पड़ा है—

न हि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते ।
वैतण्डिककथैवासौ, न पुनः कश्चिदागमः ॥[1]

अर्थात् लोकायत में कर्तव्याकर्तव्य का विधान नहीं पाया जाता, अतः वह **आगम** नहीं प्रत्युत **वितण्डावाद** मात्र है। जयन्त बौद्धों पर भी इसी प्रकार का उपालम्भ करता है—**'बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चण्डालादि-स्पर्शं परिहरन्ति ।'**[2] अर्थात् बौद्ध आदि को भी स्पृश्यास्पृश्य-निर्णयार्थ वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है, इनके पास तत्सम्बन्धी अपना कोई विधान नहीं । **वाचस्पति-मिश्र** इसी स्वर में लिखते हैं—**'न चैतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवः; नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति । न हि प्रमाणीकृतबौद्धागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणनिरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते; अपि तु तेऽपि "सांवृतमेतद्" इति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीन्येवानुसरन्ति ।'**[3] अर्थात् बौद्धागम में लोकव्यवस्था, अन्त्येष्टि आदि क्रिया के सम्बन्ध में कोई विधान नहीं, अतः उन्हें भी लोकयात्रा, लोकसंवृति, का निर्वाह वेदशास्त्र के आधार पर ही करने को बाध्य होना पड़ता है । अतः सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन के आकलनार्थ दर्शन-सहकृत आगम अथवा धर्म-व्यवस्था का विश्लेषण अपेक्षित है ।

---

१. न्यायमञ्जरी, प्रमाण-प्रकरण, पृ० २४७; २. तत्रैव, पृ० २४३ ।
३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २।१।६८, पृ० ४३२ ।

विरुद्धधर्माश्रयत्व

भारतीय प्रतिभा की विशेषता है उसका विरुद्धधर्माश्रयत्व। इसे हृदयङ्गम किये बिना प्रस्तुत प्रकरण को प्रकृत परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

मुफ़्ती सद्रुऽद्-दीन आज़ुर्दः ने उर्दू के महान् कवि **मीर तक़ी मीर** के विषय में कहा था, **पस्त-श ब-ग़ायत पस्त व बलन्द-श ब-ग़ायत बलन्द,** अर्थात् मीर का निकृष्ट निकृष्टतम है और उत्कृष्ट उत्कृष्टतम है। मैं समझता हूँ कि कुछ ऐसी ही उक्ति भारतीय धर्म-दर्शन के विषय में भी चरितार्थ होती है।

मौलाना **अबुऽल-कलामआज़ाद** ने अपने **तर्जुमानुऽल्-क़ुर्आन**-शीर्षक क़ुर्आन-भाष्य में एक पते की बात कही है—'यहाँ फ़िक्र (= चिन्तन) व अक़ीदः (= सिद्धान्त) को कोई बलन्दी (= उच्चता) भी वह्म (= अन्धविश्वास) व जिहालत (= मूढता) की गिरावट से अपने-आप को मह्फ़ूज़ (= सुरक्षित) न रख सकी, और इ़ल्म (= विद्या) व अक़्ल (= बुद्धि) और वह्म व जिह्ल (= मूढता) में हमेशा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी दिमाग़ की शक्ल व सूरत बिगाड़ दी। उसकी फ़िक्री तरक़्क़ियों का तमाम ह़ुस्न (= सौन्दर्य) अस्नामी (प्रतिमोपासना-सम्बन्धी) अक़ीदों के गर्द व ग़ुबार में छुप गया।'[1] **महमूदग़ज़नवी** का सभ्य अप्रतिम भारतविद् **अबू रीहान अल्-बैरूनी** लिखता है कि हिन्दू प्रतिभा ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों-आदर्शों और घटिया से घटिया मूढग्राहों की ऐसी खिचड़ी पकाती है कि ज्ञान और अज्ञान में कोई भेद ही नहीं रह जाता, मानो किसी शिशु के सामने हीरे-मोती तथा कंकड़-पत्थर पड़े हैं और वह उन्हें गड्डमड्ड कर दे रहा है। **अल्-बैरूनी** के अनुसार इस देश में **सुक़रात** के समान कोई नीर-क्षीर-विवेकी सुधारक नहीं उत्पन्न हुआ जो संस्कृति का संस्कार कर सके। फलतः यहाँ बड़े से बड़ा धर्माचार्य भी लोक में व्याप्त कुरीतियों और मूढग्राहों पर कभी प्रहार नहीं करता (राजा राममोहन राय, दयानन्द, प्रभृति आधुनिकों की बात जाने दीजिए)। यहाँ जो उचित अथवा अनुचित प्रथा एक बार चल पड़ी, वह स्थायी हो गयी। मेरी एक स्वोपज्ञ कारिका है—

सुरीतयः-कुरीतयः, सुदृष्टयः-कुदृष्टयो,
भवन्ति तस्य चेत् सकृद्, भवन्ति शश्वदस्य वै।
विभागतस् तथा पुनर् द्वयोश् च सत्त्व-सत्ययोः
परापर-प्रभेदतो द्विधाऽस्य व्यक्तिताऽजनि॥[2]

---

१. अबुऽल्-कलाम आज़ाद, तर्जुमानुऽल्-क़ुर्आन, खण्ड १, पृ० १६८–१७०।
२. हर्षनारायण, हिन्दुत्व-सर्वस्वम् (अप्रकाशित)।

ग्रेशम का प्रसिद्ध अर्थशास्त्रीय नियम है कि बाज़ार में चलने वाला खोटा-सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है। किसी ने धार्मिक विषयों में भी ग्रेशम के नियम को चरितार्थ माना है। इसके अनुसार धर्म में जब श्रेष्ठ और गर्ह्य, बढ़िया और घटिया का साङ्कर्य होता है तो अन्ततः गर्ह्य श्रेष्ठ को खदेड़ देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे खोटा सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है और भारत में यही होता रहा है।

दो सत्यों की अवधारणा

उक्त अन्तर्विरोध का मूल बहुत-कुछ भारतीयों की दो सत्यों की अवधारणा में मिलेगा। भारतीय चिन्ताधारा की प्रमुख विशेषता रही है सत्यद्वय में स्वस्थ समन्वय और सहकार की सिद्धि की अक्षमता। बात जरा कटु लगेगी, किन्तु है विचारणीय। **परमार्थ** और **व्यवहार** में यहाँ साङ्कर्य होता रहा है, **समन्वय** अथवा **सहकार** नहीं।

वस्तुतः परमार्थ और व्यवहार का द्वैत हमारी घुट्टी में पड़ा है। प्रायः सभी प्रमुख भारतीय दर्शन इसे मान कर ही नहीं, इसे किसी न किसी रूप में केन्द्र में रख कर चलते हैं। **वेदान्त** और **महायान** का तो इसे मेरुदण्ड ही समझिये, अन्य दर्शनों में भी यह किसी न किसी ओर से प्रविष्ट हो गया है। जो **वैष्णव-वेदान्ती** प्रपञ्च को **ब्रह्मात्मक** मानकर सत्य और संसार को अहन्ताममतात्मक मानकर मिथ्याभूत घोषित करते हैं[१] वे प्रकारान्तर से **सत्यद्वय** ही की तो उपस्थापना करते हैं। परमार्थ और व्यवहार का द्वैत **जैन दर्शन** में **केवलज्ञान** और **स्याद्वाद** के द्वैत का रूप लेता है।[२] **पालि**-बौद्धदर्शन में **'परमत्थ'** और **'सम्मुति'** सत्यों का भेद स्वीकृत है।[३] **'संवृति'** (सम्मुच्चा) का प्रयोग पालि-निकाय में 'लोक-सम्मति' के अर्थ में मिलता ही है।[४] उसमें 'नीतत्थ-सुत्त' और 'नेयत्थ-सुत्त' का भेद प्राप्त होता है[५], जिसके मूल में सत्यद्वय की भावना स्पष्ट देखी जा सकती है। **बुद्ध** कहा करते थे कि मैं लोक से विवाद नहीं करता, लोक ही मुझसे विवाद करता है—**'नाहं भिक्खवे ! लोकेन विवदामि, लोको व मया विवदति। न भिक्खवे ! धम्मवादी केनचि लोकस्मि विवदति।'**[६] इस वचन के मूल में भी लोकसंवृति-सत्य की कल्पना का आभास मिलता है। **काश्मीर-वैभाषिक वसुबन्धु** भी परमार्थ और संवृति का भेद स्वीकार करता है।[७]

---

१. प्रमेयरत्नार्णव, पृ० २५। २. आप्तमीमांसा १०५।
३. अभिधम्मत्थ-सङ्गहो, द्वितीय भाग, पृ० ७९६, टिप्पणी १ में उदाहृत कथावत्थु-अट्ठकथा।
४. मज्झिम-निकाय, मज्झिम-पण्णासक, सुभ-सुत्त, पृ० ४७४।
५. अङ्गुत्तर-निकाय, भाग १, पृ० ५७।
६. संयुत्त-निकाय, खन्ध-वग्गो (पुप्फ-सुत्त), पृ० ३५६। तु० मध्यमक-वृत्ति १८८, पृ० १५७।
७. अभिधर्मकोश ६.४.९४।

मक्खलिगोसाल के अनुयायी **आजीविक** सत् और सत्य को तीन राशियों, तीन कोटियों—सत्, असत् और सदसत्—में विभक्त करने के कारण त्रैराशिक कहे जाते हैं। उनका नय सिद्धान्त भी सत्यद्वय का परामर्श करता है। उनके **नय** तीन हैं—**द्रव्यास्तिक** नय, **पर्यायास्तिक** नय और **उभयास्तिक** नय—जो एक ही वस्तु के प्रति तीन दृष्टियाँ, तीन दृष्टिकोण हैं।[1] लोकायतमतावलम्बी **जयराशिभट्ट** भी सत्यद्वैत को मान्यता देता है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। वह परमार्थ और व्यवहार ('लोक-व्यवहार', 'लौकिक मार्ग') के द्वैत की ओर इङ्गित करते हुए लिखता है कि लोक-व्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान हैं—

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बाल-पण्डितौ।[2]

साङ्ख्य-दर्शन के अनुसार बन्धन और मोक्ष केवल प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं[3], यद्यपि वह (व्यवहारतः) प्रकृति नहीं प्रत्युत पुरुष के बन्धन और मोक्ष की चर्चा से आरम्भ करता है।[4] यह परमार्थतः प्रतीति और व्यवहारतः प्रतीति में भेद की ओर ही संकेत नहीं तो और क्या है ? **न्याय-वैशेषिक दर्शन** भी उपनिषद् को अध्यात्मविद्या मानता और उसमें अपनी आस्था का सङ्केत करता है।[5] और **उपनिषद्** में 'सत्य' और 'सत्यस्य सत्यं', 'अविद्या' और 'विद्या', 'अपरा' विद्या और 'परा' विद्या, का भेद सर्वविदित ही है। इसके अतिरिक्त **राधामोहन गोस्वामी भट्टाचार्य** और **विट्ठलेशोपाध्याय** द्वारा परिगृहीत पाठ के अनुसार **न्यायसूत्र** के चतुर्थ अध्याय का अन्तिम, ५२ वाँ सूत्र है **'तत्त्वं तु बादरायणात्'**, अर्थात् तत्त्वज्ञान के लिए बादरायणीय **ब्रह्मसूत्र** की ओर उन्मुख होना चाहिए।[6] यदि यह सूत्र प्रामाणिक है तो मानना होगा कि **न्यायसूत्र** में परमार्थ-सत्य का नहीं, व्यवहार-सत्य का प्रतिपादन हुआ है। जैमिनीय **मीमांसा-सूत्र** में ईश्वर का सर्वथा अनुल्लेख है, किन्तु बादरायण ने जैमिनी से जो उदाहरण लिये हैं उनसे प्रतीत होता है कि जैमिनी ईश्वरवादी-ब्रह्मवादी आचार्य थे। यहाँ इसके विवरण का अवकाश नहीं, अतः हम पाठक से **ब्रह्मसूत्र** के **जैमिनि-विषयक** सूत्रों[7] के अवलोकन का आग्रह करके विराम लेते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम अन्यत्र दिखला चुके हैं[8], **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** मूलतः एक

---

१. नन्दी-सूत्र (लुधियाना : आत्माराम जैन, १९६६), पृ० ३३० (हिन्दी व्याख्या में उदाहृत)
२. तत्त्वोपप्लवसिंह, पृ० १।
३. साङ्ख्य-कारिका ६२।
४. तत्रैव १७ और आगे।
५. वात्स्यायन-भाष्य १.१.१, पृ० ३।
६. न्यायसूत्र-विवरण ४.२.५२; अद्वैतसिद्धि-गौडब्रह्मानन्दी।
७. मीमांसा-सूत्र १.२.२८,३१; १.४.१८; ४.३.११–१४; ४.४.५।
८. हर्षनारायण, 'वेदान्त-वाङ्मय : एक विवेचन', दार्शनिक त्रैमासिक २९, ३ (जुलाई, १९७३)।

ही कृति के दो अङ्ग हैं। अतः मीमांसा भी दो सत्यों को स्वीकार करती प्रतीत होती है। **कुमारिल भट्ट** व्योमशरीर, 'खं ब्रह्म' पदवाच्य परमात्मा को एकमात्र तत्त्व और वेदात्मक शब्द-ब्रह्म का अधिष्ठाता घोषित करते हुए[1] और आत्मज्ञान के लिए वेदान्त के सेवन का उपदेश करते हुए **पूर्वमीमांसा** को व्यावहारिक और **उत्तरमीमांसा** अथवा वेदान्त को पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादक प्रतिपादित करते पाये जाते हैं।[2] **प्रभाकर** का भी कथन है कि अहङ्कार-ममकार अनात्मा में आत्माभिमान-स्वरूप है, जो मृदितकषायों को ही उपदेश्य हैं, कर्मसङ्गियों को नहीं।[3] यहाँ पूर्वमीमांसा-प्रतिपाद्य सत्य से बड़े सत्य की परिकल्पना स्पष्ट है। यह सही है कि **कुमारिल** निरालम्बनवादी बौद्धों के परमार्थ और संवृति-सत्य के द्वैत का खण्डन करता है[4], किन्तु इससे उसका परखण्डन-चातुर्य ही प्रमाणित होता है।

सत्यद्वय में विरोध

अतएव सत्यद्वैत **भारतीय दर्शन** का मूल स्वर कहा जा सकता है। हमारी सुचिन्तित धारणा है कि भारतीय प्रतिभा उक्त सत्यद्वय में समन्वय के प्रति समुचित रूप से सचेष्ट नहीं रही। दोनों सत्य दो सर्वथा स्वतन्त्र संसारों का रूप ले लेते हैं, जिनमें किसी प्रकार का सञ्चार समागम अथवा संव्यवहार (कम्यूनिकेशन) सम्भव नहीं, चाहे इस सम्बन्ध में जितने भी बड़े बोल बोले जाएं। यहाँ तक कि यहाँ एक व्यक्ति एक ही विषय में एक ही साँस में दो परस्पर सर्वथा विरोधी बाते करते हुए भी महामानव बना रह सकता है, यदि वह दोनों बातों को सत्य के दोनों स्तम्भों—परमार्थ और व्यवहार में पृथक्-पृथक् डाल सकता है। **मनु** आदि का आदेश है कि ज्ञानी होते हुए भी लोक में जडवत्, यन्त्रवत्, अथवा पामरवत् व्यवहार करना चाहिए—

जानन्नपि हि मेधावी जडवल् लोक आचरेत्।।[5]

ध्यान रहे कि आलोच्य सत्यद्वैत-सिद्धान्त और व्यवहार का सामान्य द्वैत मात्र नहीं। सिद्धान्त और व्यवहार में सदा और सर्वत्र द्वैत रहता ही है, चाहे जो भी समाज हो, जो भी व्यक्ति हो। अन्तर केवल तारतम्य का होता है। हमारे यहाँ तो व्यवहार-सत्य में ही सिद्धान्त और व्यवहार का भेद है। अन्यत्र जो सिद्धान्त और

---

१. तन्त्रवार्तिक ३.१.१३ (द्वि० सं० १९७२), पृ० ७०।
२. श्लोकवार्तिक १.१.५, आत्मवाद, अन्त्य श्लोक। ३. बृहती १.१.५, पृ० २५६।
४. श्लोकवार्तिक १.१.५, निरालम्बनवाद ६–१०।
५. मनुस्मृति २.११०; संन्यासोपनिषद् २.१.२।

व्यवहार का भेद है वह हमारे यहाँ के व्यवहार सत्य-गत सिद्धान्त और व्यवहार के भेद से आगे नहीं जाता, परमार्थ और व्यवहार के भेद की सीमाओं को नहीं छू पाता। यह बात नहीं कि अन्यत्र परमार्थ और व्यवहार के से भेद की चेतना ही नहीं। **पार्मेनिदीस्, अफलातून, कान्ट, हेगेल** जैसे दार्शनिक इस प्रकार के भेद को पूर्ण प्रश्रय देते पाये जाते है। किन्तु पश्चिम में दर्शन और जीवन के बीच सम्बन्ध यूँ भी कम रहा है, अतः वहाँ सत्यद्वैत समाज के लिए कभी समस्या नहीं बना। इसके विपरीत भारतीय दर्शन का सामान्यतः घोषित उद्देश्य जीवन के आध्यात्मिकीकरण द्वारा मोक्ष का पथ प्रशस्त करना रहा है; अतः यहाँ **परमार्थ** और **व्यवहार** के सम्बन्ध का प्रश्न गम्भीर अर्थ रखता है।

परमार्थ

अब हम प्रस्तुत प्रश्न को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं।

अच्छा **ब्रह्मवाद** की दृष्टि से सभी ब्रह्म हैं, अतः वे मूलतः तत्त्वतः सर्वथा **समान** भी हैं। इसी प्रकार, यदि नित्यमुक्त और नित्यबद्ध-जीव-वादरूपी अपवादों को छोड़ दें, तो कहा जा सकता है कि आत्माओं में तात्त्विक समता का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की मूलधारा का सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। और भी ज्ञान और भक्ति की पराकाष्ठा की अवस्था में वैषम्य, किसी भी प्रकार का वैषम्य, नहीं रह जाता। एक ऐसी स्थिति आती है जिसे परम साम्य की स्थिति कहा जाता है—

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥[1]

पुनः, साम्य मूलावस्था है, और वैषम्य या तो अविद्या का और या (जो भी अन्ततः वही बात है) कर्म का खेल है। व्यवहारतः-इतिहासतः भी हमारे शास्त्रकारों का मत है कि आद्ययुग समता का युग था—

समाश्रयं, समाचारं, समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥[2]

इस समय न राजा था, न राज्य था, न दण्ड था, न दाण्डिक था; सर्वत्र धर्म ही धर्म था—

नैव राज्यं, न राजा, ऽऽसीन्, न च दण्डो, न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥[3]

---

१. मुण्डकोपनिषत्, तृतीय मुण्डक १:३। २. महाभारत, वनपर्व १४९:१९।
३. तत्रैव, शान्तिपर्व ५९:१४।

आगे चलिए। वेद से लेकर गीता पर्यन्त विश्व-मैत्री के अत्यन्त उदात्त उद्‌गार और आदर्श प्राप्त होते हैं। वेद-मन्त्र लीजिए—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥[१]

यहाँ सभी प्राणियों के प्रति मित्र-दृष्टि रखने का उपदेश है। इसी प्रकार—

यस्‌ तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्‌ सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्‌ विजानतः।
तत्र को मोहः? कः शोकः? एकत्वमनुपश्यत॥[२]

अर्थात्‌ सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखना चाहिए, और मानना चाहिए कि अपनी ही आत्मा सभी प्राणियों के रूप में विद्यमान है।

समता का कैसा ऊँचा आदर्श है? समता की प्राणि मात्र से मैत्री और तदाकारता से अधिक ठोस आधारशिला कहाँ मिलेगी? **गीता** ने स्थिति और स्पष्ट कर दी है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥[3]

अर्थात्‌ ज्ञानी समदर्शी होता है—विद्वान्‌ ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चण्डाल को वह समान देखता है। ऐसी समता यदि आकाश से धरती पर उतर आवे तो सामाजिक समता ही क्यों, प्राणिमात्र से समता का साम्राज्य स्थापित हो जाए। यह तो रही परमार्थ की बात, अब देखिए व्यवहार कैसे सिद्धान्तित हो रहा है।

व्यवहार

महाभारत में शूद्र और नीच से भी ज्ञान-प्राप्ति का स्वागत किया गया है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्‌, क्षत्रियाद्‌ वा, वैश्याच्‌, छूद्रादपि, नीचादभीक्ष्णम्‌।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं; न श्रद्धिनं जन्म-मृत्यू विशेताम्‌॥[४]

मनु अन्त्यज से भी परम धर्म ग्रहण करने में सङ्कोच न करने का उपदेश देते हैं—

१. यजु. ३६.१८।
२. यजु. ४०.७–८।
३. गीता ५.१८।
४. म० भा०, शान्तिपर्व ३१८.८८।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥[1]

यहाँ तक तो जगन्मैत्रीवाद और समदर्शितावाद का पूरा-पूरा पोषण हुआ। किन्तु वही मनु यह भी व्यवस्था देते हैं कि जो शूद्र विप्रों को धर्मोपदेश करने का दम भरने लगे उसके मुख और श्रोत्र में जलता हुआ तेल भर देना चाहिए—

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥[2]

मीमांसा-सूत्र और **ब्रह्मसूत्र** के अपशूद्राधिकरण[3] में शूद्रों द्वारा वेद के श्रवण और अध्ययन के निषेध का प्रसङ्ग अनुमोदनपूर्वक उठाया गया है। अपने-अपने भाष्य में **शङ्कर** और **रामानुज** **गौतम-धर्मसूत्र** के एक विधान का अनुमोदनपूर्वक स्मरण और उदाहरण करते हैं। वह विधान यह है—**'अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस् त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः।'**[4] अर्थात् शूद्र यदि वेद सुन ले, तो उसके कान में सीसा और लाख पिघला देना चाहिए, यदि वह वेद-मन्त्र का उच्चारण कर ले तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए, और यदि वह वेद को धारण कर ले तो उसके शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिए। पता नहीं यह विधान इतिहास में कभी चरितार्थ हुआ या नहीं, और यदि हुआ तो किस सीमा तक? वैसे इसी कोटि के कतिपय अन्य विधाओं के कार्यान्वियन के उदाहरण तो मिलते ही हैं। **तैत्तिरीय-संहिता** शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं देती—**'तस्माच् छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः।'**[5] **अत्रि-स्मृति** और **महाभारत** के अनुसार जप, तप, होम, तीर्थयात्रा, देवाराधन आदि से शूद्र को पाप लगता है। इतना ही नहीं, उनका स्पष्ट आदेश है कि यदि शूद्र जप-होम का अनुष्ठान करे तो उसे बध कर देना चाहिए—

बध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरश् च यः।
ततो राष्ट्रस्य हन्ताऽसौ, यथा वह्नेश् च वै जलम्॥
जपस्, तपस्, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या, मन्त्रसाधनम्।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥[6]

शम्बूक के साथ ऐसा ही तो हुआ?[7] और **एकलव्य** के साथ ही क्या हुआ था?[8]

---

१. मनु० २.२३८। २. मनु० ८.२७२। ३. मीमांसा-सूत्र ६.१.७; ब्रह्मसूत्र १.३.९।
४. गौतम-धर्मसूत्र २.३.४। ५. तैत्तिरीय-संहिता ७.१.१.६।
६. अत्रि-स्मृति १९.१३६–१३७; म. भा. वन० १५०-३६।
७. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७६। ८. म. भा., द्रोण० १८१·१७।

मनुस्मृति में शूद्र को शिक्षा देने, धर्मोपदेश करने, और व्रत का आदेश देने का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो उसे धर्म का उपदेश करता है और व्रत का आदेश देता है वह उसी के साथ नरक-वास करता है—

न शूद्राय मतिं दद्यात्, नोच्छिष्टं, न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥
यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश् चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥[1]

शङ्कर के सूत्र के प्रति दृष्टिकोण की उनके अद्वैतब्रह्मवाद से विसंगति स्पष्ट है। किन्तु प्रश्न नया नहीं है। माधवीय-शङ्करदिग्विजय के अनुसार एक बार शङ्कर ने अपने मार्ग में एक अन्त्यज़ को देखकर 'दूर हटो, दूर हटो' कहा था। इस पर अन्त्यज ने उनके ब्राह्मण-श्वपच भेद विचार को पाखण्ड बताते हुए उन्हें आड़े हाथों लिया, और शङ्कर को उसकी सत्यता स्वीकार करते हुए कहना पड़ा कि अभेद बुद्धि से युक्त चाण्डाल मेरा भी गुरु[2] है।

धर्मशास्त्र आदि में शूद्र के प्रति कई घृणासूचक और अपमानजनक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो समता-मूलक जीवन-दृष्टि से सर्वथा बेमेल है। **शतपथ-ब्राह्मण** के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता, काला पक्षी, अनृत हैं, इन्हें देखना नहीं चाहिए—**'अनृतं स्त्री, शूद्रः, श्वा, कृष्णः शकुनिः। तानि न प्रेक्षेत**।[3] **आपस्तम्ब** के अनुसार शूद्र और पतित व्यक्ति श्मशान के तुल्य होते हैं, अतः उनके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए—**'श्मशानवच् छूद्र-पतितौ'**।[4] अन्यत्र शूद्र को चलता-फिरता श्मशान कहा गया है और इसी आधार पर उसके समीप वेदाध्ययन का निषेध किया गया है—**'पद्यु वा एतच् श्मशानं यच् छूद्रः। तस्माच् छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'**।[5] **मनु** तो हद्द कर देते हैं। वे कहते हैं कि बिल्ली, नेवले, नीलकण्ठ पक्षी, मेंढक, कुत्ते, गोह, उलूक कौए की हत्या करने पर शूद्रहत्याव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए—

मार्जार-नकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्व-गोधोलूक-काकांश् च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥[6]

मानो शूद्र और पशु समान हैं।

---

१. मनु० ४.८०–८१। २. शङ्करदिग्विजय—६.२५–३८।
३. शतपथ-ब्राह्मण १४।१।१।३१।
४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १।९।९ तु० याज्ञवल्क्य-स्मृति १।१४८।
५. शबर, शङ्कर, आदि द्वारा उदाहृत। शबर-भाष्य ६।१।७।३८, पृ० १३८१। शारीरक-भाष्य १।३।९।३८, पृ० २८०। ६. मनु० ११।१३१।

ऐतरेयब्राह्मण में शूद्र 'कामोत्थाप्य' (जब चाहे निकाल दो) और 'यथाकामवध्य' (जब चाहे पीटो, मार डालो) है।[१] वहाँ वैश्य को भी नहीं बख्शा गया है। वैश्य 'अन्यस्य बलिकृत' (अन्य को कर देने वाला), 'अन्यस्याद्य' (अन्य द्वारा भोगा जाने वाला) 'यथाकामज्येय' (जब और जैसे चाहो लूटा जाने और शोषित किया जाने वाला) घोषित किया गया है।[२]

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में शूद्र के सम्बन्ध में एक अत्यन्त उदार विधान प्राप्त होता है जो अन्यत्र भी अनूदित हुआ है। वह विधान यह है कि जो प्रतिदिन भोजन पाने वाले दास-कर्मकर अथवा शूद्र हैं उन्हें खिला कर खाना चाहिए, चाहे तदर्थ अपने को, भार्या को, अथवा पुत्र को भूखा रह जाना पड़े—**'ये नित्या भाक्तिकास् तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः। काममात्मानं, भार्यां, पुत्रं वोपरुन्ध्यान्, न त्वेव दास-कर्मकरम्॥**[3] मनु का वचन है—

भुक्तत्स्वथ विप्रेषु, स्वेषु, भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥

देवान्, ऋषीन्, मनुष्यांश् च, पितॄन्, गृह्याश् च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत्॥[४]

यहाँ भी नौकर-चाकर सहित सबको खिला कर ही खाने का आदेश है। दूसरी ओर शास्त्रों ने धर्ममूल-भूत ब्राह्मण और धर्माग्रभूत क्षत्रिय[५] को वैश्य और शूद्र के शोषण की खुली छूट दे रखी है। मनु ने लिखा है कि यदि यज्ञ में धन कम पड़ जाय तो वैश्य अथवा शूद्र के घर से बलपूर्वक अथवा चोरी करके यथेष्ट धन प्राप्त किया जाना चाहिए—

यज्ञश् चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्, हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात् तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये॥
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥[६]

कुल्लूकभट्ट इन श्लोकों की टीका में कहता है कि वैश्य अथवा शूद्र के घर से द्रव्य बलात् अथवा चोरी से हरण कर लेना चाहिए (बलेन चौर्येण वाऽऽहरेत्), क्योंकि

---

१. ऐतरेय-ब्राह्मण ७।५।२९। २. ऐतरेयब्राह्मण ७–५.२९।
३. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।४।९।१०–११। ४. मनु० ३।११६–११७।
५. 'धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते।' मनु० ११।८३। ६. मनु० ११।११–१३।

विप्र के लिए शूद्र से यज्ञार्थ धन की भिक्षा माँगने का मनु ने निषेध किया है[१], बल-प्रयोग द्वारा अथवा चोरी द्वारा धन हरण करने का नहीं।[२] वस्तुतः यहाँ शूद्र को वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही नहीं दिया गया है—

भार्या, पुत्रश् च, दासश् च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥[३]

चूँकि शूद्र का धन पर कोई अधिकार ही नहीं है अतः वह 'भर्तृहार्यधन' कहा गया है। अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति है जिसका धन उसका नहीं, उसके मालिक का धन है। अतः ब्राह्मण को अधिकार दिया गया है कि वह निःशङ्क होकर शूद्र से धन छीन लिया करे—

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्यास्ति किञ्चित् स्वं, भर्तृहार्यधनो हि सः ॥[४]

वैशेषिक-सूत्र में हीन, सम और विशिष्ट धार्मिक के परस्वादान की चर्चा आयी है—**'एतेन हीन-सम-विशिष्ट-धार्मिकेभ्यः पर स्वादानं व्याख्यातम्'**[५]। शङ्कर मिश्र ने **वैशेषिकसूत्रोपस्कार** में **'वृत्तिकार'** के हवाले से लिखा है कि परस्वादान का अर्थ है चोरी आदि द्वारा पर-सम्पत्ति का ग्रहण (वृत्तिकारास् तु परस्वादानं पर-स्व-ग्रहणं व्याख्यातम्)।[६] इसके बाद वे श्रुति के हवाले से कहते हैं कि अपनी क्षुधा-पीड़ा की दशा में तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिए सात दिन से भूखा रहने पर शूद्र का भोजन चुरा लेने में कोई दोष नहीं, दस दिन से भूखा रहने पर वैश्य का, पन्द्रह दिन से भूखा रहने पर क्षत्रिय का और प्राण छूटने लगे तो ब्राह्मण का भोजन छीन लेने में कोई दोष नहीं—**'तथा च श्रुतिः—"शूद्रात् सप्तमे, वैश्याद् दशमे, क्षत्रियात् पञ्च-दशे, ब्राह्मणात् प्राणसंशये" इति क्षुधापीडितमात्मानं कुटुम्बं वा रक्षितुं सप्तदिनान्याहारमप्राप्य शूद्रभक्ष्यापहारः कार्यः, एवं दशदिनान्याहारमप्राप्य वैश्यात्, पञ्चदश दिनान्याहारमप्राप्य क्षत्रियात्, प्राणसंशये ब्राह्मणाद् भैक्ष्यापहरणं न दोषायेत्याहुः।'**[७] वे आगे कहते हैं कि जो उक्त कार्य में बाधा डालें उनका यदि वध भी कर दिया जाय तो धर्म की हानि और अधर्म का प्रादुर्भाव नहीं होता—**'न केवलं प्राणसंशये परस्वा-दानं न निषिद्धं, किन्तु तस्यां दशायामपहर्तुं ये न प्रयच्छन्ति तेषां वधोऽपि कार्यो, न तावता धर्महानिरधर्मप्रादुर्भावो वा।'**[८] जैसा कि अगले सूत्र में भी कहा गया है, उक्त विशेषाधिकार के विरोधियों को मार डालना चाहिए (तथा विरुद्धानां त्यागः)।[९]

१. मनु० ११।२४। २. मन्वर्थमुक्तावली ११।१३। ३. मनु० ८।४१६।
४. मनु० ८।४१७। ५. वैशेषिक-सूत्र ६।१।१२। ६. वैशेषिकसूत्रोपस्कार ६।१।१२।
७. तत्रैव ६।१।१२। ८. तत्रैव ६।१।१३। ९. वै० सू० ६।१।१३।

सूत्रकार ने शर्त यह लगायी है कि ऐसा तभी करना चाहिए जब विरोधी हीन वर्ण का हो (हीने परे त्यागः)[1], यदि दोनों पक्ष सम वर्ण के हों तो उनमें (परिस्थित्यनुसार) जो जिसको मार डाले वही ठीक (समे आत्मत्यागः परत्यागो वा)।[2] हाँ, यदि विरोधी उच्चतर वर्ण का हो तो उसे कदापि नहीं मारना चाहिए, अपने ही को मरने देना चाहिए (विशिष्टे आत्मत्याग इति)।[3]

शास्त्रों में दासता-प्रथा को मुक्त कण्ठ से स्वीकृति दी गयी है और दास केवल शूद्र ही नहीं होते। मनु ने सात प्रकार के दास बतलाये हैं—

ध्वजाहृतो, भक्तदासो, गृहजः, क्रीत-दत्त्रिमौ।
पैत्रिको, दण्डदासश् च—सप्तैते दास-योनयः॥[4]

अर्थात् सङ्ग्राम में विजित, जीविकार्जन के लिए बना हुआ दास, दासी-पुत्र, क्रीत दास, दान में मिला हुआ दास, कुलक्रमागत दास, ऋण चुकाने के लिए दासता स्वीकार करने वाला दास—दासों की ये सात कोटियाँ हैं। नारद-स्मृति में १५ प्रकार के दासों की सूची प्राप्त होती है।[5] यह सही है कि भारत में दासों के साथ उतना अमानुषिक व्यवहार नहीं होता था जितना यूनान, रोम, मिश्र आदि अन्य प्राचीन सभ्यताओं में होता था, तथापि सामाजिक समता और दासता में आत्यन्तिक विरोध का अपलाप असम्भव है, विशेषतः उस स्थिति में जब कि यह तथ्य है कि दासता-प्रथा प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था का आधार कभी नहीं बनी। जैसा हम लिख आये हैं, धर्म-शास्त्र का विधान है कि चाहे घर भर को भूखा रह जाना पड़े किन्तु दास को पहले भोजन देना चाहिए। **कौटलीय अर्थशास्त्र** में दासों को जितनी सुविधा दी गयी है[6], उतनी इस्लाम को छोड़कर अन्य किसी परम्परा ने नहीं दी है। दास के साथ सद्व्यवहार का जो मानदण्ड इस्लाम ने स्थापित किया है वह विश्व में बेजोड़ है। कहते हैं कि **ख़लीफ़ः उमर शाम** देश के शासक से सन्धि के लिए आमन्त्रित हुए और उन्होंने एक ऊँट पर सवार होकर एक उष्ट्रवाहक दास के साथ प्रस्थान किया, इस नियम के साथ कि मार्ग में एक मंज़िल (मील अथवा कीलोमीटर समझ लीजिए) तक वे ऊँट पर सवार रहते और दास ऊँट की नकेल थामकर चलता और दूसरी मंज़िल पर दास ऊँट की पीठ पर आ जाता और ख़लीफ़ः ऊँट की नकेल थाम लेते। बात यहाँ तक पहुँची कि उनके नगर के प्रवेश के समय ऊँट पर दास आसीन था और ऊँट की नकैल ख़लीफ़ः के हाथ में थी। यह कौतुक **शाम** के शासक ने देखा

१. तत्रैव ६।१।१४। २. तत्रैव ६।१।१५। ३. तत्रैव ६।१।१६।
४. मनु० ८।४१५। ५. नारद-स्मृति, पञ्चम व्यवहार-पद, २२-२८।
६. कौटलीय-अर्थशास्त्र, अधिकरण ३, अध्याय १३ (अथवा प्रकरण ६५)।

और इतने बड़े सम्राट् के सामाजिक समता के आदर्श पर दाँतों तले उंगली दबा ली। **मौलिक्य इस्लाम** के इतिहास से इस कोटि के अनेक अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

यह सब सही, किन्तु मानना होगा कि **इस्लाम** दासता-प्रथा तथा तज्जन्य सामाजिक विषमता के धब्बे को धो नहीं सकता। वस्तुतः दासता-प्रथा का अस्तित्व-मात्र सामाजिक समता में बाधक कहा जा सकता है। फ़ारसी के कविवरेण्य **बेदिल** का शेर है—

इ़जाजे नीस्त दाग़े बन्दगी रा।
अगर बेश-म व गर कम आफ़रीदन्द॥

अर्थाद् दासता चाहे कम हो या अधिक, उसके धब्बे का कोई उपचार नहीं। लगता है कि महाभारतकार को इस प्रकार की चेतना हो गयी थी और वह दासता-प्रथा पर करारी चोट करते हुए लिखता है—

मानुषा मानुषानेव दास-भावेन भुञ्जते।
वध-बन्ध-निरोधेन कारयन्ति दिवानिशम्॥[1]
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः।
वध-बन्ध-परिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः॥[2]

शूद्र के प्रति **वैदिकों** के वैषम्यमूलक व्यवहार का प्रभाव **बौद्धों** पर भी पड़ा और जैसा कि हम **जयन्तभट्ट** के हवाले से दिखला आये हैं, वे भी स्पृश्यास्पृश्य के चक्कर में पड़ गये। बुद्ध ने भी ऋणी और राजसैनिक के साथ-साथ दास की भी प्रव्रज्या वर्जित कर दी और दासों की दशा सुधारने की चिन्ता भी नहीं की। अन्यथा भी, बौद्धों में परमार्थ और व्यवहार अथवा सिद्धान्त और आचरण के बीच की खाई पर कटाक्ष करते हुए जयन्त लिखता है—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं।
संस्काराः क्षणिका, युगस्थितिभृतश् चैते विहाराः कृताः॥
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते।
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा॥[3]

अर्थात् बौद्धों का दम्भ देखिए—वे कहते हैं कि आत्मा नहीं है, किन्तु स्वर्ग के लिए चैत्य-पूजा करते हैं, वे कहते हैं कि सारे संस्कार क्षणिक हैं, किन्तु युग-युग तक

१. म० भा०, शान्ति० २६२।३८-३९। २. तत्रैव १८०।३४-३५।
३. न्यायमञ्जरी, प्रमेय-प्रकरण, पृ० ३९।

स्थित रहने वाले विहार बनाते हैं; वे कहते हैं कि सब कुछ शून्य है, किन्तु गुरु को धन देने का आदेश करते हैं।

शूद्र और श्रुति के श्रवणाध्ययन-वर्जन के प्रसङ्ग में हम एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो प्रायः प्रसिद्ध नहीं है। एक परम्परा ऐसी भी है जो शूद्र के शास्त्राधिकार पर प्रतिबन्ध नहीं लगाती। **महाभारत** में ब्राह्मी सरस्वती, वेद-वाणी, चारों वर्णों के लिए बतलायी गयी है—

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्राह्मणा पूर्वं लोभात् त्वज्ञानतां गताः॥[1]

उसमें पञ्च महायज्ञों आदि में शूद्रों का भी अधिकार माना गया है—

इत्येतैः कर्मभिर् व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः॥
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥[2]

लघुविष्णु-स्मृति पञ्च यज्ञों का विधान शूद्र के लिए भी करती है—

पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते॥[3]

महाभारत में शूद्रों के शास्त्राधिकार की घोषणा कई अन्य स्थलों पर भी की गयी है—

श्रावयेच् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं, तच् च कार्यं महत् स्मृतम्॥[4]
सर्वे वर्णा-ब्राह्मणा ब्रह्मजाश् च सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम्॥[5]

महाभारत में यह भी सूचना है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण चण्डालों को भी वेद सुनाया करते थे।

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति।[6]

जैमिनि से प्राचीनतर-मीमांसासूत्रकार बादरि वैदिक कर्म में शूद्र का पूरा अधिकार मानते थे, ऐसी सूचना जैमिनि से प्राप्त होती है।[7] **भारद्वाज-श्रौतसूत्र** के अनुसार शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियाँ जला सकता है।[8] **अहिर्बुध्न्य-संहिता** चारों वर्णों को वेद में अधिकार देती है—

---

१. म० भा०, शान्ति १८८।१५।
२. तत्रैव १८८।१४।
३. लघुविष्णु-स्मृति ५।९।
४. म० भा०, शान्ति ३२७।४९।
५. तत्रैव ३१८.८९।
६. तत्रैव अनुशासन० ९४.११।
७. मीमांसा-सूत्र ६.१.७.२७।
८. भारद्वाज-श्रौतसूत्र ५.२.८।

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश् चत्वार उद्गताः।
ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्र्य्यादीनां चतुष्टयम् ॥[१]

माध्यन्दिन-वाजसनेयि-संहिता घोषणा करती है कि वेदवाणी शूद्र और चारण के लिए भी सुलभ है—**'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय, चार्याय च, स्वाय चारणाय च।'**[२]

खेद और आश्चर्य का विषय है कि इस वेदानुमोदित स्वस्थ परम्परा की सर्वथा उपेक्षा करके शबर, कुमारिल, शङ्कर, रामानुज प्रभृति आचार्यों ने शूद्र के लिए श्रुति-श्रवणाध्ययन-वर्जन की नितान्त वैषम्यमूलक परम्परा को ही मान्यता दी है।

इससे भी आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि जिस वेद का द्वार शूद्र के लिए बन्द कर दिया गया, उसके निर्माण में शूद्रों का भी हाथ है। कहते हैं कि **इलूषा** के पुत्र **कवष** को ऋषियों ने **सरस्वती** के तट पर अनुष्ठित **सोम-यज्ञ** से यह कह कर निकाल दिया कि 'यह दासी-पुत्र, जुआड़ी, अब्राह्मण हमारे मध्य में दीक्षा कैसे प्राप्त करेगा?' उसे मरु-भूमि में भगा दिया गया कि वह प्यासा मर जाय और सरस्वती का जल न पी पाये। जब वह प्यास से व्याकुल हो गया तब उसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के अपोनप्त्रीय। अपां नपात्। आपः सूक्त के दर्शन हुँए, अर्थात् उस पर उक्त वेद-सूक्त प्रकट हुआ। वह सूक्त वेद में कवष ऐलूष के नाम से अब तक चला आ रहा है। यह कथा **ऐतरेय-ब्राह्मण** की है, जिसके शब्द ये हैं—**'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन्—"दास्याः पुत्रः, कितवो, ऽब्राह्मणः, कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति?" तं बहिर धन्वोदवहन्—अत्रैनं पिपासा हन्तु, सरस्वत्या उदकं मा पातु—इति। स बहिर् धन्वोदूढः पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्।**[३] इसी प्रकार इतरा दासी के पुत्र **महिदास ऐतरेय** पर **ऐतरेय-ब्राह्मण** का प्रादुर्भाव हुआ था।[४]

शास्त्रों में स्त्री-समाज

स्त्री को भी पुराण आदि में वेद में अधिकार नहीं माना गया है। **श्रीमद्भागवत** का वचन है—

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥[५]

---

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता १५.२०–२१। २. यजु० २६.२।
३. ऐतरेय-ब्राह्मण २.३.१।
४. ऐतरेयाण्यक-भाष्य २.१.८; ऐतरेयालोचन, पृ० ११–१५।
५. श्रीमद्भागवत १।४।२५।

किन्तु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था, स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार था और उसका यज्ञोपवीत भी होता था—

पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा ॥[१]

स्कन्दपुराण की अङ्गभूत **सूत-संहिता** में कण्ठतः स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज-स्त्रियों को भी है—

द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाभ्यासेऽधिकारिता ।[२]

कहीं-कहीं 'यज्ञोपवीतिनी' कन्या का भी विधान देखने में आता है,[३] और यह भी आता है कि पति के न होने पर स्मार्त-होम स्त्री ही करे ।[४] **हारीत-स्मृति** में दो प्रकार की स्त्रियाँ मानी गयी हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । इनमें से ब्रह्मवादिनी को उपनयन, अग्नीन्धन और अपने घर में भिक्षाचर्या का अधिकार है, जब कि सद्योबधू का उपनयन नहीं होता—**'द्विविधा हि स्त्रियः—ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश् च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं, अग्नीन्धनं स्वगृहे भिक्षाचर्यं च । सद्योवधूनामुपनयनमकृत्वा विवाहः कार्यः ।'**[५]

इसके अतिरिक्त **मीमांसा-सूत्र** में स्त्रियों का वेदाधिकार स्वीकार किया गया है । तदन्तर्गत एक सूत्र है—**'जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्; तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्'** ।[६] इस पर शबर का भाष्य है—**'तस्माच् छब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिकृताविति गम्यते ।'**[७] अर्थात् वेद में स्त्री और पुरुष दोनों का अधिकार है। उसी प्रकार एक अन्य सिद्धान्त-सूत्र में वैदिक कर्म में दम्पती का सहाधिकार माना गया है—**'स्ववतोस् तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ।'**[८]

आश्चर्य है कि स्त्री के वेदाधिकार का प्रश्न परवर्ती शास्त्रों में जटिल बना दिया गया है, जबकि वेद की रचना में स्त्रियों का भी हाथ रहा है । आत्रेयी, विश्ववारा, आत्रेयी (कोई अन्य आत्रेयी), भवाला, घोषा, काक्षीवती जैसी स्त्रियों के रचित अथवा दृष्ट कई सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं ।

---

१. यम-स्मृति; मनु-परिशिष्ट, पृ० १४ (पुराकल्पे कुमारीणां) ।
२. सूतसंहिता, शिवमाहात्म्य–खण्ड ७।२० । ३. गोभिल-गृह्यसूत्र, प्रपाठक १, खण्ड १ ।
४. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।६ । ५. हारीत-स्मृति ।
६. मीमांसा-सूत्र ६।१।३।८ । ७. मीमांसा (शबर)-भाष्य ६।१।३।८, पृ० १३५९ ।
८. मीमांसा-सूत्र ६।१।४।१७ ।

यह सब देखते हुए स्त्री के साथ वेदाधिकारकृत वैषम्य भाव का तनिक भी औचित्य नहीं।

शास्त्रों में ब्राह्मण क्षत्रिय का महत्व

समाज में शूद्र के ठीक विपरीत ब्राह्मण और क्षत्रिय की दशा थी शूद्र यदि पशु माना जाता था तो ब्राह्मण देवताओं का भी देवता माना जाता था—

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि दैवतम्।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥[1]

अतः दस वर्ष का ब्राह्मण किशोर सौ वर्ष के वृद्ध राजा से भी इतना बड़ा बतलाया गया है कि उनमें पिता-पुत्र का सम्बन्ध बन जाता है—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पिता-पुत्रौ विजानीयाद्, ब्राह्मणस् तु तयोः पिता ॥[2]

यहाँ तक कह दिया गया है कि ब्राह्मण जन्म लेते ही वसुधा की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और कि अन्य लोग जो सम्पत्ति का भोग करते हैं वह ब्राह्मण की कृपा का फल है—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज् जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥[3]

क्षत्रिय भी देवताओं के अंश से समुत्पन्न, देवताओं का प्रभाव परखने वाला, नर-रूपी महान् देवता बतलाया गया है—

इन्द्रानिलयमर्काणामग्नेश् च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश् चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
सोऽग्निर् भवति, वायुश् च, सोऽर्कः, सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः, स वरुणः, स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

---

१. मनु० ११।८५। २. तत्रैव २।१३५। ३. तत्रैव १।९९-१०१।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥[1]

ऐसी विचारधारा का सामाजिक समता के सिद्धान्त से सर्वथा बेमेल है।

श्रमिक-वर्ग की दशा

तथापि शूद्र के साथ भेद-भाव की परम्परा उतनी शास्त्रकारों की सामाजिक-आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति से प्रेरित नहीं प्रतीत होती जितनी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि की आन्तरिक अपेक्षाओं से। हमारे शास्त्रकार ब्राह्मण रहे हैं, और उन्होंने ब्राह्मणों का जो जीवन-स्तर निर्धारित किया है वह भारतीय इतिहास के अधकचरे मार्क्सवादी व्याख्याताओं को चक्कर में डाल देने वाला तथ्य है। यूरोप में श्रमिकों का शोषण करने वाला वर्ग उत्पादन के साधनों—भूमि, पूँजी आदि—पर एकाधिकार जमा लेने वाला वर्ग रहा है, जो समाज का सारा सुख बटोर लेने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित था। यहाँ, समाज में शूद्रों का स्थान नीचा निर्धारित करने वाला वर्ग ब्राह्मण रहा है। प्राचीन काल में, मुट्ठी भर दरबारी ब्राह्मणों को छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण ब्राह्मण-जाति एक अकिञ्चन, भिक्षुक जाति के रूप में उभरी थी। उसने अपना जीवन-स्तर स्वेच्छया इतना नीचा रखा कि उनपर पर-शोषण का आरोप हास्यास्पद हो जाता है। द्रोण जैसे ब्राह्मण राज्याश्रय प्राप्त करने के पूर्व अपने पुत्र अश्वत्थामा के लिए गाय का दूध नहीं जुटा पाते थे और पुत्र को आटे का घोल दूध समझ कर पीते देख आँसू बहाया करते थे।[2] ब्राह्मण के परिग्रह की सीमा बाँधते हुए मनु कहते हैं—

ऋतामृताभ्यां जीवेत् तु, मृतेन, प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा; न श्ववृत्त्या कदाचन ॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।[3]

अर्थात् ब्राह्मण को ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत से जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ऋत उञ्छशिल को कहते हैं, अमृत अयाचित भिक्षा को, मृत याचित भिक्षा को, प्रमृत खेती को और सत्यानृत वाणिज्य को। इतना ही नहीं—

१. तत्रैव ७।४,५,७,८। २. म० भा०, आदि० १३०।५४-५८।
३. मनु० ४।४-६।

कुसूलधान्यको वा स्यात्, कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेत्, अश्वस्तनिक एव वा॥
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥[1]

अर्थात् तीन वर्ष, अथवा एक वर्ष, अथवा तीन दिन, अथवा केवल आज के लिए धन सँजोना चाहिए। इनमें से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर को ज्यायान् मानना चाहिए।

और इतिहास में उक्त आदर्शों पर चलने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं रही है। अतः ब्राह्मणों को चाहे जो कह लीजिए, शूद्रों का सर्वथा शोषक नहीं कह सकते।

वैषम्य और पुनर्जन्मवाद

वस्तुतः हमारे सामाजिक वैषम्यवाद का प्रेरक हेतु प्रतीत होता है हमारा कर्म और पुनर्जन्म-सिद्धान्त। समाज में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, सुखी-दुःखी के भेद कर्मजनित हैं, अतः सामाजिक विषमता ही स्वाभाविक है, सामाजिक समता का सिद्धान्त अयौक्तिक है। पूर्वकृत-फलानुबन्ध से तीन परिणाम प्रवृत्त होते हैं—जाति, आयु और सुख-दुःख। अब यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण है अथवा शूद्र है तो इसलिए कि उसकी पूर्वजन्म की कमाई ही ऐसी रही है। इसी प्रकार जो सुख भोग रहा है वह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा रहा है और जो दुःख भोग रहा है वह पूर्वकृत पापों का दण्ड पा रहा है। ऐसी दशा में सामाजिक समता का क्या प्रश्न? कारावास में दण्ड भोग रहे आततायी को भला कारावास से समय से पूर्व ही मुक्त कराने के लिए हाय-तौबा शासन सहन कर सकता है?

वस्तुतः **कर्म-सिद्धान्त** की दृष्टि से पीड़ित पापी सिद्ध होता है और समृद्ध पुण्यात्मा। फलतः पीड़ित से समता के व्यवहार के बदले घृणा के व्यवहार का ही औचित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार सहज विषमताएँ विधाता का विधान बन जाती हैं जिनमें हस्तक्षेप मानव की अक्षम्य धृष्टता हो कही जायेगी। विज्ञान जन्मान्ध को भी आँख देने के लिए सचेष्ट है, जबकि कर्म-सिद्धान्त अन्धत्व को उचित घोषित कर उसे अहस्तक्षेप्य कर देता है। यदि कोई जीव शूद्र के घर में उत्पन्न हो गया तो उसे आजीवन दासता ही करनी होगी उसे अपनी स्थिति सुधार कर स्वतन्त्र जीवन नहीं जीने दिया जा सकता। **मनु** कहते हैं—

---

१. तत्रैव ४।७-८।

शूद्रं तु कारमेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते।
निसर्गजं हि तत् तस्य कस् तस्मात् तदपोहति॥[१]

अर्थात् शूद्र चाहे क्रीत हो चाहे अक्रीत, चाहे स्वामी की सेवा में हो, चाहे स्वामी ने उसे मुक्त कर दिया हो, उससे दासता ही करानी चाहिए, क्योंकि विधाता ने उसे उत्पन्न ही जब दासता के लिये किया है। भला प्रकृति को कौन बदल सकता है ?

पाप के फलस्वरूप जीवात्मा की जब मध्यमा तामसी गति होती है तभी वह हाथी, घोड़े, सिंह, व्याघ्र, वराह और गर्हित म्लेच्छों के साथ-साथ शूद्र के रूप में जन्म पाता है—

हस्तिनश् च, तुरङ्गाश् च, शूद्रा, म्लेच्छाश् च गर्हिताः।
सिंहा, व्याघ्रा, वराहाश् च मध्यमा तामसी गतिः॥[२]

यह भी मान्यता है कि आज का चण्डाल अथवा पुक्कस पिछले जन्म में ब्रह्म-हत्यारा था—

श्व-सूकर-खरोष्ट्राणां, गो-ऽजावि-मृग-पक्षिणाम्।
चण्डाल-पुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥[३]

कर्म-सिद्धान्त के स्तर पर वैदिक, बौद्ध और जैन बराबर हैं, ये सभी उसके पोषक हैं। अतः वे सामाजिक विषमता का पोषण और उपोद्बलन ही कर सकते हैं। यह तो कहिए कि कर्म-सिद्धान्त के इस निहितार्थ पर प्रायः विचार ही नहीं किया जाता, अन्यथा समाज से समता की भावना के साथ-साथ भूत-दया का भी लोप हो जाय। पीड़ित-शोषित पर दया का औचित्य तभी बनेगा, जब हम आश्वस्त हों कि उसे जो पीड़ा मिल रही है वह उसे नहीं मिलनी चाहिए, और जो उसके साथ अन्याय हो रहा है और जब सिद्धान्त यह है कि उसकी पीड़ा विधाता के न्याय का नमूना है तो उसके प्रति दया उमड़ने के बदले विधाता की न्यायप्रियता के प्रति उछाह उमड़ने लगेगा।

समता की संभावनायें

आइए, लगे हाथों किञ्चित् इसपर भी विचार करते चलें, कि कैसा दर्शन सामाजिक समता का साधक-पोषक हो सकता है। ऐसे दर्शन की **प्रथम** अर्हता तो यह हो

१. तत्रैव ८.४१३–४१४। २. तत्रैव १२.४३। ३. तत्रैव १२.५५।

सकती है कि वह मान कर चले कि सभी सत्य मानव-सत्य हैं और कि अन्तिम सत्य का दावा दम्भ मात्र है। अन्तिम सत्य का साक्षात्कार, कम से कम अभी, मानव के वश की बात नहीं। जिन परम्पराओं ने सत्य के सम्बन्ध में अन्तिम शब्द बोलने का दृढ़तापूर्वक दावा किया है उन्होंने प्रायः भिन्न विचार वाले व्यक्तियों की सामाजिक समता का निषेध किया है। वे विपक्षी को गुमराह, पथभ्रष्ट, समझकर सम-भाव, सद्-भाव का रास्ता बन्द कर देती हैं। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि किसी सत्य के विषय में हमें निश्चय ही न हो। अनिश्चय की अवस्था में कोई कार्य नहीं हो सकता—**'संशयात्मा विनश्यति।'** अतः विचाराधीन दर्शन की **दूसरी** विशेषता यह हो सकती है कि वह हममें सार्वभौम सत्यों-मूल्यों की चेतना जगाता रहे, और तदर्थ अन्यों की सत्य-चेतना मूल्य-चेतना, से भी लाभान्वित होने की प्रवृत्ति का पोषण करता रहे। सामाजिक समता के साधक दर्शन की **तीसरी** अर्हता है व्यक्ति को साधन न मान कर साध्य मानना। अतः जो दर्शन व्यक्ति की सत्ता ही नहीं मानता, व्यक्ति को भूत-तत्त्व का परिणाम-विशेष-मात्र मान कर चलता है, अथवा उसे क्षण-भङ्गुर मानने को महत्त्व देता है, वह व्यक्ति को साध्य नहीं मान सकता, और इस प्रकार सामाजिक समता का पथ नहीं पकड़ सकता, वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का समादर करते हुए एक-एक व्यक्ति के मत को वह महत्त्व नहीं दे सकता, जो सामाजिक समता का मूलाधार है। नश्वर, क्षणभङ्गुर आत्मा के लिए इतनी हाय-तौबा क्या ? जो वस्तु रहने वाली नहीं है जो मात्र एक आकस्मिक घटना है, जिसकी सत्ता का कोई भरोसा नहीं, वह अपना साध्य स्वयं कैसे हो सकती है ? अतः सामाजिक समता के साधक दर्शन की **चौथी** अर्हता है व्यक्ति की स्वतन्त्र और स्थायी सत्ता मानना। किन्तु यदि सभी व्यक्ति इतने स्वतन्त्र हैं कि वे आत्मपूर्ण, स्वतःपूर्ण, होने का दावा कर सकते हैं, जैसे **साङ्ख्य** के पुरुष अथवा **न्याय** की जीवात्माएँ, तो उनमें परस्पर सहकार सम्भव नहीं होगा, और वे एक दूसरे की उपेक्षा करेंगे। फलतः सामाजिक समता चरितार्थ ही नहीं होगी। अतः सामाजिक समता के साधक दर्शन की **पाँचवीं** अर्हता है व्यक्तियों, आत्माओं का किसी स्तर पर अन्योन्याश्रयत्व, अन्योन्यसम्बन्ध। अर्थात् आत्माएँ स्थायी और स्वतन्त्र सत्ताएँ होते हुए भी किसी गहरे स्तर पर एक, और अभिन्न हों। अतः एक प्रकार का भेदाभेद सिद्धान्त ही सामाजिक समता को प्रश्रय दे सकता है।

अधिकांश भारतीय दर्शन आत्मौपम्यवादी दर्शन है। आत्मा एक हो अथवा अनेक, नित्य हो अथवा अनित्य, किन्तु भारतीय दार्शनिकों को गीता के इस आदेश पर सही करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि सर्वत्र आत्मौपम्य-दृष्टि रखनी चाहिए—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥[1]

महायान भी बुद्धों और सत्त्वधातु की तात्त्विक अभिन्नता के आधार पर जीवों में समता-भाव का आधार पा लेता है—

बुद्धानां सत्त्वधातोश् च येनाभिन्नत्वमर्थतः ।
आत्मनश् च परेषां च समता तेन ते मता ॥[2]

यह दृष्टि सम-दर्शन, सम-दर्शिता का ठोस आधार है । यह सामाजिक समता के सिद्धान्त और व्यवहार को भी ठोस आधार प्रदान कर सकती है ।

कहना नहीं होगा कि कोई एक **भारतीय** दर्शन, अथवा **दर्शन** इन सभी शर्तों को पूरी नहीं करता, सभी अर्हताओं से मण्डित नहीं दिखायी देता । अतः संस्कृत के ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण सूक्तियों से झट निष्कर्ष निकाल कर भारत की दार्शनिक प्रतिभा पर कोई हुक्म नहीं लगा देना चाहिए, बल्कि उस प्रतिभा के गठन का विश्लेषण करके ही कोई निष्कर्ष निकालना चाहिए ।

---

१. गीता ६.३२ । २. चतुःशतक ३.४० ।

● ● ●

काश्मीर के अद्वैत शैवतन्त्रों में सामाजिक समता

डॉ० नवजीवन रस्तोगी

एक बात हमें ईमानदारी से स्वीकार करनी होगी कि **सामाजिक समता के सिद्धान्त** का पल्लवन **भारतीय दर्शन** में उस रूप में नहीं हुआ है जिस रूप में **पाश्चात्यदर्शन** या आज का विवेच्य विषय हमसे अपेक्षा करता है। शायद इसका कारण यह है कि दर्शन किसी भी समाज के व्यापकतर सांस्कृतिक व्यापार का अङ्ग है उसका पर्याय नहीं, और इस रूप में वह उस संस्कृति के अवचेतन में छिपे चरम मूल्य को ही प्रतिबिम्बित करता आया है। मोक्ष की धारणा, उसके स्वरूप को लेकर हम चाहे जितना झगड़ते क्यों न आए हों, भारतीय दर्शन की धुरी रही है और यह साधनात्मक स्तर पर एक नितान्त वैयक्तिक, समाजोत्तीर्ण 'अत्याश्रमी' प्रक्रिया रही है। **धर्मशास्त्रों** में चर्चित तीन पुरुषार्थों का केन्द्र जहाँ समाज रहा है वहाँ मोक्ष समाज से हटकर व्यक्ति **पर** केन्द्रित हो गया है, भले ही वह मुक्त व्यक्तित्व कितना व्यापक और सर्वाङ्गीण माना जाए। ऐसा लगता है कि सामाजिक समता के लिए यदि हम धर्मशास्त्रों से नितान्त व्यतिरिक्त रूप में दर्शन को लें तो समता की समस्या का सन्दर्भ ही नहीं बनता है। अध्ययन की वस्तुनिष्ठ पद्धति का आश्रय लेने पर हम पाते हैं कि समता की बात जहाँ आयी है वहाँ वह अनुषंगिक बनकर आयी है और वहाँ भी **तात्त्विक** या **दार्शनिक** आयाम ही अधिक उभरे हैं **सामाजिक** नहीं।

कहे हुए सन्दर्भ में विचार करना दुस्तर भी है और शायद असार्थक भी। अतः सन्दर्भ की पूर्णता के लिए आवश्यक है कि समस्या को उसके सम्पूर्ण सांस्कृतिक सन्दर्भ में उठाया जाए। इसके लिए आवश्यक होगा कि दर्शन को हम उसकी सांस्कृतिक या ऐतिहासिक गतिशास्त्र की दृष्टि से देखें। सामाजिक समता का प्रश्न सामाजिक व्यवस्था और उससे भी अधिक हमारे सांस्कृतिक अवचेतन से जुड़ा हुआ है। सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक अवचेतन की पारस्परिकता में **सहजता** की मात्रा से सामाजिक समता की गति निर्धारित होती है।

विश्व का इतिहास इस बात के लिए संस्कृति-पुरुष **मनु** का ऋणी रहेगा कि उन्होंने भारतीय समाज को एक यथाशक्य सम्पूर्ण व्यवस्था दी, जिसमें समाज, और व्यक्ति तथा उसके सम्बन्ध को निर्धारित करने वाले मूल्यों का इस प्रकार सामंजस्य किया गया जिससे कि भारतीय समाज में ऐतिहासिक कालानुरोध से आने वाली

विकृतियों का परिहार होता रहे और समाज का प्रातिस्विक निर्बन्ध प्रवाह अखण्ड चलता रहे। इसका मूल कारण यह था कि जीवन को उसकी सम्पूर्ण विविधता और वैचित्र्य में स्वीकार करने की प्रवृत्ति। इसे हम जीवन-स्वीकरण दृष्टि (Life affirming attitude) कह सकते हैं। पर यह विरोधाभास ही कहा जायगा कि **मोक्ष** जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था के सिरजनहारों में जीवित व्यक्तित्व के सम्पूर्ण और चरम उन्मेष की पराकाष्ठा मानी थी, अपने समाजोत्तीर्ण और आपाततः वैयक्तिक आग्रहों के कारण पूरे जीवन की कीमत पर, न कि जीवन की गतिशीलता के सहज परिपाक के रूप में, दर्शन में समादृत हुआ और आस्तिक दर्शनों में मोक्ष के जीवन-विरोधी या जीवन-निषेधी रूप का वरण हुआ। सामाजिक सन्दर्भ में अभाव में जीवन का चूँकि कोई अर्थ नहीं, अतः सामाजिक सन्दर्भ अपने आप कटता गया।

इस सामाजिक सन्दर्भ को फिर से प्रतिष्ठित किया नास्तिक दर्शन ने (नास्तिक शब्द यहाँ व्यापक सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है—आस्तिकेतर के अर्थ में केवल **श्रमण या** जिन परम्परा के अर्थ में नहीं) मोक्ष को जीवन से जोड़कर। मोक्ष को जीवन की ही व्यापक प्रक्रिया का पार्यन्तिक अवयव या अवस्था मानकर। अतः जीवन-निषेध की आन्तरालिक दृष्टि जीवन-अंगीकरण की दृष्टि में फिर से कुछ क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हुई। जीवन-अंगीकरण के इस पुनरभियान से हम फिर सामाजिकता से जुड़े और **समता** की समस्या को एक सन्दर्भ प्राप्त हुआ। पर सामाजिकता से जोड़ की यह प्रक्रिया कई रूपों में चरितार्थ हुई, और कई कठिनाइयाँ भी सामने आईं। **श्रमण** और **जैन** परम्परा में जीवन निषेध और जीवन-अङ्गीकरण का यह विरोधाभास खुलकर सामने आया। सामाजिक स्तर पर समता, परम करुणा और संघीय जीवन के न केवल उपदिष्ट वरन् व्यवहृत आदर्शों के बाद भी **मोक्ष** का स्वरूप मूलतः जीवन-निषेधात्मक ही रहा और परम **कारुणिक तथागत** के निर्वाण और **अभिज्ञान शाकुन्तल** के 'नेत्र-निर्वाण' में प्रयुक्त निर्वाण का अन्तर गहराता ही गया। एक तरह से यह **वर्णाश्रम व्यवस्था** के चरम मूल्य के स्वीकार के साथ उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया या आधार का निषेध था। तन्त्र परम्परा में जीवन का अङ्गीकरण ज्यादा सार्थक स्तर पर हुआ। जीवन और मोक्ष के तथाकथित द्वैत का परिहार करते हुए यह प्रयास, साफ चेतन स्तर पर, किया गया कि मोक्ष को जीवन की चरम परिणति सहज और स्वाभाविक-माना जाए। पर कहीं-कहीं पर इस ज्वार का उन्मेष आपाततः समाज विरोधी रूप में हुआ, अतः समाज में व्यापक स्तर पर इनकी प्रतिष्ठा में अक्सर बाधाएँ आती रहीं। **भागवत,** भक्त और सन्त आन्दोलनों की तमाम मिली-जुली परम्पराओं में भी मनुष्य की आस्थाओं को एक आशामय उपलब्धिमान् आलम्बन देने की चेष्टा की गयी और

मोक्ष यहाँ जीवन के आनन्द का पुंजीभूतरूप बनकर आया। पर जहाँ इस आन्दोलन ने सामाजिकता और लोकानुकूलन के क्षेत्र में अनेक सम्भावनाएँ दी, वहाँ आत्मसंकुलन की प्रवृत्ति ने इसे केन्द्राभिसारी और आत्मपरितुष्ट ही बने रहने दिया। पर इन सारी धाराओं और प्रयासों की एक मौलिक कठिनाई यह रही कि इनमें से कोई भी धारा एक स्थानापन्न लोक व्यवस्था नहीं दे सकी। अर्थात् जीवन-निषेध का यह विरोध एक ऐसे चक्र के रूप में आया, जिसमें केन्द्र और परिधि तो नहीं थी पर बीच में कुछ आन्तरिक सत्त्व (content) नया नहीं था। अर्थात् समाज के उसी मूलभूत ढाँचे के अङ्गीकरण का अर्थ हुआ कि व्यवस्थागत विकृतियाँ और असामाजिकता की ऐतिहासिक प्रकृति में मौलिक की जगह आपातिक परिवर्तन ही हो पाए। अतः सामाजिक समता के क्षेत्र में प्रगति तो हुई पर आमूलचूल परिवर्तन नहीं हुआ। इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इन सारे प्रयोगों का कोई परिणाम नहीं हुआ। इनका भारतीय समाजरूप अवयवी में गहरा प्रभाव पड़ा और पुंजीभूत और समग्र परिणाम यह हुआ कि **वर्णाश्रम व्यवस्था** के विखण्डन की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।

इस लम्बी भूमिका का एक प्रयोजन है। हम तन्त्र साहित्य पर इसी दृष्टि से विचार करेंगे और देखेंगे कि समता की सामाजिक व्यंजनाएँ हमें कहाँ तक ले जाती हैं और यदि वे व्यंजनाएँ सीमित भी हों तो उनकी सम्भावनाएँ क्या हमें एक नए मानववादी, समतावादी भविष्य की ओर ले जाती हैं।

जहाँ तक सामाजिक समता की शब्दावली का प्रश्न है तन्त्र साहित्य भी इस बात का अपवाद नहीं है कि सामाजिक समता का कोई लोकव्यवस्थात्मक ठोस स्वरूप उभरता हो। पर **तान्त्रिक** और **वैदिक** परम्परा में कोई मौलिक अन्तर अवश्य था और इस अन्तर की चेतना **निगम** परम्परा के स्मृतिकारों और **आगम परम्परा** के आचार्यों को भी रही है। **मनुस्मृति** के प्रसिद्ध टीकाकार **कुल्लूक भट्ट** दो प्रकार की श्रुतियों की चर्चा करते हैं—वैदिक और तान्त्रिक।[1] इसी प्रकार **श्रीकण्ठ** अपने **ब्रह्म-सूत्र-भाष्य** में शैवागमों के दो विभागों का उल्लेख करते हैं—वेद जिनका साक्षात् सम्बन्ध तीन वर्णों से है और दूसरे जिनका सभी वर्णों से है।

"अतः शैवागमो द्विविधः त्रैवर्णिकविषयस्सर्वविषयश्चेति। वेदः त्रैवर्णिक-विषयः। सर्वविषयकश्चान्यः। उभयोरेक एक शिवः कर्ता।"[2] **तन्त्रालोक** के विश्रुत टीकाकार **जयरथ** भी दो प्रकार के शास्त्रों में अन्तर बताते हैं—

"तत्र भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि।"

(तंत्रालोक ४.२५२ पर विवेकटीका)

---

१. द्विविधा च श्रुतिः वैदिकी तान्त्रिकी च। २. ब्रह्मसूत्र २.२.३७ पर श्रीकण्ठभाष्य।

इसी प्रकार **योग सुधाकर** के प्रख्यात रचनाकार **सदाशिवेन्द्र सरस्वती** दो प्रकार के मंत्रों की ओर ध्यान ले जाते हैं—**"ते च मन्त्राः द्विविधाः, वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाः प्रगीताप्रगीतभेदेन द्विविधाः। तान्त्रिकाः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिविधाः"** (पृ० ४३)। सच पूछा जाए तो वैदिक और तान्त्रिक धारा का मूलभेद यहीं से प्रारम्भ होता है। वैदिकसंस्कृति वर्णाश्रमव्यवस्थामूलक और पुरुषप्रधान संस्कृति है और तान्त्रिक संस्कृति वर्ण, आश्रम और लिङ्गभेद की उपेक्षा करके चली है। **कुलार्णव तन्त्र** में कहा गया है—

गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं विप्रस्यापि विप्रता।
दीक्षासंस्कारसंपन्ने जातिभेदो न विद्यते॥ (पृ० १८७)

आध्यात्मिक संस्कार से सम्पन्न व्यक्ति में जाति का यह विगलन और संस्कारिता का समीकरण सबसे ऊँचे और सबसे नीचे दोनों स्तरों पर होता है। **अभिनवगुप्त गीतार्थसंग्रह** में इसी अन्तर को फिर से रेखांकित करते हैं—

शूद्राः कार्त्स्न्येन वैदिकक्रियानधिकृतः।
परतन्त्रवृत्तयश्च, तेऽपि मदाश्रिता मामेव यजन्ते॥

(गीता ९.३५ पर गीतार्थसंग्रह)

वर्णभेद के इस निषेध की भाँति लिङ्ग-भेद का भी **अभिनव** ने साफ निषेध किया है और इस निषेध का कारण भी बताया है कि लिङ्ग के आधार पर पात्रता का अपलाप परमेश्वर के सामर्थ्य और उसकी अगाध अनुग्रह शक्ति का उपहास उड़ाना है—

'केचिदाचक्षते—द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यं, न तु स्त्र्यादिष्वपवर्गप्राप्तितात्पर्येण इति। ते हि भगवतः सर्वानुग्राहिकां शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वमसहमानाः, भगवत्तत्वे भेदलिङ्गं बलादेवानयन्तः, मात्सर्यार्वाहत्थलज्जाजिह्मीकृतावाङ्मुख-दृष्टय इति हास्यरसविषयभावम् आत्मनि आरोपयन्ति इति।' (गीता ९.३५ पर गीतार्थसंग्रह)

वर्णाश्रम परम्परा और लिङ्गभेद की यह उपेक्षा दो तरह से की गयी है—कहीं पर पूर्ण निषेध, अस्वीकार या उल्लंघन के द्वारा और कहीं पर उसके साथ समझौता करके। पहले प्रकार की अभिव्यक्ति वाममार्ग की पद्धति में और दूसरे की दक्षिण मार्ग से हुई है। पर मूल भाव एक ही है। जीवन को उसकी समग्रता (Totality) में स्वीकार करना **तांत्रिक संस्कृति** का पहला लक्षण है।

तन्त्रों में यह बात बार-बार आई है कि मनुष्य के वैयक्तिक (आश्रम), सामाजिक (वर्ण) और आध्यात्मिक व्यक्तित्व परस्पर विरोधी नहीं हैं बल्कि एक

ही चेतना के क्रमिक विकास हैं और इनमें से प्रत्येक पक्ष की विभिन्न अवस्थाओं में केवल स्तर-भेद है, गुणात्मक भेद नहीं। **प्रत्यभिज्ञाहृदय** में 'तद्भूमिकाः सर्वदर्शन-स्थितयः' (सूत्र ८) कहकर क्षेमराज ने इसी बात की अभिव्यक्ति दी है। क्षेमराज की इस सूक्ष्म वाणी का पल्लवन **लल्ला** की इस उक्ति में और विशद रूप से हुआ है—

शिवो वा केशवो वापि जिनो वा द्रुहिणोऽपि वा।
संसाररोगेणाक्रान्तामबलां मा चिकित्सतु ॥ ८ ॥

जो इस रहस्य को नहीं समझ पाते उनके प्रति अभिनवगुप्त की कटुता दर्शनीय है—**'परमात्मनः सर्वगतं रूपं यो न पश्यति, तस्य परमात्मा पलायितः, स्वरूपप्रकटीकाराभावात्।'** (गीता ६.३१ पर गीतार्थसंग्रह) सच पूछिए तो साम्य की यह तात्त्विक स्वरूप की उद्‌बोधता ही सामाजिक साम्य के बीज बोती है। तन्त्रों का स्पष्ट उद्‌घोष है कि समता का अर्थ विषमता का अभाव नहीं है बल्कि उस वैषम्य को एक व्यवस्था के अन्तर्गत एक समंजस और परस्परानुजीवी स्थान प्रदान करता है ताकि आपातिक भेद, मौलिक अभेद का सम्पन्नतर प्रतीक बन सके। और समता का यह अर्थ भी नहीं है कि वस्तु के विशेष स्वरूप की अवधारणा या उसके स्वरूपगत वैशिष्ट्यों का अपलाप कर दिया जाए। समता का अर्थ है पदार्थ के अस्तित्व को दो चरणों में समझना—एक तो उसके विशिष्ट प्रकृति के सन्दर्भ में और फिर उस प्रकृति को एक ज्यादा मौलिक और सार्थक तत्त्व की सहज परिणति के रूप में। **गीता** के ५.१९ (विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥) की व्याख्या में **अभिनवगुप्त** बड़ी ही मार्मिक बात कहते हैं—

'तथा च तेषां योगिनां ब्राह्मणे नेदृशी बुद्धिः—अस्य शुश्रूषादिनाहं पुण्यवान्भविष्यामि—इत्यादि। गवि न पावनीयमित्यादि। हस्तिनि नार्थादिधीः। शुनि नापवित्रापकारितादिनिश्चयः। श्वपाके च न पापापवित्रादिधिषणा। अत एव समं पश्यन्ति इति, न तु व्यवहरन्ति।'

तंत्रों में इस समग्रतावादी दृष्टि को प्रत्येक स्तर पर अनेक प्रकार से उपपन्न करने का प्रयास हुआ है। मनुष्य की चेतना के उदात्तीकरण—

सर्वो ममायं विभवः इत्येवं परिजानतः। (ई० प्र० का० ४.३.१२)

फलतः सार्वभौमीकरण, चैतन्य के निमित्त और उपादान रूपों के अभेदीकरण[1]; परमतत्त्व से विषयजगत् के आवयविक निकास—

---

१. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थमिच्छावशाद्वहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ (ई० प्र० का० १.५.७)

(विमतिपदमङ्ग सर्वं मम चैतन्यात्मनः शरीरमिदम् ।
शून्यपदादीलावधि दृश्यत्वात् पिण्डवत् सिद्धम् ।।)

(विरूपाक्ष-पंचाशिका २)

ब्रह्माण्ड और पिण्ड के समीकरण—**अण्डपिण्डरुभयोरैकरूप्यमाम्नायेषु प्रसिद्धम् ।** (महार्थमञ्जरी, वाराणसी, पृ० ८); समग्रतामूलक साधना के अन्तर्गत भक्ति और ज्ञान के एकीकरण आगमों के अङ्गचतुष्ट्य—ज्ञान, योग, क्रिया, चर्या—द्वारा दर्शन, धर्म, आचार और साधना के समंजसीकरण; कूटस्थता और परिणामिता की भिन्नध्रुवीय धारणाओं के विमर्श या स्पन्द में समन्वयन; जागतिक विकास की शाब्दिक और आर्थिक धारा के परस्परान्वयन; और विविधता में अन्तर्हित एकता के प्रत्यय के बोधन; परमशिव और योगी के समीकरण आदि के द्वारा पदार्थगत विरोधों का परिहार करके उसी समग्रता दृष्टि का पल्लवन हुआ है । इन सबका फल यह होता है कि मोक्ष और जीवन क्रमशः स्वातन्त्र्य एवं बन्धन के प्रतीक न होकर जीव की आध्यात्मिक चेतना के पूर्ण और अपूर्ण विकास के प्रतीक बन जाते हैं; पाप और पुण्य केवल दृष्टिभेदमात्र रह जाते हैं—

(यः पापपुण्यहेतुत्वेन मम पूर्वं प्रसिद्धः नीलसुखादिभावः स एव मोक्षसाधनमिति ।)

(भास्करी, भाग १, पृ० ४०)

और भोग एवं योग अथवा मोक्ष एक दूसरे के विरोधी न रहकर पूरक बन जाते हैं (भोगमोक्षसामरस्यात्मा मोक्षः) ।[1] जो इनमें गुणात्मक भेद पाती है उसे ज्ञान की 'विवेकमूला' और इससे भिन्न दृष्टि को 'सामरस्यमूला' कह सकते हैं । ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में इसका प्रभाव ज्ञान की अध्यवसानमूला (इतरनिषेधपूर्वक निश्चयन) और अनुसंधानमूला (इतरग्रहणपूर्वक ज्ञान) प्रक्रियाओं में क्रमशः मिलता है ।[2]

इस दृष्टि से **शिवदृष्टि** में समता के प्रत्यय का जो विकास हुआ है वह समता के सामाजिक आयामों और सम्भावनाओं को पुष्ट आधार प्रदान करता है । **शिवदृष्टि** के अनुसार जिसे हम कुत्सित कहते हैं वह भी परमशक्ति का ही रूप-प्रसार मात्र है अतः उसकी निन्दा अनुचित है—

---

१. गीता ७.११ पर अपने व्याख्यान में अभिनवगुप्त इसका उद्‌घोष बड़े दर्प के साथ करते हैं—'एवं व्याख्यानं त्यक्त्वा ये—परस्परानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत—इत्याशयेन व्याचक्षते, ते सम्प्रदाय-क्रममजानाना भगवद्रहस्यं च व्याचक्षाणा नमस्कार्या एव ।'

२. देखिए, लेखक का 'तांत्रिक दर्शन : प्रकृति और सांस्कृतिक संदर्भ' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १८–२, पृ० ३८

कुत्सिते कुत्सितस्य स्यात् कथमुन्मुखतेति चेत् ।
रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिगत् ।। (शि० दृ० ११-१२)

सारे पदार्थों में परमेश्वर की सारी शक्तियों का संस्पर्श रहता है—

यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात्सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम् ।। (शि० दृ० १.२३)

यहाँ पर यह ध्यान देना चाहिए कि समता के विकास के लिए आत्मौपम्य' की भावना अनिवार्य मानी गयी है—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'** (गीता ६.३२ में आता है—**'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।'**) पर वस्तु तन्त्र एक कदम आगे बढ़कर आत्मैक्य या आत्माभेद के सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। कहना न होगा कि यह अभेदन व्यापार भेद का निषेध नहीं करता, बल्कि भेद का अभेद में उदात्तीकरण करता है—

तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा ।
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ।। (शि० दृ० १.३४)
एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता ।
परापदादिभेदोऽत्र श्रद्दधानैरुदाहृतः ।। वही–१.४८
एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम् ।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता ।। वही–१.४९

महार्थमञ्जरीकार ने **त्रिक शास्त्र** को उद्धृत करते हुए **'समताष्टक'** के द्वारा इस सार्वात्म्य भाव का प्रतिपादन बड़ी ओजस्विता के साथ किया है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ।। पृ० १६८

परम तत्त्व की और मोक्ष की **'अहम्-इदम्'** के सामरस्यं के रूप में जो परिकल्पना की गयी है वह दोनों ध्रुवों का समंजसीकरण ही है जिससे समता की उपर्युक्त कल्पना स्वतः प्रवाहित होती है। इसी प्रकार परमेश्वर के विश्वमय स्वरूप को प्रकाशविमर्शमय कहने का भी निहितार्थ यही है। प्रकाश का काम है भावव्यवस्था और विमर्श का भेद में अभेदव्यवस्था। इन दोनों व्यवस्थाओं का परस्पर अन्वयन और सामंजस्यीकरण ही शिव के स्वरूप का पूर्णभाव है। सत् मात्र शुद्धसंवित् न होकर पूर्ण संवित् है और जिस चरम अभेद की कल्पना यहाँ की गयी है वह एक अपोद्धृत

या अमूर्त ऐक्य न होकर सघन ऐक्य है। **हीगेल** की भाँति वह केवल विरोधियों की एकता मात्र नहीं है **अपितु क्रोचे** की भाँति वह भिन्नों की एकता भी है।[1] अतः सत् अनिवार्य रूप से भेद में अभेद है। सत् की पूर्णता का अभ्युपगम उसके अन्तर्निहित स्वातन्त्र्य या सद्यः स्फूर्ति के प्रत्यय के बिना सम्भव नहीं है। अतः सारी कारणात्मक व्याख्याएँ एक तरह से अधकचरी और अधूरी रह जाती हैं। **हीगेल** में घटनाएँ या पदार्थ 'परतत्त्व' से 'निगमित होते हैं यहाँ पर 'आभासित' या अभिव्यक्त।

तंत्रों की इस विचारधारा को यदि उसके ऐतिहासिक अनुवदन की दृष्टि से देखा जाए तो कहना पड़ेगा कि तंत्रों के प्रभाव से एक **मानवतावादी** आंदोलन का सूत्रपात अनजाने में ही **काश्मीर** की घाटी में होने लगा था। तंत्र प्रतिपादित भक्ति की जो अन्तर्धारा घाटी में बही वह चौदहवीं शताब्दी में जाकर **ललदे** के वाक्यों में अपने प्रकर्ष को प्राप्त हुई—

यथा शिलेकैव स्वजातिभेदात् पीठादिनानाविधरूपभागिनी।
तथैव योऽनन्ततया बिभाति कष्टेन लभ्यं शृणु तं गुरोः शिवम् ॥ ५२ ॥

नीला क्रैम कुक ने अपनी पुस्तक Thy way of swan में मध्य एशिया में इरफान के कवि-दार्शनिकों और काश्मीर के शैव लेखकों के मध्य एक घनिष्ट सामानन्तर्य के दर्शन किए हैं। **इरफान** और **काश्मीर** के ये दोनों आन्दोलन चौदहवीं शती में **शाह-इ-हमदान** से **लल्ला** की भेंट के साथ ही एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, जिसका परिणाम होता है **शिवाद्वयवाद** एवं **सूफीमत** की इरफान परम्परा का परस्पर मिश्रण। सांस्कृतिक आश्लेषण की यह प्रक्रिया, जो कि भक्ति आन्दोलन से प्रेरित और उद्भूत थी, बादशाह **जैन-उल-आबिदीन** के हाथों परवान चढ़ी। सहिष्णुता, उदारता और सर्वधर्मसमभाव से यह बादशाह प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध था। यह पहला बादशाह था जिसने काश्मीर में गोहत्या पर प्रतिबंध लगाया था और संस्कृत के पठन-पाठन को प्रोत्साहित किया था। **कुक** का कहना है कि यदि कहीं अकबर ने **जैन-उल-आबिदीन** के आदर्श का पालन किया होता तो एक धर्मनिरपेक्ष भारत का अभ्युदय उसी क्षण वहीं हो जाता।[2] धार्मिक समता और सहिष्णुता की इस परम्परा को **शेख नूरुद्दीन** ने, जो एक हिन्दू सन्त थे और बाद में मुसलमान हो गए थे, ने आगे बढ़ाया।[3]

१. देखिए लेखक का 'Contribution of Kashmir to Philosophy, Thought and cultuire' शीर्षक लेख, एवल्फ ऑफ भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग ५६, १९७५, पृ० ३२–३३।

२. देखिए, Kashmir Bi-annual, Ed. P. N Pushp, P. 90.

३. देखिए, Doctrine of Recognition, R. K. Kano, Srinagar, P. 366.

इतनी दौड़भाग का प्रयोजन सिर्फ इस बात को रेखांकित करता है कि **तंत्रों में** इस बात में प्रभूत आधार मिलते हैं कि एक नए **समतावादी दर्शन** की ठोस सम्भावनाएँ हैं। परमार्थ और व्यवहार के दो स्तरों की यहाँ पर भी प्रतिष्ठा की गई है। पर ऐसा लगता है कि परमार्थ और व्यवहार में यहाँ समन्वय का प्रयास किया गया है, साङ्कर्य नहीं। इस बात की पुष्टि इससे और भी होती है कि यहाँ व्यवहार के स्तर पर कम से कम सिद्धान्त और व्यवहार का भेद नहीं मिलता। हमारा लक्ष्य तन्त्रों का औचित्य सिद्ध करना नहीं है परन्तु छिपी हुई सम्भावनाओं को उजागर करना है। **डॉ० हर्षनारायण** ने पाँच प्रकार की जो अर्हताएँ रखी हैं[1] वे सभी किसी न किसी रूप में तन्त्रों में प्राप्त होती हैं। हम संक्षेप में उनका पुनराकलपन करें—

(१) तन्त्र पूर्णतावादी होते हुए भी, सभी सत्यों को मानव सत्य के रूप में स्वीकार करता है—**'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः'** (प्रत्यभिज्ञाहृदय सूत्र ८)। अपना मत यद्यपि अन्तिम है पर परमसत् की अभिव्यक्ति की अनन्त सम्भावनाएँ उसके साथ शेष नहीं हो जातीं।

(२) व्यक्ति में समष्टि की अनुस्यूति का अर्थ है प्रत्येक विचार में सार्वभौम भूत्ययोग्यता अन्तर्निहित है और दर्शन का काम है उस चेतना को पल्लवित करना।

(३) पिण्ड और ब्रह्माण्ड, योगी और परमशिव के समीकरण और व्यक्ति चेतना और समष्टि चेतना की एकरूपता का एक ही अर्थ है व्यक्ति को साध्य मानकर उसके विकास की चरम सम्भावनाओं का अनुसंधान।

(४) व्यावहारिक स्तर पर भी प्रमेय जगत् की तुलना में प्रमाता को अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और स्थायी स्वीकार करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्थायिता की धारणा को बल मिलता है।

(५) यह बात बार-बार सामने आ चुकी है कि तन्त्र दर्शन की अस्तित्वगत प्रवृत्ति पदार्थों के किसी गहरे अन्योन्याश्रयत्व का अनुसंधान करने में है और यह प्रवृत्ति एक प्रकार से भेद में निहित मौलिक अभेद का अन्वेषण मात्र है। तन्त्रों में यह बात कई बार दुहराई गयी है कि लोकयात्रा के सन्दर्भ में यह भेदाभेदव्यवहार ही परमार्थ दृष्टि में प्रवेश कराता है।[2]

---

१. देखिए, इसी गोष्ठी में पढ़ा गया डॉ० हर्षनारायण का लेख "भारतीय धर्म-दर्शन का स्वर सामाजिक समता अथवा विषमता।"

२. "सर्वथा तावदत्र प्रमेये भगवत एव भेदने च अभेदने च स्वातन्त्र्यं घटगताभासभेदाभेद-दृष्टिरेव परमार्थाद्वयदृष्टिप्रवेशे उपायः समवलम्बनीयः, न तु व्यवहारोऽपि अयं परमेश्वर-स्वरूपानुप्रवेशविरोधी।" ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी), २, पृ० १२९

पर इस प्रकार के प्रयासों में अतिसरलीकरण का आरोप आसानी से लगाया जा सकता है और विषय के हित में एक हद तक इसे स्वीकार करने के लिए हमें तैयार भी रहना चाहिए। परन्तु एक खतरे की ओर यहाँ पर ध्यान दिलाना उचित होगा। समता की बात हम लोक व्यवस्था के सन्दर्भ में करते हैं और समता को आधुनिक जीवन-बोध के एक आधारभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है। पर व्यवस्था के व्यापक सन्दर्भ में समता को यदि हम एकमात्र मूल्य स्वीकार करके चलते हैं तो यह शायद वदतो व्याघात होगा और व्यवस्था के ही अर्थ के विपरीत जा पड़ेगा। अतः दर्शन का एक मूल कृत्य रहेगा कि सार्वभौम मूल्यों में एक तारतम्य वरीयताक्रम और फिर उसमें परस्परान्वयीत्व का बोध कराना। एक की कीमत पर दूसरे की प्राप्ति व्यवस्था के मूल भाव समंजसीकरण के विपरीत है। उदाहरण के लिए स्वातन्त्र्य की कीमत पर समता या राष्ट्र पारतन्त्र्य की कीमत पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वांछनीय नहीं होगी। अतः **सामाजिक समता** की उचित और निर्बाध उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि व्यापक **मूल्यचेतना** के अन्तर्गत ही हम प्रयत्न करें। सर्वाङ्गीणत्व पर आग्रह करके तन्त्र हमें एकाङ्गिता के दोष से बचाने की बार-बार चेष्टा करते हैं। स्वातन्त्र्य, साम्य, आत्मबोध, स्वस्यावस्थान, लोक चेतना के उदात्तीकरण (विकल्पसंस्कार), व्यक्तिचेतना के साधारणीकरण आदि मूल्यों में तन्त्रों ने जिस प्रकार सामंजस्य बैठाया है उससे हमें प्रेरणा लेनी चाहिए।

• • •

वैष्णवतन्त्रों के सन्दर्भ में समता के स्वर

डॉ० अशोककुमार कालिया

भारतीय शास्त्रों में विविध प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जो कहीं-कहीं एक दूसरे के पूरक हैं और कहीं-कहीं एक दूसरे के विरोधी भी। प्रत्येक शास्त्र किसी न किसी विशेष सिद्धान्त की स्थापना करता हुआ दिखायी देता है। ऐसी स्थिति में प्रायः यह कह सकना सम्भव नहीं होता हैं कि किसी एक विषय पर भारतीय शास्त्रों का समवेत रूप से प्रतिपाद्य मत क्या है? हाँ, स्वर की या तात्पर्य की चर्चा अवश्य की जा सकती है। यह बात **समता** के प्रश्न को लेकर और अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है।

विषमता तो सृष्टि का स्वभाव है। अतः विषमता से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता। समता का प्रश्न सामाजिक क्षेत्र में ही उठाया जा सकता है। **विषमता** प्रकृति की देन है और **समता** मानव समाज की सुन्दर कल्पना। इस सृष्टि में, वैषम्य के साम्राज्य में प्रबुद्ध मनुष्य समता के सिद्धान्तों को, समता के मूल्यों को, समता के तत्त्वों को ढूँढ़ कर स्थापित करना चाहता है, और यही है मनुष्य की सामर्थ्य-सीमा।

अब देखना यह है कि इस विषय में भारतीय शास्त्रों का क्या दृष्टिकोण रहा है। भारतीय समाज का एक प्रमुख आधार स्तम्भ **वर्णव्यवस्था** है। वर्णव्यवस्था की कल्पना भारतीय शास्त्रों की अत्यन्त मौलिक कल्पना है। यह कल्पना वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से भारतीय शास्त्रकारों की सर्जनात्मक दार्शनिक मनीषा और प्रतिभा का अनुपम निदर्शन है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जिस दृष्टि को लेकर यह व्यवस्था आविर्भूत हुई, कालक्रम से वह दृष्टि व्यवस्था के साथ अधिक समय तक चल नहीं पायी। प्रत्युत यह कहना अतिरञ्जित सम्भवतः न हो कि बाद के शास्त्रकार उस दृष्टि से अपरिचित थे। सामाजिक व्यवस्था अथवा लोकव्यवस्था के लिए मानव समाज को उसकी सहज शारीरिक और मानसिक शक्तियों के आधार पर चार वर्णों में विभाजित करने की कल्पना आरम्भिक भारतीय शास्त्रकारों ने की। इस कल्पना की दृष्टि में **लोक** महत्त्वपूर्ण था, **समाज** महत्त्वपूर्ण था, अतः उस लोक और समाज के लिए प्रवृत्त हुई यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी, यही साध्य थी। किसी एक वर्ण की उच्चता अथवा नीचता का प्रतिपादन इसका प्रयोजन नहीं था। यह तो वर्णव्यवस्था के प्रतिष्ठापक शास्त्रकारों की बात है। यहाँ तक विषमता का कोई प्रश्न नहीं है, अतः

समता का भी नहीं है। समता का प्रश्न तो वहीं उठेगा, जहाँ समता न हो। इन वर्णों में जब से एक को उत्कृष्ट कहा जाने लगा और दूसरे को नीच, एक को वन्द्य कहा जाने लगा और दूसरे को निन्द्य, तभी से भारतीय समाज में विषमता का बीजवपन हुआ, और तभी से समता का प्रश्न भी सार्थक हो गया। प्रायः सभी उपलब्ध शास्त्र अपने ढंग से वर्णों की उच्चता अथवा नीचता की चर्चा करते हुए दिखायी देते हैं। अतः सामाजिक विषमता शास्त्रों में कोई ढूँढ़ने की वस्तु नहीं है।

आश्चर्य की बात यह है कि कालक्रम से विविध प्रकार की कुरीतियों से ग्रस्त होती हुई यह व्यवस्था, व्यवस्था नहीं रह गयी, यह व्यवस्था वर्णों की अव्यवस्था हो गयी और किसी भारतीय मनीषी ने इस स्थिति के विरुद्ध अपनी बैखरी का प्रयोग नहीं किया। पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर पर अद्वय सत्ता की स्थापना करने वाले, पूर्ण अभेद की स्थापना करने वाले आचार्य **शङ्कर** व्यावहारिक स्तर पर, सामाजिक स्तर पर भेददृष्टि का पूर्ण समर्थन करते हैं। **शारीरकभाष्य** का 'अपशूद्राधिकरण'[१] इसका एक उदाहरण है।

शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः।[२]
अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रं प्रतिपूरणीयम्।[३]
यद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।[४]
वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेद उच्चारणे शरीरभेदः।[५]
न शूद्राय मतिं दद्यात्।[६]

ये वे शास्त्रवचन हैं जिनको **शङ्कराचार्य** ने अपने भाष्य में प्रमाण के रूप में प्रयोग किया है।

आचार्य **रामानुज** ने उक्त अधिकरण[७] में **शङ्कराचार्य** द्वारा प्रदर्शित व्याख्यान-पद्धति का अवलम्बन लिया है। कम से कम एक वैष्णव आचार्य से इस प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए कि **पाञ्चरात्रसाहित्य** तथा **आलवार** भक्तों की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी वह इस प्रकार के मतों की पुष्टि करेंगे। वस्तुतः **रामानुज** वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, पाञ्चरात्र, तमिलवेद इन सबको साथ लेकर चलना चाहते हैं। परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले इस सम्पूर्ण साहित्य की उन्होंने इस प्रकार से व्याख्या की है कि इनमें किसी प्रकार का विरोध न रह जाय। इस समन्वय के लिए उन्होंने वैदिक क्रियाकलापों में अधिकारी का निर्णय

१. शारीरिक सूत्र, १.३.९। २. सं० ७.१.१.३। ३. गो० २.३.४। ४. वही। ५. गो० २.३.४। ६. मनु० ४.८०। ७. श्रीभाष्य १.३.९।

करते समय **मीमांसा** तथा **धर्मशास्त्रों** के प्रचलित मतों को स्वीकार कर लिया है। **वैदिक** क्रिया-कलापों की रामानुज ने मान्यता प्रदान तो की है किन्तु वरीयता **तान्त्रिक** साधना अर्थात् प्रपत्ति या शरणागति को ही दी है। रामानुज यहाँ उस चिकित्सक के रूप में सामने आते हैं जो एक ही रोग के दो उपचारों को मानते हुए एक उपचार (तान्त्रिक दीक्षा, प्रपत्ति-शरणागति) को दूसरे उपचार (वैदिक मार्ग) की अपेक्षा सर्व सुलभ, सुकर तथा शीघ्रफलप्रद होने के कारण मान्यता प्रदान करते हैं। विषमता का प्रतिपादन करने वाले वैदिक मार्ग को एक मार्ग मानते हुए भी तान्त्रिक मार्ग का जनसामान्य के लिए रामानुज ने अनुमोदन किया है। अब हमें यह देखना है कि **वैष्णव तन्त्रों** की अर्थात् **पाञ्चरात्र** आगमों की इस विषय में क्या स्थिति है ?

पाञ्चरात्र आगम

शङ्कराचार्य, भास्कराचार्य तथा तन्मतानुलम्बी अन्य आचार्य **ब्रह्मसूत्र** के **'विप्रतिषेधाच्च**[1]' सूत्र में **'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य'''।**[2] इस वचन को उदाहृत करते हुए कहते हैं कि 'शाण्डिल्य ने चारों वेदों में परम पुरुषार्थ को न देख कर इस शास्त्र का अध्ययन किया' इस प्रकार के स्पष्ट वेदनिन्दक वचनों के होने के कारण **पाञ्चरात्र** वेदविरोधी और अप्रामाणिक हैं। किन्तु यह तर्क अधिक सार्थक नहीं प्रतीत होता। **रामानुज** ने ठीक ही कहा है कि यदि यह तर्क मान लिया जाय तो स्वयं वेद का एक भाग अप्रामाणिक हो जायगा। उदाहरण के रूप में **भूमविद्या** के उपक्रम में **नारद** का कथन—**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदार्वणं चतुर्थम् इतिहास-पुराणं पञ्चमम्**[3] इस प्रकार अनेक विद्याओं का उल्लेख करने के बाद वह कहते हैं—**'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्'**[4]। जिस प्रकार से यहाँ **नारद** का अभिप्राय भूमविद्या की प्रशंसा ही है न कि वेदनिन्दा, उसी प्रकार से **शाण्डिल्य** के उक्त कथन को वेदनिन्दा परक न मानकर पाञ्चरात्र स्तुतिपरक मानना चाहिए। अतः पाञ्चरात्र आगमों में वेदनिन्दा है इस प्रकार के कथन भ्रामक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

किन्तु इतना तो है ही कि इन वैष्णव तन्त्रों ने ईश्वर प्राप्ति का उन लोगों के लिए भी अर्थात् स्त्री और शूद्रों के लिए भी एक ऐसे द्वार (भक्ति तथा शरणागति) का उद्घाटन किया जो वेद तथा वेद प्रतिपादित मार्ग से भिन्न है। इस अर्थ में कोई उन्हें वेदविरोधी कहना चाहे तो वह दूसरी बात है। किन्तु पाञ्चरात्र आगमों को

---

१. ब्रह्मसूत्र १.३.४५।
२. शारीरकभाष्य १.३.४५ में उदाहृत।
३. छान्दोग्य ७.१.२।
४. वही।

इस आक्षेप का बोध है, ऐसा प्रतीत होता है। इसी कारण यह शास्त्र स्वयं अपने को श्रुतिमूलक सिद्ध करते हुए वेद की एकायन शाखा को अपना आधार बतलाता है।[१] इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र वैदिक आचार की मर्यादा को स्वीकार करने, उसकी रक्षा करने की बात भी कही गयी है—

मनीषी वैदिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत्।
यथा हि बल्लभो राज्ञो नदीं राज्ञा प्रवर्तिताम्॥[२]

तथा—

एवं विलङ्घयन् मर्त्यो मर्यादां वेदनिर्मिताम्।
प्रियोऽपि न प्रियोऽसौ मे मदाज्ञाव्यनिवर्तनात्॥[३]

इस प्रकार पाञ्चरात्र आगम अपने ऊपर वेदविरोधी होने के आरोप का निराकरण करते हुए प्रतीत होते हैं।

पाञ्चरात्र आगामो पर दूसरा आरोप यह लगाया गया कि यह शास्त्र वेदबाह्य जनों के द्वारा परिगृहीत है। इस कारण पाञ्चरात्र आगम अप्रामाणिक हैं। **यामुनाचार्य** ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया है कि पाञ्चरात्रिक वेदबाह्य हैं और वैदिक पाञ्चरात्रबाह्य। यदि वेदबाह्य जनों से परिगृहीत होने से पाञ्चरात्र अप्रमाण है तो पाञ्चरात्रबाह्य जनों से परिगृहीत होने से वेद अप्रमाण क्यों नहीं है—

वेदबाह्यगृहीतत्वादप्रामाण्यवादि यत्।
एतद्बाह्यगृहीतत्वाद् वेदानां कुतो न तत्॥[४]

तात्पर्य यह है कि यदि पाञ्चरात्र आगम वेदविद्या में अनधिकृत लोगों को अपने में अधिकार देते हैं तो इसमें अप्रामाणिकता का कौन सा कारण है। वेद से विरोध तो वहाँ होता जहाँ पाञ्चरात्र वेद में उन्हें अधिकार प्रदान करता, जिन्हें वेद में अनधिकृत कहा गया है।

भट्टोजिदीक्षित ने अपने **'तन्त्राधिकारिनिर्णयः'** नामक ग्रन्थ में पाञ्चरात्र आगमों में अधिकारी का निर्णय बड़े शक्तिशाली ढंग से किया है। उनका निष्कर्ष है श्रुतिभ्रष्ट तथा पतित आदि ही पाञ्चरात्र आगमों में अधिकृत हैं—

तस्मात् पतितादय एव शङ्खचक्राद्यङ्कनादावधिकारिण इति सिद्धम्।[५]

पद्मपुराण का वचन इस प्रकार उदाहृत मिलता है—

श्रृणु राम ! महाबाहो लिङ्गचक्रादिधारिणाम्।
शूद्रधर्मरतानां हि तेषां नास्ति पुनर्भवः॥

---

१. ईश्वरसंहिता। २. लक्ष्मीतन्त्र, १७।९६। ३. वही, १७।९८।
४. आगमप्रामाण्यम् पृ० ६२। ५. तन्त्राधिकारि निर्णयः।

भट्टोजिदीक्षित इस पर टिप्पणी करते हैं—

किञ्च-स्वधर्मत्यागेन शूद्रधर्मरतानां द्विजानामपि पतितानामनेनाधिकारः।[१]

अर्थात् ब्राह्मण भी पाञ्चरात्र मार्ग का अवलम्बन लेता है तो वह भी पतित हो जाता है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए वह ब्रह्माण्डपुराण के इस वचन को उदाहृत करते हैं—

तप्तमुद्रा ह्यन्त्यजाय हरिणा निर्मिता पुरा।
भूदेवस्तप्तमुद्रा तु चिह्नं कृत्वा विमूढधीः॥[२]
इह जन्मनि शूद्रः स्यात् प्रेत्य श्वा च भविष्यति॥[३]

अर्थात् पाञ्चरात्र मार्ग का अवलम्बन होने वाला ब्राह्मण इस जन्म में शुद्र होता है और मर कर कुत्ता होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र आगमों पर वेदविरोधी होने का सुनियोजित आरोप लगाया जाता रहा है। उसका एक प्रमुख कारण इसके द्वार का मानवमात्र के लिए उद्घाटित होना है जिसमें स्त्री और शूद्र सम्मिलित हैं।

पाञ्चरात्र आगमों में शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति

पाञ्चरात्र आगम तान्त्रिक दीक्षा में त्रैर्वणिकों के साथ ही साथ स्त्री और शूद्रों को भी स्थान देते हैं। दीक्षायोग्य शिष्य के लक्षण बतलाते हुए लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है—

शिष्यश्च तादृशो ज्ञेयः सर्वलक्षणलक्षितः।
कुलीनं च तथा प्राज्ञं शास्त्रार्थनिरते सदा।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा भगवत्परम्॥
इदृग्लक्षणसंयुक्तं शिष्यमार्जवसंयुतम्।
वर्णधर्मक्रियोपेतां नारीं वा सद्विवेकिनीम्॥
विद्यादनुमते पत्युरनन्यां पतिमानिनीम्।
एवं लक्षणकं शिष्यमाचार्यो भगवन्मयः॥
ज्ञापयेद् विधिवन्मन्त्रान् गुरूदृष्टया समीक्ष्य तु।[४]

स्पष्ट है कि यहाँ तान्त्रिक मन्त्र ग्रहण करने में स्त्री और शूद्रों के अधिकार का उल्लेख है। इसी सन्दर्भ में **परमसंहिता** का निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या दीक्षायोग्यास्त्रयः स्मृताः।
जातिशीलगुणोपेताः शूद्राश्च स्त्रिय एव च॥[५]

---

१. पद्मपुराण। २. तन्त्राधिकारिनिर्णयः। ३. ब्रह्माण्डपुराण, १०।
४. लक्ष्मीतन्त्र, २१.३७–४१। ५. परमसंहिता, ७.२४।

विश्वामित्रसंहिता में भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गयी है—

शिष्याणां लक्षणं वच्मि तच्छृणुस्व समाहितः।
त्रिषु वर्णेषु सम्भूतः प्रशस्तकुलसम्भवः ॥[1]

तथा

स्त्रियः शूद्राश्चानुलोमाः कल्याणगुणसंयुताः।
यदि तानपि शिष्यत्वे गृह्णीयात् कृपया गुरुः ॥[2]

तान्त्रिक दीक्षा में सभी वर्णों का अधिकार है--इसमें दो मत नहीं। **महाभारत** का भी निम्नोद्धृत स्थल उक्त मत की पुष्टि में सहायक है—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैः स्वकर्मसु।
सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः ॥[3]

पाञ्चरात्र आगम की **अहिर्बुध्न्यसंहिता** में वेद तक में चारों वर्णों के अधिकार की बात कही गयी है—

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश्चत्वार उद्गताः।
ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यध्यादीनां चतुष्टयम् ॥[4]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं पाञ्चरात्र आगमों में उपर्युक्त मत बहुत समादृत नहीं हो पाया।

पाञ्चरात्र आगमों में प्रपत्ति का सिद्धान्त

प्रपत्ति अथवा शरणागति का सिद्धान्त पाञ्चरात्र आगमों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। **विभीषण** की शरणागति के प्रसङ्ग में **राम** के द्वारा की गयी घोषणा पाञ्चरात्र आगमों में शरणागति की स्वरूपनिरूपिका मानी गयी है। राम की उक्ति है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥[5]

यहाँ 'सर्वभूतेभ्यः' पद महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त **गीता** का निम्न श्लोक **चरममन्त्र** के रूप में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में समादृत है—

---

१. विश्वामित्रसंहिता, ३।१७।
२. विश्वामित्रसंहिता, ३।२७।
३. महाभारत, भीष्मपर्व।
४. अहिर्बुध्न्य, १५.२०.२१।
५. रामायण, युद्ध०, १८.३३।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[1]

इस प्रपत्ति की विशेषता ही यही है कि यह मार्ग सभी वर्णों के लिए सुलभ है । **सनत्कुमारसंहिता** का वचन है—

अनन्योपायशक्तस्य प्राप्त्येच्छोऽधिकारिता ।
प्रपत्तौ सर्ववर्णस्य सात्त्विकत्वादियोगतः ॥
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा ।
इति सर्वफलप्राप्तौ सर्वेषां विहिता यतः ॥[2]

शरणागति प्राणिमात्र के लिए है—यह तथ्य शरणागति के स्वरूप में ही निहित है । यहाँ **लक्ष्मीतन्त्र** का **श्री** और **इन्द्र** का संवाद द्रष्टव्य है । **श्री ने शक्र** से क्लेशसागर में डूबे हुए सभी प्राणियों के उद्धार का साधन पूछा—

अमी हि प्राणिनः सर्वे निमग्नाः क्लेशसागरे ।
उत्तारं प्राणिनामस्मात्कथं चिन्तयसि प्रभो ॥[3]

इस प्रश्न से प्रेरित होकर शक्र ने शरणागति का विस्तार से वर्णन किया है । इस शरणागति के ६ अंग हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥[4]

यहाँ प्रयुक्त प्रथम दो प्रपत्ति की विधाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसी तन्त्र में कहा गया है—

आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता ।
अतःस्थिताऽहं सर्वेषां भावानामिति निश्चयात् ॥
मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकूल्यं समाचरेत् ।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत् ॥[5]

शरणागति के प्रथम दो अंग है—आनुकूल्यसंकल्प' तथा 'प्रातिकूल्य-वर्जन' । यहाँ ईश्वर में ही अनुकूल आचरण के संकल्प तथा प्रतिकूल आचरण के वर्जन की बात नहीं कही गयी है । 'सर्वभूतानुकूलता' भी उसी आनुकूल्यसंकल्प में निहित है । और

---

१. गीता, १८ ६६, द्रष्टव्य लक्ष्मीतन्त्र, १६–४३, ४४ ।
२. सनत्कुमारसंहिता । ३,, लक्ष्मीतन्त्र, १७ : ४७ ।
४. वही, १७.६०.६१ । ५. वही, १७.६६.६७ ।

'सर्वभूतानुकूलता' का आधार ईश्वर का सभी प्राणियों में अन्तर्यामिरूप में अवस्थित होना है। प्रातिकूल्यवर्जन का अर्थ इसी प्रकार है। स्पष्ट है कि शरणागति मानवमात्र के ही लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए है। जैसा कि **विष्णुचित्त** का कथन है—

श्येनकपोतीयकपातोपाख्यानकाकविभीषणक्षत्रबन्धुमुचुकुन्दगजेन्द्रद्रौपदीतक्षक-शतमखादिषु मोक्षार्थतया क्षणकालनिर्वर्त्यप्रपदनार्थदर्शनात् अबधिराणां तत्र मुख्यत्वम् ।[1]

वैदिक कर्म धर्म तथा शरणागति में कई दृष्टियों से अन्तर है—

१–देशनियम—पुण्यक्षेत्रों में ही वैदिक कर्म हो सकते हैं। शरणागति कहीं भी की जा सकती है।

२–कालनियम—बसन्त आदि समय में वैदिक कर्म हो सकते हैं। शरणागति कभी भी की जा सकती है।

३–प्रकारनियम—विशिष्ट तथा निर्दिष्ट प्रकार से ही वैदिक कर्म होते हैं। शरणागति इस बन्धन से भी रहित है।

४–अधिकारिनियम—वैदिक कर्मों में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है। स्त्री और शूद्रों का नहीं है। शरणागति सर्वजनसुलभ है।

५–फलनियम—विशिष्ट वैदिक कर्म का विशिष्ट फल ही होता है। शरणागति सर्वफलप्रदा है।

इस प्रकार वैदिक धर्म में जो कमियाँ हैं उनकी पूर्ति शरणागति करती है। यही कारण है शरणागति अन्य मोक्ष के उपायों (कर्म, ज्ञान, भक्ति) की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट हैं—

सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कला कौटिलभीमपि ॥[2]

इस प्रकार से हम देखते हैं कि इन वैष्णव तन्त्रों में अन्य भारतीय शास्त्रीय परम्पराओं के विरुद्ध **सामाजिक समता** पर अधिक बल दिया गया है। यह सत्य है कि विषमता का निर्मूल ये तन्त्र नहीं कर पाये हैं, तथापि समता को दृष्टि में रखकर विषमता की परिधि को, विषमता के क्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया है। यह स्वाभाविक भी था। विषमता की इतनी शक्तिशाली धारा के विरुद्ध कुछ कहने का अर्थ था स्वयं अप्रामाणिक, प्रभावहीन सिद्ध हो जाना। अतः यदि तत्कालीन समय के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो सामाजिक समता के लिए वैष्णव तन्त्रों ने बहुत किया।

---

१. निक्षेपरक्षा, पृष्ठ ३६ उदाहृत; २. लक्ष्मीतन्त्र, १७।६३।

अप्रामाणिकता आदि के आक्षेपों को सुना, उनका उत्तर दिया, और संघर्ष भी किया। **यामुनाचार्य** आदि वैष्णव आचार्यों को 'आगमप्रामाण्य' जैसे गन्थों की रचना भी प्रायः इसी प्रकार के आरोपों का उत्तर देने के लिए करनी पड़ी। किन्तु इतना सब कुछ करते हुए भी सामाजिक विषमता को दूर करने की दिशा में यह परम्परा सफल नहीं हो पायी। इसका कारण स्पष्ट है। जब तक मन्वादि स्मृतियों का स्थान ले सकने में समर्थ किसी स्वतन्त्र धर्मशास्त्र की रचना नहीं जाती तब तक सामाजिक विषमता को दूर करने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता। और सम्भवतः मन्वादि स्मृतियों का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास वैष्णव तन्त्र नहीं कर सके। वैष्णव परम्परा में आगे चल कर मन्वादि स्मृतियों के विरोध की बात तो दूर उनका समर्थन ही प्रामाणिक माना गया। स्वयं अपनी प्रामाणिकता भी मन्वादि स्मृतियों से अविरोध की स्थिति में ही मानी गयी। **रामानुज** इसी मन्वादि स्मृतियों से विरोध होने के कारण कपिलस्मृति को अप्रमाण मानते हैं।[1] **रामानुज** के ही शब्दों में---

'मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिलजगद्भेषजभूतस्ववाक्यतया 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद् भेषजम्' इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिलदृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेश्श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदान्तार्थश्चालयितुं शक्य इति सिद्धम्।'[2]

यही कारण है कि सामाजिक विषमता के विरुद्ध होते हुए भी वैष्णव तन्त्र अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सके।

● ● ●

१. ब्रह्मसूत्र, २।१।१ (अधिकरण); २. श्रीभाष्य २।१।२।

वैदिकदर्शनों की दृष्टि में समता का स्वर

पं० केदारनाथ त्रिपाठी

वैदिकदर्शनों का मुख्य उद्देश्य दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ का उपायभूत **आत्मतत्त्व** का ज्ञान कराना है। जैसे, परमपुरुषार्थ निःश्रेयस की सिद्धि के पूर्व अभ्युदय का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वैसे ही मुक्तिसाधनभूत आत्मतत्त्व का निर्वि-चित्स ज्ञान के लिये अनात्मतत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है। इसीलिये **वैशेषिकदर्शन** के प्रणेता **कणादने** धर्म की व्याख्या करते हुए **"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"** ऐसा कहा है। साथ ही आत्मतत्त्वनिरूपण के प्रसङ्ग में सभी अनात्म तत्त्वों का भी विशद निरूपण किया है।

तत्त्वों के निरूपणार्थ विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न साधन अपनाया है। जैसे दोनों **पूर्वोत्तरमीमांसाओं** ने श्रौततत्त्व के निरूपणार्थ कर्मकाण्डीय एवं ज्ञानकाण्डीय श्रुतियों का तात्पर्य विचार किया। **न्यायवैशेषिकादि** शेष दर्शनों ने प्रमाणों के आधार पर सम्पूर्ण जागतिक तत्त्वों का विचार किया और उसमें भी श्रुतियों का विरोध न हो, ऐसा ध्यान रखा। आत्मतत्त्व के मुख्यतः श्रौत होने पर भी जगदन्तर्गत होने से उस पर न्यायवैशेषिकादि दर्शनों ने भी प्रमाणों के आधार पर गम्भीर विचार किया। तत्त्वों का विचार स्वरूपतः करते हुए एक दूसरे के साथ साधर्म्य वैधर्म्य की दृष्टि से भी विचार किया। विचार में कुछ तत्त्व दूसरे की समता में आये तो किसी रूप में विषमता में भी आये। यह बात **न्यायवैशेषिक** एवं **सांख्य** के साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरणों से स्पष्ट हो जाती है।

तात्पर्यतः दर्शनों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि सभी दर्शन तत्त्व का निरूपण करते हैं, जिसमें जागतिक समता और विषमता दोनों ही स्वरित होती है। **बौद्धदर्शन** में भी क्षणिकत्व विज्ञानरूपत्व या अर्थक्रियाकारित्व की दृष्टि से सभी सत् पदार्थों में समता स्वरित होती है। किन्तु अलीक में और सत् में विषमतायें स्पष्ट हैं। फलतः समता और विषमता दोनों ही वस्तुगत हैं, जिसका निरूपण दर्शनों में किया मिलता है। बिना साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान के वस्तुस्वरूप का सम्पूर्ण चित्रण मानस पटल पर नहीं हो पाता और न हम अनात्मतत्त्व से आत्मतत्त्व का पृथक्करण ही कर

पायेंगे। इस स्थिति में आत्मतत्त्व का यथार्थ स्वरूप परिचय न होने से दर्शनों का लक्ष्य सिद्ध न हो सकेगा। दर्शनों में प्रतिपादित तत्त्वगत सम्पूर्ण समताओं और विषमताओं का इस लघु निबन्ध में उपपादन करना विस्तार में जाना होगा।

इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की **समता** या **विषमता** सामाजिक, आर्थिक, व्यावहारिक आदि की हैं, जिनका निरूपण दर्शनेतर भारतीय शास्त्रों में किया गया है। किन्तु इस तरफ भी दार्शनिक स्वर की व्याख्या करना मेरे विचार से क्लिष्ट कल्पना ही होगी।

चाहे दर्शनशास्त्र हों या अन्य भारतीय शास्त्र हों, वे सभी **विषमता के भीतर समता** का स्वर देखते और कहते हैं। यही परमार्थ है। जहाँ **समता में विषमता देखना संसार और बन्धन है, वहाँ विषमता में समता की दृष्टि मुक्ति है।** यह दृष्टि जिसे जिस मात्रा में प्राप्त हो, वह उसी मात्रा में बद्ध और मुक्त है।

• • •

भारतीय शास्त्रों में समता

डॉ० रघुनाथ गिरि

भारतीय शास्त्रों की व्यापकता एवं विपुलता को देखते हुए तथा **समता** के विविध अर्थों में विवेचन की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि इस विषय पर एक छोटे निबन्ध में समग्र दृष्टि से विचार करना सम्भव नहीं है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में विषय से सम्बन्धित कतिपय प्रश्नों पर अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किया गया है।

मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भारतीय शास्त्रों में समता या सामाजिक समता सम्बन्धी प्रकरणों, वाक्यों, उद्धरणों का संग्रह, निर्देश एवं व्याख्यान, एक पक्ष है और शास्त्रों के समय में विद्यमान एवं शास्त्रों में चर्चित सामाजिक व्यवस्था में उन पहलुओं का अन्वेषण जिनके आधार पर सामाजिक समता की स्थापना की सम्भावना हो सकती है, दूसरा पक्ष है।

वर्तमान युग में समता के जोरदार उद्घोष के होते हुए बहुविध विषमताओं की विभीषिका से त्रस्त चिन्तक अति प्राचीन भारतीय संस्कृति से कुछ ऐसे तत्त्व की खोज करना चाहते हैं जिसमें हमारी आधुनिक समस्याओं (जो मुख्य रूप से विषमताओं के कारण उत्पन्न हुई हैं) का कुछ सीमा तक समाधान हो सके, और समता के नारे की सार्थकता स्थापित को जा सके।

उक्त आवश्यकता एवं विवेच्य द्विविध पक्षों को ध्यान में रखकर यदि भारतीय दर्शनों पर एक विहङ्गम दृष्टिपात किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय समाज या सामाजिक सम्बन्ध न होने के कारण सामाजिक समता से सम्बन्धित सन्दर्भों का नितान्त अभाव भले न हो, पर उसकी कमी अवश्य है।

सामान्यतया समता के दृष्टिकोण से भारतीय दर्शनों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं—**(क) तात्त्विक समता** और **व्यावहारिक विषमता (ख) तात्त्विक विषमता** और **व्यावहारिक समता**। प्रथम के ऐकान्तिक दृष्टान्त के रूप में **अद्वैत वेदान्त** को रखा जा सकता है जो ब्रह्म या परतत्त्व की एकता या समानता को स्वीकार करते हुए नाम-रूपात्मक व्यावहारिक विषमता का पक्षपाती है। दूसरे के ऐकान्तिक दृष्टान्त के रूप में **बौद्धदर्शन** को रखा जा सकता है जो **स्वलक्षण** की विषमता के साथ **सामान्य-**

लक्षण की समता का सिद्धान्त उपस्थित करता है। अन्य सभी दर्शन इन्हीं दो चरम पन्थों में कम या अधिक आग्रह के आधार पर रखे जा सकते हैं।

प्रायः सभी दर्शन कर्मवाद को स्वीकार कर समाज में विद्यमान समस्त विषमताओं के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं तथा कर्म स्वातन्त्र या विवेक के आधार पर स्वकर्म फल भोक्तृत्व रूप समत्व का समर्थन भी करते हैं।

प्रायः इन सभी दर्शनों में जीवन के आदर्श के रूप में वैराग्य या जीवन की अनेकानेक जटिल समस्या के प्रति उपेक्षा या उदासीनता को विशेष महत्व दिया गया है। इनमें आध्यात्म के प्रति जितनी ही अधिक जागरूकता, सतर्कता एवं तत्परता दीखती है, सामाजिकता के सन्दर्भ में उतनी ही अधिक उदासीनता, उपेक्षा और अकर्मण्यता। यही कारण है कि **धर्म** और **मोक्ष** के सन्दर्भ में जितने विकल्प, पक्ष, प्रतिपक्ष, मत, मतान्तर उपस्थित किए जा सके हैं उतने **अर्थ** और **काम** के सम्बन्ध में नहीं।

भारतीय समकालीन दर्शनों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन दार्शनिक विवेकानन्द, दयानन्द, अरविन्द आदि विद्वान् अपने दर्शन की इस कमी से भलीभाँति परिचित हैं तथा इसे यथासम्भव दूर करने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। यही कारण है कि इन दार्शनिकों ने अध्यात्म और जीवन, परमार्थ और व्यवहार, परलोक और इहलोक, व्यक्तिगत लक्ष्य, मोक्ष और सामाजिक लक्ष्य समता में यथा सम्भव समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

जब हम उक्त द्वितीय पक्ष को ध्यान में रखकर विचार करते हैं तो लगता है कि इन दर्शनों के उदय एवं विकास काल में एक सामाजिक व्यवस्था थी, जो 'वर्णाश्रम धर्म' के नाम से अभिहित होती थी। उस व्यवस्था में कुछ ऐसे तत्त्व थे और उसको पुष्ट करने के लिए इन दर्शनों ने कुछ ऐसे आचरणों का निर्माण करना चाहा जो आधुनिक सामाजिक समता के लिए मार्ग निर्देशक के रूप में आवश्यक प्रतीत होते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरणों को सामने रखना चाहेंगे। यदि **आश्रम व्यवस्था** के ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रम को उनके अन्तर्गत निहित सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनसे निकलने वाले सिद्धान्त एक व्यापक समता का आधार प्रस्तुत करते हैं। जैसे **ब्रह्मचर्य** आश्रम की निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था और **वानप्रस्थ** आश्रम का स्वेच्छया स्वाधिकार का परित्याग। आज के सन्दर्भ में सभी को निःशुल्क समान शिक्षा की व्यवस्था और एक निश्चित् वय के बाद आधिकारिक एवं लाभप्रद पदों का परित्याग अनेक सामाजिक

विषमताओं को दूर करने में सहायक हो सकता है। इसी प्रकार **संन्यास** निःस्वार्थ समाज सेवा और बिना पारिश्रमिक ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए मार्ग प्रदर्शक बन समता का आधार प्रस्तुत कर सकता है। वर्ण व्यवस्था में भी एक महत्व-पूर्ण सिद्धान्त निहित है जो आज के सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यक लगता है, वह है प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय की सुविधा प्रदान करने का सिद्धान्त। वर्ण व्यवस्था के इस व्यवसायात्मक या कर्मात्मक सिद्धान्त का क्रियान्वयन आधुनिक सन्दर्भ में बेकारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सामाजिक समता के लिए नवीन आयाम दे सकता है।

विक्रय के स्थान पर दान का महत्त्व

शास्त्रों में दान की बड़ी महिमा बतलाई गयी है और कुछ जीवनोपयोगी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं को विक्रय वर्जित किन्तु दान का विषय माना गया है। यदि आधुनिक सन्दर्भ में कम-से-कम भोजन सामग्रियों को विक्रय वर्जित बना दिया जाय तो सामाजिक समता की स्थापना का महत्त्वपूर्ण द्वार खुल जाय। इसी प्रकार दर्शनों में निर्दिष्ट अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों, सम्यक्दृष्टि, सम्यक् आजीव आदि मार्गों तथा मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि साधनाओं को व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठाकर इन्हें सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न हो तो सामाजिक समता के संस्थापन में हमारे दर्शनों का स्वर बुलन्द हो सकता है।

• • •

सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी

पश्चिम में दार्शनिक **तत्त्ववाद** समाप्त हो चुका है **पूर्व** में **अध्यात्म** केवल अन्धविश्वास मात्र रह गया है। पर मनुष्य दोनों जगह वर्तमान है। एक जगह सब व्यवस्थाओं को तोड़कर समाज व्यवस्था के नये-नये आयाम ढूँढ़े जा रहे हैं तो एक तरफ समाज की कलुषित प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति वैराग्य लेकर रहस्यवाद में आनन्द ले रहा है। पहला अपनी सारी समृद्धि के बावजूद उदास है, त्रस्त है, परेशान है तो दूसरा अपनी सारी खामियों या गरीबी के बावजूद शान्त है, प्रसन्न है, प्रेक्षक की भाँति देख रहा है, दुनिया के नाटक को।

पश्चिम सदा से गतिमान रहा है, उसका जीवन गतिशील था, उसने साहस करके सब जगह के नयेपन का स्वाद लिया और अनुभव ग्रहण किया। उसमें उसने कुछ दिया और कुछ लिया भी। **पूर्व** सदा से स्थिर रहा है, वह बदलाव से भय खाता है, उसमें गतिशीलता जब आती है तो वह काँपता है कहीं उसकी धरती (विरासत) खिसक तो नहीं जायेगी। इस भय से आतंकित पूर्व अपनी स्थिरता को नये-नये आयामों में बनाये रखना चाहता है। पर क्या भविष्य में यह बचा रहेगा ? अब इसमें सन्देह पैदा हो गया है।

सन्देह नये ज्ञान को जन्म देता है। भारतीय **द्विजमनीषा** इस समय सन्देहाक्रान्त है वह सोच रही है कि किस तरह से समय के अनुकूल शास्त्रों की व्याख्या की जाय और बीसवीं शती में पहली शती के विचारों को तर्कसंगत सिद्ध किया जाय। इसके लिए विश्वविद्यालयों के बुद्धिजीवी रात-दिन एक करके काम कर हैं और पहली शती को २० वीं शती के रूप में प्रस्थापित करते जा रहे है। इसी प्रक्रिया में इस संगोष्ठी की उपयोगिता आ सकती है।

समता को अगर सामञ्जस्य के रूप में लिया जाय तो यह काम कुछ साफ-साफ सामने आ सकता है। घड़ी की टिक-टिक की आवाज घड़ी के समग्र यन्त्रों के सामञ्जस्य पर निर्भर करती है, एक यन्त्र के खराब होने पर घड़ी बन्द हो जायेगी। उसी प्रकार समाज की समता सामञ्जस्य पर ही आधारित होगी, उसके किसी एक अंग पर कोई पक्षाघात होगा तो पूरा समाज चकनाचूर हो जायेगा। आज भारतीय

समाज कई तरह से प्रभावित हो रहा है। धर्मों को नये मूल्यों में बदला जा रहा है। अब धर्म न कह कर मानवीय मूल्य कहा जा रहा है। अब **वर्णाश्रम व्यवस्था** न कह कर **समाज व्यवस्था** का नाम दिया जा रहा है। अब कर्म की श्रेष्ठता के आधार पर जीवन बदल रहा है। ऊँचा नीच बन रहा है नीच ऊँच बन रहा है। आज पूरे देश में यह स्थिति है। पर इसे सीधे न कह कर वक्ररूप से कहा जा रहा है। सभी परेशान हैं। पर कहना कोई नहीं चाहता।

परेशानी के आ जाने पर व्यवस्था के लिए आदमी खुद को तैयार करता है और व्यवस्था को अपनी परम्परा से निकालना चाहता है। १८ महीने की इमरजेन्सी ने एक व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया, फिर दूसरी व्यवस्था की अपर्याप्तता से तीसरी व्यवस्था की ओर आदमी का ध्यान जा रहा है। इसी प्रकार करीब हजार वर्ष की व्यवस्था से ऊबा हुआ आदमी बुद्ध की शरण गया था, पर उनकी व्यवस्था भी बहुत टिकाऊँ नहीं रही और पुनः एक तीसरी व्यवस्था की ओर गया। इस प्रकार समाज का स्वरूप बदलता हुआ एक का विरोध कर दूसरे से संयोग बनाता हुआ आज तक चला आ रहा है। सम्भवतः यही मार्क्स के घात-प्रतिघात या संघात के रूप में विकसित वर्गसंघर्ष से समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप होगा।

पश्चिम से **पूर्व** में एक विशेषता पायी जाती है वह विशेषता सम्भवतः अध्यात्म की है। **अध्यात्म** यद्यपि व्यक्तिगत होता है, पर सह सामूहिक भी बन सकता है। यदि **मोक्ष** मार्ग का अधिकारी पुरुष किसी संसारी से बात करे तो कम से कम उन दोनों में संघर्ष नहीं होगा। रास्ता का भटकाव हो सकता है, मनमुटाव हो सकता है, पर शस्त्र संघर्ष नहीं। समृद्ध व्यक्ति का आपसी संघर्ष नाश का रास्ता खोलेगा, केवल मनमुटाव मात्र नहीं रहेगा। इसलिए समृद्ध व्यक्ति भटकाव या उदासीन मार्ग की ओर बढ़ रहे हैं। यह **पूर्व** की **पश्चिम** पर जीत है। यह व्यक्ति की जीत अवश्य है पर समाज की जीत नहीं है। समाज की जीत के लिए व्यक्ति के अध्यात्म को सामाजिक अध्यात्म के रूप में बदलना पड़ेगा। अगर वह बदलेगा तो सामाजिक समता कायम होगी।

यह बदल सकता है क्योंकि स्थिर समाज में प्रभु का विरोध करना बहुत कठिन होता है। व्यक्ति अपनी मानसिक शान्ति को स्वतः खोजकर उसी में एक रस बना रहता है। वह राज्य निरपेक्ष पर्णकुटी का अधिवासी हो जाता है। फलतः वह राज्य सत्ता का विरोध नहीं कर पाता है। भारतीय सन्त दार्शनिकों की यही हालत रही है। वे एक ब्रह्मवाद, आत्मन्, अनात्मन्, सर्वात्मन् में अवश्य विश्वास करते थे

पर राजा को बदल नहीं पाते थे, यदि बदलते थे तो मात्र अपने धर्म (सम्प्रदाय) का विकास करते थे। पर आज पश्चिम का प्रजातन्त्र हम पर हावी है उसके द्वारा अभी हमने सत्ता को बदला है। पुनः उसी के द्वारा व्यवस्था को बदल सकते हैं।

अन्त में एक बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा—**वह है धर्ममूलक आध्यात्मिक समता** की। **गांधी** ने राजनीति को सदा **धर्म** के साथ जोड़ा, ठीक उसी प्रकार **समता** को सदा **अध्यात्म** के साथ जोड़ना चाहिए। यदि यह जुड़ाव होगा तो भारतीय दर्शन की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ेगी और सबके प्रति सबकी अच्छी निगाह बनेगी। यदि ऐसा नहीं हुआ तो दुराव होगा और संघर्ष बढ़ेगा तथा मार्क्स का वर्ग संघर्ष आकर मानव के प्रेम, स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक भावना का नाश करेगा। फलतः मनुष्य समतावादी न बनकर दैत्यभाव से युक्त होकर राक्षसी ताकत से दबा हुआ रौरव नरक का भोग करेगा। इस सन्दर्भ में **भारतीय दर्शनों** की **आध्यात्मिक समता** की दृष्टि के विकास की नितान्त आवश्यकता है।

● ● ●

सामाजिक समता और बौद्धदर्शन

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

सुविदित है कि **बौद्धदर्शन** अनात्मवादी है। शून्यता नैरात्म्य का पर्याय है। शून्यता सभी प्राणियों और वस्तुओं का स्वभाव है। शून्यता यद्यपि एक तथ्य है किन्तु वह अपने-आप में कोई वस्तु नहीं है, अपितु निषेधमात्र है। यह किसका निषेध करता है? या इसका निषेध्य क्या है? इसके बारे में ठीक-ठीक परिचय न होने के कारण अक्सर बड़े-बड़े दार्शनिक कह दिया करते हैं कि **शून्यता** का अर्थ है—**'कुछ नहीं'**। जब जीव, जगत, कुछ नहीं है तो इस दर्शन के अनुसार न कोई समाज हो सकता है औन न कोई सामाजिक व्यवस्था। फलतः सामाजिक समता की स्थापना में इसका कोई योगदान कथमपि सम्भव नहीं। लेकिन ये सारे निष्कर्ष शून्यता का अर्थ ठीक से न समझने के कारण उद्भूत हुए हैं। शून्यता का अर्थ **'कुछ नहीं'** नहीं है, अपितु उसका अर्थ है—**'सब कुछ'**। **नागार्जुन** ने कहा है—

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किं न भवति शून्यता यस्य॥

अर्थात् जिसके मत में शून्यता है, उसी के यहाँ सारी व्यवस्था सम्भव है। जिसके मत में शून्यता नहीं, उस मत में कुछ भी नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि शून्यता का निषेध्य हमेशा अवस्तु होता है। अर्थात् जिसकी कथमपि किंचित् भी त्रिकाल में भी सत्ता नहीं है, और अज्ञानवश यदि उसकी सत्ता मान ली गयी है तो वह कल्पित सत्ता ही शून्यता का निषेध्य है। आशय यह है कि शून्यता का निषेध्य वस्तु नहीं, अपितु अवस्तु है। जो **वस्तु** है, वह **प्रतीत्यसमुत्पन्न** है अर्थात् कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न है और शून्यता उसका निषेध नहीं करती। वस्तु की जो स्वतः या स्वभावतः सत्ता है, या आत्मा और ईश्वर की सत्ता है, वह नितान्त आरोपित है, अवस्तु है, अतः शून्यता केवल उसी का निषेध करती है। शून्यता परमार्थ सत्य है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुओं का धर्म या स्वभाव है। प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएँ संवृतिसत्य हैं। स्वभावसत्ता, स्वतःसत्ता, आत्मा, ईश्वर आदि संवृतिसत्य भो नहीं हैं। सारा जगत् जीव और पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अतः शून्यता उनका निषेध नहीं करती। जो है, उसका निषेध कोई कर भी नहीं सकता। फलतः इस दर्शन के अनुसार जगत् का त्याग नहीं, अपितु संग्रह किया जाता है।

व्यक्ति और समाज

बौद्धदर्शन की दृष्टि से व्यक्तित्व विभिन्न घटक अवयवों का एक गतिशील सम्पुंजनमात्र है। इसके उपादानों में कोई भी एक ऐसा तत्त्व नहीं है, जो गतिहीन, अचल और कूटस्थ हो। इसके अवयवों में जड़ और चेतन दोनों प्रकार के अवयव होते हैं। इसमें विभिन्न सामाजिक और वैयक्तिक प्रभाव, मान्यतायें, धारणायें, संस्कार, स्मृतियाँ, आकांक्षायें और वासनायें संगृहीत होती हैं। जैसे प्याज के एक-एक छिलके को हटाते-हटाते अन्त में कुछ शेष नहीं रहता, इसी तरह पूरे व्यक्तित्त की एक-एक गहरी से गहरी परतों का विश्लेषण किया जाय, तो अन्त में कोई स्थायीतत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए परस्पर सम्बद्ध और कार्यरत ऐसे व्यक्तियों का समूह ही समाज है। इस व्यक्ति-अवयवों से अतिरिक्त समाज की कोई निरपेक्ष या स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। समाज एक चेतना है, जो प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिफलित होती है, किन्तु उन चेतनाओं को किसी उद्देश्य के लिए परस्पर सम्बद्ध और कार्यरत होना चाहिए।

समता

समता का कोई तात्त्विक अस्तित्व नहीं, अपितु यह विषमताओं का अभाव है। विषमताओं का निषेध कर देने पर विशेष व्यवहार या व्यवस्था के रूप में समता का प्रतिफलन होता है। विषमतायें वे हैं, जो किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति से या किसी मानव समुदाय को अन्य मानवसमुदाय से पृथक् करती हैं। जैसे—वर्ण, जाति सम्प्रदाय, किसी शास्त्र या गुरु के प्रति आस्था, राजनीतिक पार्टी, राष्ट्रियता आदि। ये सब मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करते हैं। ये सब धारणायें हैं, जिन्हें मनुष्य ने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है और उनसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। इसके मूल में व्यक्ति का भय और लोभ है। अपने को सुरक्षित करने के लिये या किसी लाभ के लिये व्यक्तियों ने इनका आरोपण किया है। इस लाभ और भय के मूल में भी व्यक्ति का अपने निरपेक्ष अस्तित्व के प्रति आग्रह है। अर्थात् आत्मदृष्टि इन सारी बुराइयों की जड़ में है। **आत्मदृष्टि** एक प्रकार की बुद्धि है, जिसका आधार **अहम्** की सत्ता है। जब व्यक्तित्व के सारे उपादानों का विश्लेषण किया जाता है और जब अहम् नामक किसी पदार्थ का पृथक् अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता, तब आत्मदृष्टि अपने-आप विगलित होने लगती है। आत्मदृष्टि का विनाश हो जाने पर उस पर आधारित उपर्युक्त सारी विषमतायें अपने-आप कारणों सहित विलुप्त होने लगती हैं।

इससे व्यक्ति परिवर्तित होने लगता है तथा दूसरे व्यक्ति के प्रति और वस्तुओं के प्रति उसके सम्बन्ध और व्यवहारों में भी परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। अब उसके सारे आचरणों की दिशा स्वार्थमूलक न होकर समाज-परक या परमार्थमूलक हो जाती है। इस तरह **बौद्धों** की दृष्टि में **सामाजिक समता नैरात्म्यमूलक** बनती है। बौद्धों की दृष्टि में अतीत और अनागत काल की सत्ता मान्य नहीं हैं, अतः जो भी समता हो, उसे इसी लोक में और अभी अर्थात् वर्तमान में ही घटित होना चाहिए।

करुणा

बौद्धदर्शन अध्यात्मवादी है। नैरात्म्य या शून्यता उनकी आध्यात्मिक समता का आधार है। उनकी इस आध्यात्मिक समता का व्यावहारिक रूप अथवा यह कहें कि उसका सामाजिक समता से सम्बन्ध जोड़ने वाला तत्त्व करुणा है। जगत में अनन्त और असीम दुःख और विषमताओं का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इस यथार्थ दुःख का दर्शन ही करुणा का बीज है। **करुणा** ही महायान बौद्धदर्शन का आदि, मध्य और अन्त है।

दुःखों से मुक्ति तो प्रत्येक प्राणी चाहता है, किन्तु जब कोई व्यक्ति यह सोचे कि दुःख और भय जैसे मुझे प्रिय नहीं है, वैसे किसी को प्रिय नहीं है, तो फिर मुझमें ही ऐसी क्या विशेषता है कि मैं अपने को ही दुःख में मुक्त करना चाहता हूँ, अन्य को नहीं ? तो यहाँ से करुणा प्रारम्भ होने लगती है। जैसे **शान्तिदेव** ने **शिक्षासमुच्चय** में कहा है—

यदात्मनः परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥

बौद्ध कर्मफलवादी तथा **पुनर्जन्मवादी** हैं। अनादिकालीन जन्म-परम्परा में सभी प्राणी कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में उसके बन्धु रहे हैं और वह भी इसी तरह अन्य प्राणियों से सम्बद्ध रहा है। इसका अर्थ है कि उसके व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सभी का योगदान रहा है सबका उस पर ऋण है। इसी तरह जगत् में जो दुःख है या दुःख की व्यवस्था है, उसमें भी सबका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ है। इसका अर्थ हुआ **करुणा** एक उत्तरदायित्व की भावना है, जिसके द्वारा वह अपने को समाज का ऋणी समझता है और दुःखों के प्रवाह का तथा उसके स्रोत का उच्छेद करने का भार वह अपने ऊपर लेता है।

भारतीय दर्शनों में प्रायः सभी व्यक्तिगत मोक्ष के हिमायती हैं। **महायानी बौद्ध** व्यक्तिगत मोक्ष की आकांक्षा को हीन कोटि की आकांक्षा समझते हैं। जैसे कोई

पुत्र अपने माता-पिता को दुःख की अवस्था में छोड़कर स्वयं ऐश्वर्य का उपभोग करे तो वह निन्दनीय समझा जाता है, उसी तरह जब सभी प्राणियों या पूरे समाज का एक व्यक्ति के निर्माण में योगदान है तो उसे बिना दुःख से मुक्त किये स्वयं एकाकी मुक्ति की साधना करना महायान की दृष्टि में एक स्वार्थपूर्ण कार्य समझा जाता है। अतः इस करुणा का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति नहीं, अपितु समस्त प्राणियों की दुःखों से निवृत्ति और सुखों की प्राप्ति निर्धारित किया गया है। यह सुख-प्राप्ति भी आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति ही नहीं है, अपितु लौकिक सुखों की प्राप्ति कराना भी इसमें निहित है। इसी लिये **बोधिचर्यावतार** में कहा गया है—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

एक और विचारधारा है। यह जो **स्व** और **पर** माननेवाली भेदबुद्धि है, इसका इसके अतिरिक्त और कोई मूल नहीं है कि हमने अनादिकाल से इस तरह सोचने का अभ्यास कर लिया है अथवा समाज की ओर से इस तरह सोचने को बाध्य किया गया है। 'स्व' और 'पर' का विश्लेषण करने पर कहीं पर भी वैसा कोई स्थायी तत्त्व उपलब्ध नहीं होता। जब ऐसी स्थिति है तो इससे विपरीत अभ्यास करके स्व को पर के रूप में तथा पर को स्व के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में दूसरों का सारा दुःख अपना दुःख हो जाता है। इसका तात्पर्य **परार्थ** ही **स्वार्थ** बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि करुणावान् व्यक्ति उन लोगों से अपने को पृथक् नहीं करता, जिनके दुःखों की तिवृत्ति के लिये वह प्रयास करता है। फलतः इस कार्य से उसमें अहंकार की वृद्धि भी नहीं हो पाती। इस प्रकार की विचारधारा के मूल में बौद्धों का **शून्यवादी दर्शन** ही है।

करुणा का मूल पहले दुःखी प्राणी और बाद में केवल दुःखमात्र हो जाता है। करुणावान् व्यक्ति समाज के हित में अपने व्यक्तित्व का विलोप कर देता है। वह जिन-जिन स्रोतों से दुःख जन्म लेता है, उसके स्रोतों को सुखाने में आत्मबलिदान के लिये सदा तत्पर रहता है। वह ऐसी विषम सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ने में, जिनसे दुःख पैदा होता है तथा ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं की स्थापना में, जिनसे बहुजन का सुख, बहुजन का हित सम्पन्न होता हो, अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। ऐसा व्यक्ति महायान की शब्दावली में **बोधिसत्त्व** कहलाता है, जिसने दुःख के स्रोतों को सुखाने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले रखा है। उसकी यह उत्तर-दायित्व की भावना ही **महाकरुणा** कहलाती है। इस करुणा से वह किसी प्रकार का

कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं चाहता, यहाँ तक कि वह मोक्ष को भी अपने उद्देश्य के सामने तुच्छ ही समझता है। उसका पूरा व्यक्तित्व एक सामाजिक व्यक्तित्व होता है। समाज ही उसका आराध्य एवं पूज्य होता है। उसकी सेवा में ही वह अपने जीवन की कृतार्थता समझता है। वह प्रतिज्ञा करता है कि जब तक सभी प्राणी दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक निर्वाण की सारी स्थिति सुलभ होने पर भी मैं उसमें प्रवेश नहीं करूँगा। इसे ही **अप्रतिष्ठित निर्वाण** कहते हैं और यही **करुणा** या **बोधि-सत्त्व** का लक्ष्य है। इस तरह करुणा व्यक्ति और समाज के मौलिक परिवर्तन का, उनके हितसाधन का अपूर्व भारतीय उपाय है। दुनियाँ में आज तक जितने भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन हुए, उनके मूल में करुणा नहीं रहने से अनेक प्रकार की विकृतियों का जन्म हुआ। बुराइयाँ नष्ट नहीं हुई, अपितु दूसरे-दूसरे रूपों में प्रकट हुई हैं। करुणा एक ऐसा भारतीय उपाय है, जिससे परिवर्तन तो घटित होता है। किन्तु प्रतिक्रिया का और विकृति का जन्म नहीं होता। दुनियाँ के **समाज-शास्त्रियों** को इसका मूल्यांकन करना चाहिए।

● ● ●

जैनदर्शन के सन्दर्भ में समता के विचार

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय मनीषा ने दर्शन, धर्म और संस्कृतिविषयक जो चिन्तन दिया, उसमें **जैन दर्शन**, जैन**धर्म** और जैन **संस्कृति** का विशिष्ट स्थान है। सामाजिक समता के सन्दर्भ में **तीर्थंकरों** के चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

जैन चिन्तन अपने सुदूर अतीत में **'श्रमण'** नाम से अभिहित होता रहा है। सम = शान्ति और सम = श्रम की आधारशिला पर निर्मित जैन धर्म और दर्शन का भव्य प्रासाद समग्र समता की एक सम्पूर्ण आचार संहिता का कीर्तिमन्दिर है। जन्म को जाति का आधार न मानने वाले जैनधर्म के जन्मजात अनुयायियों का जो स्वरूप आज हमारी आँखों के सामने है, उसे पूरी तरह नजरंदाज किये बिना भी हम आपको अतीत की उस उर्वरा धरती का स्पर्श करा देना चाहते हैं जिसमें **श्रमण संस्कृति** का अंकुर प्रस्फुटित हुआ।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में **'सम'** और **'समता'** शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। जैसे—

पाइअसद्दमहण्णवो में

सम (शम्)—शान्त होना, उपशान्त होना, नष्ट होना।

सम (शमय)—उपशान्त करना, नाश करना, दबाना।

सम (श्रम)—परिश्रम, आयास, खेद, थकावट।

सम (शम)—शान्ति, प्रशम, क्रोध आदि का निग्रह।

सम (सम)—समान, तुल्य, सरीखा, तटस्थ, मध्यस्थ, उदासीन, रागद्वेष से रहित।

समता (समया)—रागद्वेष का अभाव, मध्यस्थता।

इन प्रयोगों से हमें यह समझने में सरलता होती है कि 'समता' की अवधारणा क्या है।

जैन चिन्तन की यह फलश्रुति है कि **समता** का मूल आधार है **स्वातन्त्र्य**, और **सामान्य** की **अनुभूति**। पारतन्त्र्य चाहे वह परिवार का हो, मालिक का हो या भले ही ईश्वर का क्यों न हो, समता के मार्ग में बहुत बड़ा व्यवधान है। यहाँ तक

कि स्वयं अपनी ही अकांक्षाओं और इन्द्रियों का पारतन्त्र्य भी विषमता के गर्त में ढकेले बिना नहीं रहता।

समता के लिए इतना ही आवश्यक है **सामान्यबोध।** विशेष की निरपेक्ष अवधारणा विषमता की जननी है। विशेष की अनुभूति चाहे वह स्वयं को सामान्य से उच्च मानने की हो या सामान्य से नीचा समझने की, दोनों ही स्थितियों में विषमता को पैदा करती है। जब तक विशेष के कल्पवृक्ष की जड़ें सामान्य की धरती में माटी की ममता से जुड़ी रहती हैं, तब तक वह पल्लवित और पुष्पित होता रहता है। धरती से नाता तोड़ने का परिणाम होता है आत्मघात। यदि आम का पेड़ कहे कि मैं सिर्फ आम हूँ, वृक्ष नहीं हूँ, तो उसका अस्तित्व कहाँ टिकेगा। जैन चिन्तकों ने सामान्य की महत्ता को जगाया और तब उसने विशेष को झकझोरकर कहा कि तुम्हारी बैसाखी तो हम हैं। नादान मत बनो, हमारी उपेक्षा से तुम पंगु बन जाओगे, विलख-विलखकर रोना पड़ेगा।

अपने को उच्च मानने की अनुभूति से अधिक खतरनाक है अपने को निम्न मानने के विशेष की अनुभूति। इससे विषमता की खाई दुहरी हो ज़ाती है। इसलिए आवश्यक है कि दोनों स्तरों पर विशेष की अनुभूति का बोध समाप्त हो। **जैन** चिन्तकों ने जो सबसे बड़ा कार्य किया, वह यही था कि **सामान्य** को अपनी महत्ता और **विशेष** को अपनी सीमा का बोध कराया। **महावीर** को अपने इस कार्य में जो अद्भुत सफलता मिली, उसी का प्रतिफ़ल था कि सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता विखर कर आम आदमी की समानता में समा गयी। महावीर स्वयं **क्षत्रिय** राजकुमार थे, किन्तु उनके संघ के ग्यारह के ग्यारह **गणधर ब्राह्मण** थे। उस युग का सबसे समृद्ध और महावीर का कट्टर विरोधी मगध सम्राट श्रेणिक **बिम्बसार महावीर** की सभाओं का प्रमुख श्रोता बना। **हरिकेशी चाण्डाल** और चौराहे पर दासी के रूप में नीलाम की गयी **चन्दना** को महावीर के संघ में समान प्रतिष्ठा मिली।

महावीर जिस परिवेश में जन्में, उसमें उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक विषमताओं को निकट से देखा तथा भोगा। उस समय जीवन धर्म-केन्द्रित हो गया था। समाज की संरचना और आर्थिक वितरण का नियामक भी धर्म था। राजनीति में भी धर्म का प्राधान्य होने से सामाजिक न्याय की प्राप्ति में भी धार्मिक नियम आधार बनते थे।

समय के दीर्घ अन्तराल में समाज संरचना के वैदिक आधार वर्ण-व्यवस्था का रूप इतना विकृत हो चुका था कि आदमी-आदमी के बीच एक लम्बी और गहरी खाई बन गयी थी। पशुयज्ञों ने समाज के आर्थिक ढाँचे को जर्जरित कर दिया था। और ईश्वर की परतन्त्रता के कारण व्यक्ति और उसके श्रम का मूल्य नहीं रह गया था।

महावीर ने देखा एक ओर समृद्ध **वैशाली,** दूसरी ओर अन्त्यज और चाण्डालों की बस्तियाँ। एक ओर यज्ञों में पशुधन और खाद्यान्न का विसर्जन, दूसरी ओर दाने-दाने के लिए कलपते हुए लोग। एक ओर रत्न क़ंबल, दूसरी ओर झंझावातों में ठिठुरता नंगा शरीर। उपभोग्य सामग्रियों की तरह खुले बाजार में बिकते तथाकथित दासी-दास, स्त्री-पुरुष। चारों ओर विषमता ही विषमता।

महावीर ने बारह वर्षों तक इन समस्याओं का अध्ययन किया। इन्हें मिटाने के लिए अपने आप पर अनेक प्रयोग किये। और जब उन्हें लगा कि उनके प्रयोग पूरे हो गये हैं तब उन्होंने कहा—आओ, एक ऐसे समाज की रचना करें, जिसमें कोई किसी के प्राण न ले। सभी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।

"सब यह समझें कि जैसे दुःख मुझे अच्छे नहीं लगते, वैसे दूसरे को भी अच्छे नहीं लगते।"

उन्होंने कहा—जो अनृत है, अकल्याणकारी है, वह मिथ्या है, झूठ है। असत्य की भी सीमा होती है। परलोक में सुखों का लोभ दिखाकर वर्तमान के साधनों का स्वाहा करना ठीक नहीं है।

महावीर ने कहा—बिना अनुमति किसी की चीज लेना चोरी है। अदत्तग्रहण नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह गलत है कि एक जगह साधन सामग्री के अंबार लग जाएँ, और दूसरी जगह खाने के लाले पड़े रहें। संग्रह का परित्याग होना चाहिए, व्यक्ति और वस्तु दोनों के संग्रह का। और आगे चलकर महावीर ने कहा—सब एक जैसे हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं हैं। सबके व्यक्तित्व का आदर होना चाहिए। सबकी बात का आदर होना चाहिए।

यह था महावीर का दर्शन-जैनदर्शन। जिसे लोगों ने बाद में **अणुव्रत** और **महाव्रतों** के रूप में जाना, **अनेकान्त** और **स्याद्वाद** के रूप में व्याख्यायित किया।

जैन मनीषियों ने कहा—मनुष्य स्वतःप्रमाण होता है। **श्रुति** और **ग्रन्थ** उसकी प्रामाणिकता से प्रमाण हो सकते हैं, स्वतः प्रमाण नहीं। प्रश्न अपने भीतर की

प्रामाणिकता को, वीतरागता और सर्वज्ञता को जगाने का है। इसे जगा लिया तो तुम स्वयं आप्त हो जाओगे, सर्वज्ञ हो जाओगे। अपने को जीत कर **जिन** हो जाओगे और तब तुम जो कुछ कहोगे वह **शास्त्र** बनेगा, वही **प्रमाण** होगा। तुम स्वतः प्रमाण हो। तुम स्वयं ईश्वर हो।

जैन दार्शनिकों ने कहा यह विश्व विराट है। प्रतिपल इसमें कुछ न कुछ घटित होता रहता है। इसे समग्र रूप में एक साथ जान पाना मुश्किल है। जान भी लोगे तो एक साथ इसका निर्णय नहीं कर सकते। हमारी वाणी की सीमा है। समग्रता की अभिव्यक्ति एक साथ सम्भव नहीं है। अखण्ड को हम खण्ड-खण्ड करके जानते हैं, और खण्ड-खण्ड करके अभिव्यक्त करते हैं। यही **अनेकान्त** का चिन्तन है। यही **स्याद्वाद** की भाषा है। खण्ड की अनुभूति और ज्ञान सापेक्षता की मथानी से मथकर निकाला गया तत्त्वचिन्तन का नवनीत है। इस रहस्य को दही विलोने वाली गोपी ज्यादा आसानी से समझ सकती है।

सापेक्षता के इस सिद्धान्त की निष्पत्ति है विचार, वाणी और व्यवहार में समन्वय। सापेक्षता का परिज्ञान दुराग्रह से मुक्ति दिलाता है। और समता के उस उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करता है, जहाँ से विषमता का विरोध पानी-पानी होकर हजार धाराओं में बह जाता है।

महावीर के युग की विषमता का केन्द्रबिन्दु था **'धर्म'** और आज की विषमता की धुरी है **राजनीति।** पीरख्वाजा की मजार पर चादर चढ़ाने में भी राजनीति है और बाबा विश्वनाथ पर जल की धारा छोड़ने में भी। रामायण और मनुस्मृति जलाने में भी राजनीति है और पत्थर की प्रतिमा को गंगाजल से धोने में भी। गोदामों में अनाज सड़ने में भी राजनीति है और रिजर्वबैंक का सोना नीलाम करने में भी। आरक्षण में भी राजनीति है और आरक्ष का विरोध करने में भी। हमारे भोजन छोड़ने में भी राजनीति है और अधिक खाने में भी। इस समय सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषमता का मूल है राजनीति। और सामाजिक समता का भी मूल है राजनीति। तब क्यों न हम राजनीति को जियें, राजनीति को ही ओढ़ें, राजनीति को ही बिछाएं। खायें भी राजनीति और पिएं भी राजनीति। क्यों न हम राजनीति के ही पण्डित हो जाएं।

भारत की जिस मनीषा ने **धर्म** और **संस्कृति** का दर्शन प्रस्तुत किया था उसे अब समग्र जीवन की राजनीति का दर्शन प्रस्तुत करना पड़ेगा। उसी दर्शन में से सामाजिक **समता** का **धर्म** और संस्कृति जन्म लेगी।

● ● ●

जैनवाङ्मय में समता के स्वर

श्री अमृतलाल जैन

प्राचीन **जैनवाङ्मय** की दृष्टि से किसी समय यहाँ भोगभूमि रही। भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य **'आर्य'** कहलाते थे। उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई व्यापार नहीं करना पड़ता था; क्योंकि उनकी सभी आवश्यकताएँ इस प्रकार के कल्पवृक्षों से ही पूरी हो जाती थीं। फलतः आर्यों में सञ्चय करने की मनोवृत्ति नहीं थी। इसी कारण से वे कोई पाप नहीं करते थे; आजीवन स्वस्थ एवं सुखी रहते थे, और मरणोपरान्त स्वर्ग ही जाते थे। उस समय के मानवों में पूर्ण समानता थी। सञ्चयवृत्ति के न होने से **आर्थिक समता** रही और वर्णव्यवस्था तथा जातिप्रथा के न होने से **सामाजिक समता।**

समय के परिवर्तन के साथ व्यवस्था भी परिवर्तित हो गयी। भोगभूमि का स्थान कर्मभूमि ने ले लिया और जीविका चलाने के लिये मानव समाज को असि, मषि, कृषि, सेवा, वाणिज्य और शिल्प का आश्रय लेना पड़ा। ऐसी स्थिति में सञ्चयवृत्ति का प्रारम्भ हुआ और उसी के साथ आर्थिक विषमता का जन्म हुआ।

नौवीं शती के जैन आचार्य **भगवज्जिनसेन** ने अपने **महापुराण** में लिखा है कि इस युग के प्रारम्भ में प्रथम **तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव** के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् **भरत** ने, जिनके नाम पर इस देश का नाम 'भारत' रखा गया, वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया। नवीं शती के बाद के अनेक जैन मनीषियों ने **भगवज्जिनसेनाचार्य** के अनुकरण पर वर्णव्यवस्था तथा जातिप्रथा को प्रश्रय दिया। दसवीं शताब्दी के समर्थ विद्वान् **सोमदेवसूरि** ने अपने **'नीतिवाक्यामृतम्'** ग्रन्थ में धर्म एवं वर्णव्यवस्था पर विशद प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ को वैदिक विद्वान् ध्यान से देखें तो वे इसे अपने सम्प्रदाय का ही समझ सकते हैं।

अब देखना यह है कि वर्णव्यवस्था एवं जातिप्रथा के सम्बन्ध में प्राचीन जैन आगम, जैनदर्शन एवं अन्य जैन पुराणों का क्या अभिमत है ?

जैन आगम

उत्तरज्झयणं (उत्तराध्ययन) नामक आगम ग्रन्थ का भगवान् महावीर की वाणी से सीधा सम्बन्ध है। इसके पच्चीसवें अध्ययन (गाथासूत्र नम्बर ३१) में कहा है

कि मनुष्य अपने कर्म से ब्राह्मण होता है, अपने कर्म से क्षत्रिय होता है, अपने कर्म से वैश्य होता है और अपने कर्म से शूद्र होता है—

कम्मुणा वम्भणो होइ कम्मुण होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुछो हवइ कम्मुणा॥

मानवों के उच्च-नीच व्यवहार का हेतु उनका आचरण होता है, न कि जाति या वर्ण, जैसा कि **नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने अपनी कृति—**'गोम्मटसारकर्मकाण्ड'** में बतलाया है—

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदिसण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ १३॥

भगवान् महावीर की देशना जातिगत या वर्णगत भेदभाव के बिना मानवमात्र के लिए थी। **उपासकदशाङ्ग-सूत्र** के सप्तम अध्ययन में भगवान् **महावीर** के परमभक्त उपासक **सद्दालपुत्र** नामक कुम्भकार का विस्तृत वर्णन है, जो **आजीविक सम्प्रदाय** को छोड़कर महावीर के सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुआ था।

जैन आगमों तथा उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेकानेक उल्लेख पाये जाते हैं।

यदि भगवान् **महावीर** मानव की सामाजिक समता के समर्थक न होते तो चारों वर्णों के लोग उनके सम्प्रदाय का आश्रय कैसे लेते हैं? आज भी दक्षिणभारत में वैश्यों के अतिरिक्त बहुत से क्षत्रिय तथा ब्राह्मण भी जैनधर्म के अनुयायी हैं। सम्प्रति श्वेताम्बर जैन मुनियों में कई मुनि ऐसे भी हैं जो पहले हरिजन रहे हैं।

आचार्यकल्प **आशाधर** ने अपने ग्रन्थ **'सागारधर्मामृतम्'** (२.२२) में लिखा है कि शूद्र भी उपकरण, आचार और शरीर की शुद्धि से जैनधर्म का अधिकारी है। इस समय भले ही वह जाति से हीन हो, पर काललब्धि के प्राप्त होने पर उसका आत्मा धर्म का धारक हो जाता है।

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्यास्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्॥

आचार्य **समन्तभद्र** कृत **'रत्नकरण्डश्रावकाचारः'** में लिखा है—धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है। धर्म के प्रभाव से प्राणियों को कोई अनिर्वचनीय सम्पदा की प्राप्ति होती है।

पुराणों की दृष्टि से

जटासिंहनन्दी 'वराङ्गचरितम्' (११.१९५) में लिखते हैं—सभी मानव समान हैं। ट्रेडमार्क की भाँति ऐसे कोई रंग नहीं हैं जिनसे ब्राह्मण आदि वर्ण पहचाने जा सकें। ब्राह्मण चन्द्रकिरणों की भाँति धवल नहीं होते, क्षत्रिय पलाशपुष्प जैसे रंग के नहीं होते, वैश्य हरिताल की भाँति पीले नहीं होते और न शूद्र ही कोयले सरीखे काले ही होते हैं—

न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः॥

रविषेणाचार्य ने **'पद्मपुराणम्'** (११.२०३) में लिखा है—कोई भी जाति गर्हित नहीं होती। गुण कल्याण के हेतु होते हैं। भगवान् ने व्रत पालन में निरत चाण्डाल को भी ब्राह्मण बतलाया है—

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

भगवज्जिनसेनाचार्य 'आदिपुराणम्' (पर्व ३८) में लिखते हैं—जाति नामक नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न मनुष्यजाति एक ही है, पर जीविका के भेद से वह चार भागों (वर्णों में) विभक्त हो गयी है—

मनुष्यजातिरेकैव नामकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

वस्तुतः वही जाति बड़ी मानी जा सकती है, जिसमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम (इन्द्रियदमन) और दया वास्तविक अस्तित्व रखते हों—

संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती मता॥

जैनदर्शन में सामाजिक समता

जैनदर्शन का मूलस्रोत **'तत्त्वार्थसूत्रम्'** है, जिसके मङ्गलाचरण तथा 'प्रमाण-नयैरधिगमः' (१.६) इत्यादि सूत्रों के आधार पर अनेक बड़े-बड़े दार्शनिक ग्रन्थ रचे गये हैं और **सर्वार्थसिद्धतत्त्वार्थाधिगमभाष्य, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के सभी सूत्रों की व्याख्या की गयी है। ये सभी

जैनदर्शन के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें वर्णव्यवस्था तथा जाति के अनुकूल या प्रतिकूल कोई विशिष्ट चर्चा नहीं की गयी है।

तत्त्वार्थसूत्र के २०वें स्पर्शरसवर्ण····सूत्र में 'वर्ण' शब्द आया है और इसी तरह स्पर्शरसगन्धवर्ण····(५.२३) सूत्र में भी। पर ये दोनों शब्द यहाँ रंग के अर्थ में हैं, न कि ब्राह्मण आदि वर्णों के अर्थ में। आठवें अध्याय में गतिजाति····(सूत्र १०) में जाति शब्द आया है। यहाँ 'जाति' शब्द ब्राह्मण आदि जातियों के अर्थ में नहीं है, एक विशिष्ट कर्म के अर्थ में है। यहाँ जाति के पाँच भेद बतलाये हैं—एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पञ्चेन्द्रिय जाति।

तीसरे अध्याय में **'आर्या म्लेच्छाश्च'** (सूत्र नं० ३६) लिखा हुआ है। इस सूत्र से तथा इसकी दिगम्बर या श्वेताम्बर आचार्यों की टीकाओं से इतना ही ज्ञात होता है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—**आर्य** और **म्लेच्छ**। जो गुणी हैं और गुणियों के द्वारा समादृत हैं, वे आर्य कहलाते हैं। इनसे जो विपरीत हैं वे म्लेच्छ। निष्कर्ष यह कि यह भेद गुणकृत है, वर्ण या जातिकृत नहीं। टीकाकारों ने जिन्हें म्लेच्छ कहा है वे इस आर्यखण्ड में नहीं पाये जाते, कुभोगभूमियों में पाये जाते हैं। फलतः तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र वर्ण या जाति के आधार पर मानवीय विषमता का समर्थन नहीं करता, यह स्पष्ट है।

राजा भोज के समकालीन प्रबल शास्त्रार्थी आचार्य **प्रभाचन्द्र** ने अपने **'प्रमेयकमलमार्तण्डः'** ग्रन्थ में पृष्ठ ४८३ से ४८७ तक और **'न्यायकुमुदचन्द्रः'** में पृष्ठ ७७८ से ७७९ तक ब्राह्मणत्वजाति की समालोचना की है। **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के पृष्ठ ४८४ पर लिखा है—

ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा नवा? नास्ति चेत्; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः? न ह्यमनुष्यादिभ्यो मनुष्याद्युत्पत्तिर्घटते। अस्ति चेत्, किं सर्वत्र, मुखप्रदेश एव वा? सर्वत्र इति चेत्, स एव भेदाभावोऽनुषज्यते। मुख प्रदेश एव चेत्, अन्यत्र प्रदेशे तस्य शूद्रत्वानुषङ्गः, तथा च पादादयोऽस्य न वन्द्या वृषलादिवत्।

अर्थात् ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है या नहीं? नहीं है, तो इससे ब्राह्मणों की उत्पत्ति कैसे हुई? क्योंकि अमनुष्य आदि से मनुष्य आदि की उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं। यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है, तो पूरे शरीर में या केवल मुख में ही। यदि पूरे शरीर में है, तो मानवों में ब्राह्मण आदि का भेद समाप्त होगा ऐसा प्रसङ्ग आएगा। यदि केवल मुख में ही ब्राह्मणत्व है, तो अन्य प्रदेशों में शूद्रत्व का प्रसङ्ग आता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के पैर आदि शूद्र की ही भाँति अबन्द्य ठहरते हैं।

इसी के आगे लिखते हैं—

ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायत, तन्मुखादेवासौ जायेत ? विकल्पद्वयेऽप्यन्योन्याश्रयः ।

अर्थात् ब्राह्मण ही ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होता है अथवा उसके मुख से ही ब्राह्मण उत्पन्न होता है—इन दोनों ही विकल्पों के स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष है। ब्राह्मण जाति सिद्ध हो तो ब्रह्मा के मुख से उसकी उत्पत्ति सिद्ध हो, और ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति सिद्ध हो तो ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति सिद्ध हो।

इसके लिखने के उपरान्त लिखा है कि केवल आचार-विचार के आधार पर जाति या वर्ण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

इस तरह प्राचीन जैन **आगम, पुराण** तथा जैन **दर्शन** में मानवीय समता के पर्याप्त स्वर उपलब्ध हैं।

● ● ●

जैन-पुराणों में समता

श्री देवीप्रसाद मिश्र

प्रारम्भ में **बौद्ध** और **जैन** धर्म को वर्ण व्यवस्था तथा जातिवाद स्वीकार न होने के कारण वे उसका विरोध करते थे। बौद्ध धर्म अपने इस सिद्धान्त का पालन करते हुए दृढ़ रहा, परन्तु कालान्तर में जैनों ने इस देश की मुख्य धारा में बहते हुए एक समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रमुखता दी गई है। इसी को मानकर उन्होंने पुराणों की रचना करके यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि उनके सभी त्रिषष्टिशलाका-पुरुष क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। पं० **फूलचन्द्र** जी का विचार है कि जैन-आगम-साहित्य में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था नहीं है।[1] परन्तु यह मत अमान्य है, क्योंकि जैन-आगमों में **बंभण, खत्तिय, वइस्स** तथा **सुद्द** नाम के चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं[2]

जैन सूत्रों के अनुसार कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति होती है।[3] इसी प्रकार का विचार जैन पुराणों में भी मिलता है। लोग अपने योग्य कर्मों को करते थे, वे अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे की आजीविका को ग्रहण नहीं करते थे, उनके कार्यों में वर्ण-संकरता नहीं थी और उनके विवाह जाति-सम्बन्ध एवं व्यवहार आदि सभी कार्य वर्णानुसार होते थे।[4] **महापुराण** के अनुसार पहले वर्ण व्यवस्था नहीं थी परन्तु कालान्तर में आजीविका के आधार पर चातुर्वण्य-व्यवस्था हुई।[5]

---

१. फूलचन्द्र—वर्ण, जाति और धर्म, काशी १९६३, पृ० १९७।

२. जगदीशचन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी १९६५, पृ० २२३।

३. उत्तराध्ययन सूत्र २५–३३।

४. यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसङ्करम्।
विवाहजातिसम्बन्धव्यवहारश्च तन्मतम्॥ महापुराण १६–१८७

५. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताम्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ महापुराण ३८–४५
तुलनीय–चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। गीता ४–१३

रविषेणाचार्य ने जाति व्यवस्था का खण्डन किया है।[१] **पद्मपुराण** में किसी भी जाति को निन्दनीय नहीं बताया गया है। सभी में समानता का दर्शन कराके गुण को कल्याणक माना है। यही कारण है कि व्रती चाण्डाल को **गणधरादि** देव ब्राह्मण कहते हैं।[२] **रविषेणाचार्य** ने ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल के प्रति समता का दृष्टिकोण अपनाया है।[३] जैन पुराणों में सभी के प्रति समता का भाव दिखाया गया है। इसीलिए श्री **गणेश मुनि ने** कहा है कि पहले वर्ण व्यवस्था में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। जिस प्रकार चार भाई कोई काम आपस में बाँटकर सम्पादित करते हैं, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी थी। कालान्तर में इस व्यवस्था के साथ ऊँच-नीच का सम्बन्ध जुड़ गया, जिससे विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था में भावात्मक हिंसा का सम्मिश्रण हो गया।[४] **जैन पुराणों** के अनुसार चारों वर्णों का विभाजन आजीविका के आधार पर हुआ है।[५] यही कारण है कि जैन पुराणों में लोगों को अपनी-अपनी आजीविका सम्यक् ढंग से प्रतिपादित करने की व्यवस्था की गई है। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो उसे दण्ड देने की भी व्यवस्था की गई है। क्योंकि इससे वर्ण-संकरता को रोका जा सके।[६]

जैनाचार्यों ने सभी को समानता के आधार पर रखा है। उन्होंने सभी के साथ समान न्याय की व्यवस्था की है। यही कारण है कि ब्राह्मणों को जो विशेषाधिकार मिला था उसका पतन हुआ और समानता के आधार पर समाज का पुर्नगठन किया गया। यदि ब्राह्मण चोरी करते हुए पकड़ा जाता था तो उसे देश से निकाल देने की व्यवस्था की गई थी।[७]

---

१. पद्मपुराण ॥ १९५–२०२

२. न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारकम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

पद्मपुराण ११, २०३, महापुराण ७४, ४८८–४९५

तुलनीय—महाभारत शान्तिपर्व १८९, ४–५, वराङ्गचरित २५, ११।

३. पद्मपुराण ११, २०४।

४. गणेश मुनि—प्रागैतिहासिक व्यवस्था का मूल रूप, जिनवाणी' जयपुर १९६८, वर्ष २५, अंक १२, पृ० ९।

५. महापुराण ३८, ४६, पद्मपुराण ११, २०१, हरिवंशपुराण , तुलनीय—विष्णुपुराण १, ६, ३–५, वायुपुराण ९, १६०–१६५।

६. हरिवंशपुराण १४–७, महापुराण १६–२४८।

७. महापुराण ७०–१५५, तुलनीय—हरिवंशपुराण २७, २३–४१।

उस समय कन्याओं का जन्म माता-पिता के लिए अभिशाप था, परन्तु जैन पुराणों में सामाजिक समता के आधार पर उनको ऊपर उठाया गया है। इस कारण उन्होंने (जिनसेन ने) व्यवस्था की है कि कन्याओं का जन्म प्रीति का कारण होता है।[१] इसी प्रकार का विचार **कालिदास** ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ **कुमारसम्भव** में कन्या को कुल का प्राण कहा है।[२] जैनाचार्यों ने पुत्र एवं पुत्री को समान माना है। इसीलिए पिता दोनों को समान रूप से पढ़ाते थे।[३] उस समय बिना भेद-भाव के लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन किया करते थे।[४] जैनाचार्य **जिनसेन** ने लड़कों के समान लड़कियों को भी समस्त विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा देने की व्यवस्था की है।[५] **जिनसेन** ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री को बराबर भाग का अधिकारी बताया है।[६]

स्त्रियों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और उनके साथ समता का व्यवहार होता था। जैनाचार्य स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार की कटु आलोचना करते थे।[७] इसीलिए स्त्रियों को भी पुरुष के समान स्वर्ग का अधिकार दिया है।[८]

जैनाचार्यों ने परिवार में पति-पत्नी में परस्पर समानता के आधार पर सौहार्दता स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जीवनरूपी नौका पति-पत्नी के सहयोग से चलती है। किसी को कम या अधिक समझने पर जीवन-नौका भँवर में पड़कर दुर्गति को प्राप्त होती है। इसीलिए हमारे मनीषियों ने दोनों में समानता स्थापित करने का प्रयास किया है। पद्मपुराण में कहा गया है कि स्त्री पुरुष का जोड़ा साथ ही साथ उत्पन्न होता था और आयु व्यतीत करके प्रेम-बन्धन में आबद्ध रहते हुए साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त करते थे।[९] एक ओर पत्नी को पति की

---

१. महापुराण ६, ८३।
२. भगवतशरण उपाध्याय–गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी १९६९, पृ० २२१।
३. महापुराण २६, ११८
४. पद्मपुराण २६, ५–६, तुलनीय–बृहदारण्यकोपनिषद् ६, २, १, छान्दोग्योपनिषद् ५, ३।
५. महापुराण १६, १०२।
६. पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः। महापुराण १८.१५४।
तुलनीय-कात्यायन ९२१.२७, आवश्यकचूर्णी २३२, उत्तराध्ययन २, पृ० ८९
७. हरिवंशपुराण १९.१६, पद्मपुराण १५.१७३।
८. पद्मपुराण ८०.१४७, महापुराण १७.१६९।
९. युग्ममुत्पद्यते तत्र पल्यानां त्रयमायुषा।
प्रेमबन्धनबद्धश्च म्रियते युगलं समम्॥ पद्मपुराण ३.५१।

अर्धाङ्गिनी[१] कहा गया है, तो दूसरी ओर उसे पति का विश्वासपात्र मन्त्री, मित्र एवं प्रिय शिष्या बताया गया है।[२]

पत्नी के बिना घर को शून्य[३] एवं जंगल[४] बताया गया है। **मनु** ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जहाँ पर स्त्रियों की पूजा होती है वहीं पर देवता निवास करते हैं।[५] इसीलिए **महापुराण** में कहा गया है कि पति पत्नी से सुशोभित होता है।[६]

जैनाचार्यों ने वेश्याओं को सामाजिक धारा से जोड़ने का प्रयास किया है। समाज में वेश्याओं को हीनदृष्टि से देखा जाता था, परन्तु समाज ने सुधार करके इनकी स्थिति में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप **वसन्त सेना** नामक वेश्या ने अपना पेशा छोड़कर विवाह किया और अपनी माँ के घर से पति के यहाँ आकर अपनी सास की सेवा करते हुए **अणुव्रतों** का पालन करने लगी।[७] वेश्यायें विवाह करके गृहस्थी बसाने लगीं और सामाजिक धारा में योगदान देने लगीं। वेश्याओं के साथ विवाह करने पर किसी को समाज से बहिष्कृत नहीं किया जाता था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने वेश्याओं की स्थिति सुधारने और उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने तथा उनके साथ विवाह करने को प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार आजकल हरिजन कन्या के साथ विवाह करने पर सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता है, सम्भवतः उस समय भी वेश्याओं के साथ विवाह करने पर इसी तरह का कोई प्रोत्साहन दिया जाता होगा।

जैनाचार्यों ने समाज में आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए समानता को स्थापित करने का प्रयास किया है। जैन पुराणों के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उस समय सभी को न्याय पूर्वक आजीविका करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। **जिनसेनाचार्य** ने कहा है कि इस संसार में मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं और उन इच्छाओं की पूर्ति के साधन अत्यल्प हैं। अतएव समस्त इच्छाओं

---

१. तैत्तिरीयसंहिता ६.१.८.५, ऐतरेय ब्राह्मण १.२.५, शतपथब्राह्मण ५.२.१.१०।

२. गृहिणी सचिवः सखी मित्रः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ—रघुवंश ८.८७।

३. महाभारत १२.१४४.४। ४. वही, १२.१४४.६।

५. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ मनुस्मृति ३.५६।
तुलनीय—
जामयो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते विनंक्ष्यत्याशु तद्गृहम्॥ भविष्यपुराण ४.११७.४।

६. महापुराण ६.५९। ७. हरिवंशपुराण २१.१७६।

की पूर्ति होना असम्भव है। इसीलिए अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सन्तोष करना चाहिए। अतः विवेक एवं न्याय पूर्वक चयन किये गये धन से इच्छा पूर्ति करनी चाहिए।[१] जैनाचार्यों ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति अन्याय-मार्ग का आश्रय लेकर करता है तो उसे महान् कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवन को सुखी एवं सन्तुष्ट बनाने का एकमात्र मार्ग है।[२] कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है, और अर्थ धर्म से मिलता है। इसलिए धर्मोचित अर्थ अर्जन से इच्छानुसार सुख की प्राप्ति होती है तथा इससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं।[३] अतएव धर्म का उलङ्घन न कर धन कमाना, उसकी रक्षा करना तथा योग्य पात्र को देना ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।[४]

जैनाचार्य **जिनसेन** ने समाज में वर्गसंघर्ष को रोकने के लिए श्रम का विभाजन किया है।[५] उन्होंने ऐसी व्यवस्था की थी कि सभी अपने-अपने पेशे में लगकर कुशलता का परिचय दे और कार्य में निपुणता लाकर देश को आगे बढ़ावें। इसीलिए **महापुराण** में एक दूसरे की आजीविका में हस्तक्षेप का निषेध किया गया है।[६]

अतः हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने जैन पुराण के माध्यम से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में **समता स्थापित** करने का प्रयास किया है। समाज से विशेषाधिकारों एवं असमानता को दूर करके समन्वय की धारा प्रवाहित किया है।

● ● ●

---

१. न्यायोपार्जितवित्तकामघटनः……………। महापुराण ४१.१५८।

२. ………वृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः। महापुराण ४२.१४।
तुलनीय—गरुड़पुराण १.२०५.९८।

३. धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा ॥ महापुराण ५.१५।

४. स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्।
रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥ महापुराण ४२.१३।

५. महापुराण २९.२९। ६. वही, १६.१८७।

समता के आयाम

प्रो० कृष्णनाथ

१. **समता** का एक आयाम सामान्य है एक विशेष। सामान्य रूप से **समता** का अर्थ है दूसरों के समान सम्मान, दर्जा, ओहदा। यह समता मनुष्यों के लिंग, रंग, गुण, कर्म, शक्ति आदि से निरपेक्ष है। मनुष्य होने मात्र से, सामान्य मनुष्यता के नाते एक दूसरे के बराबर हैं। मनुष्य समान रूप से जनमता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है, आदि सामान्य गुणों के कारण मनुष्य समान आदर का अधिकारी है। **समता** का यह सामान्य, साधारण, निरपेक्ष **रूप** है। **आत्म-दृष्टि** से इसका आधार यह है कि प्राणिमात्र एक ही ईश्वर से वासित है, इसलिए वे सभी समान हैं। जो आत्मा या ईश्वर नहीं मानते उनके लिए मनुष्यता का सामान्य गुण इसका आधार है।

समता के विशेष रूप इस सामान्य से जुड़े हुए हैं। मात्र विश्लेषण के लिए इसे भिन्न करके देखा जा रहा है। ये विशेष रूप हैं—**१. सामाजिक, २. आर्थिक, ३. राजनीतिक** और **४. आध्यात्मिक।** इनमें से पहले तीन—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक **बाह्य** हैं। अन्तिम **आन्तरिक** है। बाह्य—अन्तर में अन्तरावलम्बन है। अलगाव नहीं।

सामाजिक समता का अर्थ है मनुष्य समाज के विभिन्न वर्गों, जातियों कार्यों में बँटे होने पर भी मनुष्य के सम्मान में समता। यह उसी निरपेक्ष समता का समाज में प्रकाश है।

आर्थिक समता सम्मान और सेवाओं का न्याय्य वितरण है। इसका तात्पर्य उपभोग की वस्तुओं और सेवाओं का बराबर-बराबर बँटवारा या सरीखापन नहीं है। हर किसी को उसकी आवश्यकता के अनुसार देने और उसकी योग्यता के अनुसार काम लेने का न्याय इसका आधार है। उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत हाथ में रहना इसमें बाधक माना जाता है। उत्पादन के प्रबन्ध में भी यह एक हद के बाद रुकावट है। इसलिए उसे समाज के हाथ में ले लेने का रास्ता भी सुझाया जाता है। **आर्थिक समता** का सगुण रूप आमदनी और खर्च के अन्तर को एक मर्यादा के भीतर रखने का है। जैसे कम-से-कम आमदनी और खर्च और अधिक-से-अधिक आमदनी और खर्च १:१० या १:५ या १:३ के अनुपात में हों।

राजनीतिक समता का अर्थ कानून और वोट के मामले में बराबरी है। इस तरह चाहें प्रतीक रूप में ही मनुष्य राज्य के लेखे बराबर हैं। व्यवहार में यह समता सामाजिक दर्जे, आर्थिक शक्ति के अभाव में खारिज़ हो सकती है। जैसे भारी चुनाव के खर्च के कारण हर कोई विधायक या संसद सदस्य नहीं बन सकता और फलतः राज-काज में समान रूप से भागीदार नहीं बन सकता। लेकिन यह माना जाता है कि अन्तिम रूप से तो वोट ही इसका निर्णय करता है। उसमें समान आयु के स्त्री, पुरुष अगर समान रूप से भाग ले सकते हैं तो वे प्रतिनिधि के जरिए शासन में शरीक हैं।

आध्यात्मिक समता आन्तरिक है। प्राण-अपान, ठंढ-गरम, सुख-दुःख वगैरह के द्वन्द्वों में एक जैसा होना है। ऐसा नहीं कि भेद का अनुभव नहीं होता किन्तु उससे चित्त में क्षोभ नहीं होता। समदर्शी, यथाभूत, यथावत, तद्वत, जस का तस देखता है और विचलित नहीं होता।

आन्तरिक और **बाह्य समता** का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। जैसे अगर समाज में सम्पत्ति की संस्था है तो मनमें उसके प्रति लोभ होना ज्यादा सम्भव है। किसी की कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति हो ही न तो यह लोभ छीझ सकता है। लेकिन अगर समाज से व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश कर दिया जाए, और चित्त में उसके प्रति आसक्ति बनी रहे तो वह अवसर पा कर किसी-न-किसी रूप में सुविधा, सेवा अधिकार वगैरह में प्रगट होती है।

प्राचीन **भारतीय दर्शन** और साधना में आन्तरिक, **आध्यात्मिक समता** पर ज्यादा बल रहा है। समता के **आधुनिक दर्शन** और साधन में सामाजिक और **बाह्य समता** पर ज्यादा बल दिखायी पड़ता है। क्या कोई ऐसा दर्शन और साधनक्रम हो सकता है जिसमें इन दोनों एकाङ्गी बल-अबल को समतुल्य बनाया जा सके ?

२. **समता** की कल्पना प्राचीन है। किन्तु यह जैसे प्राग् ऐतिहासिक वस्तु रही है। बहुत करके अतीत या अनागत में पूर्ण समता, स्वतन्त्रता, सुख आदि की कल्पना की गयी है। या तो ऐसा रामराज्य में था जो अब है नहीं। या स्वर्ग के राज्य में था जहाँ से आदम और हौवा पतित हुए। संसार में तो जैसे विषमता का राज्य है। आना-जाना, सुख-दुख, मान-अपमान, ठंढ-गरम वगैरह है। या फिर अनागत काल में है जब **समाजवाद या साम्यवाद** अपने पूर्ण रूप में प्रगट होगा तो फिर व्यक्तियों पर नहीं, वस्तुओं पर शासन होगा, राज्य मुरझा जाएगा, हर किसी से उसकी योग्यता के मुताबिक काम लिया जाएगा, हर किसी को उसकी आवश्यकता

के मुताबिक मिलेगा, शोषण-पीड़न न होगा, सुखी समाज होगा, वगैरह। लेकिन वह समाज कल्प में है, चाहे वह कल्प पुराकाल में हो, या भविष्य में।

समता की आजकल की चिन्ता अतीत-अनागत में नहीं, वर्तमान में ही इसे प्राप्त करने की है। परलोक में नहीं, स्वर्ग के राज्य में या साम्यवाद के चरम में नहीं, यहीं, इसी लोक में, इसी क्षण समता प्रगट हो। **समता** दृष्ट धर्म है, अदृष्ट नहीं। अनुभवगम्य है, परीक्षण योग्य।

३. समता सिर्फ़ मनुष्यता के सामान्य गुण के रूप में नहीं, बल्कि व्यवहार में जरूरी है। समता के गुण का बखान काफी नहीं, आचरण जरूरी है। यह कैसे हो ?

यह 'समान को समान' के जरिए हो सकता है। यह 'असमान को असमान' के द्वारा भी समता का व्यवहार किया जा सकता है। यह दोनों ही रास्ता असमता के लिए भी प्रयोग में लाया जा सकता है, समता के लिए भी। उदाहरण के लिए वर्ण व्यवस्था में भी 'समान को समान' और असमान को असमान' की व्यवस्था थी। किन्तु वह व्यवस्था ही ऊँच-नीच, दूरी, और शुद्ध-अशुद्ध पर टिकी हुई थी। समता की दृष्टि में 'समान के लिए समान' या 'असमान के लिए असमान' का प्रस्थान, प्रयोजन, मार्ग-फल भिन्न है।

उन्नीसवीं सदी में **समता** के व्यवहार के लिए **'अवसर की समता'** पर बहुत बल दिया गया। किसी को कोई भी काम-धन्धा, ओहदा, सम्मान वगैरह पाने में उसकी योग्यता के अलावा कोई बाधा न हो, समान अवसर हो, यह समता के व्यवहार की आधारशिला मानी गयी। किन्तु यह 'अवसर की समता' असमता का कारण बन सकती है। क्योंकि मनुष्य एक जैसी स्थिति में नही हैं। स्थिति की विषमता के कारण अगर अवसर की समता मिल भी जाए तो जो ज्यादा अच्छी स्थिति में पैदा हुए हैं, बलवान हैं, बुद्धिमान हैं, वे उनसे कहीं आगे निकल जायेंगे जो खराब स्थिति में पैदा हुए हैं, बलहीन हैं, बुद्धिहीन हैं। अगले समान अवसर की समता को ही पर्याप्त मानते हैं। जबकि पिछड़ों के लिए विशेष अवसर बिना समान स्थिति में आना सम्भव नहीं। ध्यान रहे, अवसर की समता लक्ष्य नहीं साधन है। साध्य है समता।

४. समता **परम आदर्श** है, किन्तु **विषमता** तथ्य है। 'स्वतन्त्रता' समता, 'भाईचारा' की गूंज अट्ठारहवीं सदी की फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद सारी दुनिया में हुई है। यह भी दुहराया जाता है कि 'सभी मनुष्य समान जनमते हैं।' किन्तु यह

तथ्य नहीं है। तथ्य यह है कि मनुष्य असमान स्थितियों में जनमते हैं। किसिम-किसिम की बाह्य-आन्तरिक विषमता मानव गोष्ठी का तथ्य है। विषमता के बीच समता का आदर्श इन दिनों बहुत प्रबल है। यहाँ तक कि विषमता के पक्षधर भी अब खुले आम विषमता का पक्ष नहीं लेते। जहाँ कहीं उसकी जरूरत बताते हैं वहाँ भी विवशता के रूप में ही। मूल्य के रूप में तो समता ही प्रतिष्ठित है। फिर भी, विषमता के तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता। स्त्री-पुरुष, अगड़ी-पिछड़ी जाति, काले-गोरे, अमीर-गरीब, शासक-शासित वगैरह के जोड़ों में जो द्वन्द्व है, जो अनेकता है, जो विषमता है उससे आँख मूँदना बचना है।

तो प्रश्न है कि इस **विषमता** के प्रति रुख क्या हो ? तीन रुख हो सकता है। १—विषमता के तथ्य को सकार कर उसके अनुकूल व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण किया जाए। व्यक्ति और समाज का इन भेदों के आधार पर संयोजन हो। अलबत्ता उसमें भी उन सभी संयोजनों को पार कर चरम अवस्था में एक अखण्ड अभेद में लीन होने की या मोक्ष की गुंजाइश रहे। २—बाह्य विषमता को अपने देह-चित्त में उतार कर अपने अन्दर ही उनमें समता साधी जाए। और ३—विषमता के विरुद्ध अन्दर-बाहर संघर्ष किया जाए।

आज की दुनिया में हवा का रुख विषमता के विरुद्ध है, समता की ओर है। समता कोरा आदर्श नहीं है। इसके पीछे जबर्दस्त राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन है। **समता** की भूख जग गयी है। किसिम किसिम की **विषमता** को यह खा रही है। किन्तु विषमता भी एक रूप को छोड़ दूसरे रूप में प्रगट हो रही है। सामन्ती अलगाव की जगह आधुनिक समाजवादी या उदारवादी अलगाव और दूरी और शुद्ध-अशुद्ध का व्यवहार हो रहा है। जैसे प्राचीन **वर्ण-व्यवस्था** की जगह कर्मचारी तन्त्र के चार **'ग्रेड'** ले रहे हैं। फिर भी, झुकाव समता की ओर है, विषमता के विरुद्ध है।

समता को सम्पन्नता के साथ भी जोड़ा जा रहा है। प्राचीन और मध्यकालीन साधन में विषमता के बीच जीने का रास्ता था कि भोग-विलास से अपने को अलग कर लो। गरीबी अपनाओ। समता का अन्दर-बाहर अभ्यास करो। पश्चिमी काल के समाजवादी चिन्तकों ने आधुनिक काल में **एशिया, अफ्रीका,** और **लैटिन अमेरिका** के महाद्वीपों और देशों में शोषण-दोहन और विज्ञान और टेक्नालाजी के आविष्कारों वगैरह का लाभ सोचकर सम्पन्नता के जरिए समता और समता के जरिए सम्पन्नता का मन्त्र सुझाया है। पूर्वी यूरोपीय देशों में विशेष कर, **सोवियत संघ** में यह फैला भी है। किन्तु क्या **एशिया; अफ्रीका** और लैटिन अमरीका में भी सम्पन्नता के जरिए

समता और समता के जरिये सम्पन्नता सम्भव है ? या यहाँ तो शासक वर्ग के लिए स्वेच्छा अपनायी गयी गरीबी के जरिए ही समता का व्यवहार किया जा सकता है।

५. समता की अपार सम्भावनाएँ हैं, सीमाएँ भी। दर्शन में तो समता की पूर्णता में कोई अटक नहीं है। किन्तु व्यवहार में समय और समाज की विवशताएँ हैं। कुछ तो कल्पित हैं, कुछ वास्तविक हैं। सत्ता-व्यवस्था की जरूरते हैं। इनके कारण पूर्ण समता की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसलिए असमता आदर्श नहीं हो सकती। आदर्श तो पूर्ण समता ही है। समता के पूरे प्रकाश के लिए क्या उपाय जरूरी है ? या नहीं जरूरी है ? इस पर मतभेद हो सकता है। इसे सद्भाव से दूर किया जा सकता है। अन्यथा नहीं।

विषमता के रोगी समाज और व्यक्ति के लिए किस मात्रा में समता गुन करेगी, किस मात्रा में बेगुन, इसका विवेक जरूरी है। अन्यथा कभी-कभी अच्छे इरादे से बुरे नतीजे निकलते हैं।

फिर, यह भी ध्यान रहे कि समता का क्रान्तिकारी लक्ष्य एक ओर स्वतन्त्रता और दूसरी ओर भाईचारा के साथ है। इनको खारिज करके नहीं। अपने चरम रूप में **निरपेक्ष समता, स्वतन्त्रता** और **बन्धुता** में भेद नहीं, अभेद है। सो ही सहज है, सुख है, शान्ति है। किन्तु विशेष-विशेष रूपों में सापेक्षिक समता और स्वतन्त्रता और सहजता में टकराहट भी हो सकती है। इसलिए इनमें सामञ्जस्य, सामरस्य, ताल-मेल बैठाना जरूरी है।

समता की प्रज्ञा के बिना उपाय चालाकी और उपाय के बिना प्रज्ञा आत्मघाती है। इसलिए **समता** के आचरण में **प्रज्ञा** और **उपाय** दोनों की जरूरत है।

जो भी हो, समता की सम्भावनाओं के साथ-साथ इसकी सीमाओं का ध्यान रखना भी समता के सम्यक दर्शन-आचरण के लिए जरूरी है। किन्तु सीमाओं के कारण आदर्श छोड़ना नहीं। न ही सत्ता-व्यवस्था के साथ दुरभिसंधि करना। या मन में कुछ, बचन में कुछ, कर्म में कुछ करना। वह तो पाखण्ड है। समता नहीं।

अन्त में भारतीय दर्शन की परम्परा में समता का क्या रूप है ? यह प्रश्न तो अलग से विचार का विषय है। इसलिए अभी इतना ही निवेदन है।

● ● ●

मानव-समता

प्रो० राजाराम शास्त्री

फ्रांस की राज्यक्रांति के नारे थे **स्वतन्त्रता, समता** और **भ्रातृभाव**। इन नारों के पीछे प्रचुर मात्रा में दार्शनिक ऊहापोह हुआ था। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह तीनों मानव की जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं ? इनमें से एक समता को ही लीजिये, क्या सब मनुष्य समान पैदा हुए हैं ? मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषताओं को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि कोई भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के समान नहीं है बल्कि सर्वथा भिन्न है। फिर भी मानवप्रवृत्ति की अन्य जीवों से जो विशेषता है उसकी दृष्टि से सभी मनुष्यों में कुछ मूलभूत समानताएँ दिखाई देती हैं। अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य की शारीरिक आकृति की जो विशेषता है, वह सभी मनुष्यों में एक सी है। उसी प्रकार उसमें कुछ स्वभावगत विशेषताएँ भी हैं जो सभी मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। इन्हीं विशेषताओं में एक भ्रातृभाव भी है जिसके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं होता। **विकासवाद** की दृष्टि से भी मनुष्य ने अपनी सामाजिकता के द्वारा ही अपने को अन्य जीवों के बीच ऊपर उठाया है। इसी प्रकार की उसकी दूसरी विशेषता उसकी बौद्धिकता है जिसके द्वारा उसने अपने शारीरिक उपकरणों के अतिरिक्त बाह्य उपकरणों एवं शस्त्रास्त्रों का आविष्कार किया और आत्मरक्षा के इन्हीं साधनों तथा अपने सामाजिक संगठनों के द्वारा उसने सिंह, व्याघ्र आदि ऐसे जन्तुओं पर विजय पाई जो शारीरिक बल में उससे अधिक शक्तिशाली थे। इस तरह जीवन संघर्ष में उसके सहायक होने के कारण **बौद्धिकता** और **सामाजिकता** ये दोनों ही गुण **वंश-परम्परा** से विकसित होते चले गये और मानव स्वभाव के अंग बन गये। यही कारण है कि मानव शिशु में आरम्भ से ही ज्ञान और स्नेह की चाह दिखाई देने लगती है। अकेलापन उसे अच्छा नहीं लगता **'एकाकी न रमते'**। मनुष्य स्नेह चाहता है और करता भी है। यह दोनों एक ही प्रवृत्ति के दो पक्ष हैं और इसी से मनुष्य में नैतिक चेतना का उदय होता है जिसके द्वारा वह अन्य मानवों के प्रति अपने कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय करता है। इस प्रकार मनुष्य की नैतिकता का मूल्य उसकी सामाजिकता में है।

बौद्धिकता और सामाजिकता के अतिरिक्त एक तीसरी प्रवृत्ति मनुष्य में **सम्मान** की पाई जाती है। वह दूसरों से अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की स्वीकृति

चाहता है। उपेक्षा उसे सह्य नहीं होती। इसी का दूसरा पक्ष दूसरों के प्रति सम्मान की भावना भी है, क्योंकि बिना एक के दूसरा नहीं मिलता। इस प्रकार आत्मसम्मान और पर-सम्मान भी मानव स्वभाव के अंग ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव में सम्मान की भावना उसकी **नैतिक भावना** का पूर्वरूप ही है जो कर्म के क्षेत्र में नैतिकता है पर सामाजिक व्यवहार भाव के क्षेत्र में सम्मान की भावना है। सम्मान कर्तव्य का हार्दिक रूप है जबकि कर्तव्य पारस्परिक सम्मान का व्यावहारिक रूप है। फिर भी यह दोनों मनुष्य में स्वतन्त्ररूप से भी दिखलाई देते हैं। सम्मान की भावना कभी-कभी अपने आप में पर्याप्त होती है और बिना नैतिक भावना को व्यक्त किये हुए भी पारस्परिक सहयोग को सम्पन्न कर लेती है, और कभी-कभी तो वह पारस्परिक प्रेम के रूप में नैतिक भावना की उपेक्षा ही नहीं किन्तु अतिक्रमण भी कर जाती है, किन्तु ऐसा तभी होता है जबकि पारस्परिकता के क्षेत्र को सीमित कर दिया जाता है और इस सीमित क्षेत्र का विशाल क्षेत्र से विरोध हो जाता है। पारस्परिक सम्मान की भावना हृदयगत होने के कारण **सौन्दर्यबोध** का रूप ले लेती है और अपने आलम्बन को सौन्दर्य का रूप दे देती है। जिसके कारण मनुष्य में सुन्दर और असुन्दर का, सुरुचि और कुरुचि का विवेक उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार कर्म के क्षेत्र में **सत्कर्म** और **असत्कर्म** का भेद किया जाता है। जिस व्यक्ति का सौन्दर्यबोध विकसित है उसे कर्तव्याकर्तव्य समझाने के लिये किसी नैतिक युक्ति की आवश्यकता नहीं होती। यदि उसे इस बात का बोध करा दिया जाय कि उसका कार्य कैसा भद्दा मालूम होगा। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को रण में प्रवृत्त करने के लिये इसी तर्क का सहारा लिया था। जब उन्होंने उसके सामने यह प्रश्न रखा था कि उस जैसे क्षत्रिय का युद्ध से विरत होना कैसा लगेगा? इस प्रकार सौन्दर्यबोध नैतिक प्रेरणा से नितान्त स्वतन्त्ररूप से चलता है। वास्तव में मनुष्य की तीनों प्रवृत्तियाँ **बौद्धिकता, सौन्दर्यबोध** और **नैतिकता** पारस्परिक होते हुए भी एक दूसरे से स्वतंत्ररूप में दिखाई देती हैं और व्यक्ति भेद से किसी में किसी का और किसी में किसी दूसरे का प्राबल्य होता है। इसी प्राधान्य भेद से व्यक्ति अलग-अलग पहचाने जाते हैं। **प्रतिभा सम्पन्न** होने पर सौन्दर्यबोध प्रौढ़ व्यक्ति कभी कलाकार, रसिक या भक्त कहलाता है, **नैतिक चेतना** प्रौढ़ व्यक्ति महात्मा या कर्मयोगी कहलाता है और **बुद्धि प्रौढ़** व्यक्ति ज्ञानी, ऋषि या मुनि कहलाता है। मानव अन्तःकरण के ये तीन क्षेत्र ज्ञान, इच्छा, क्रिया अपने विषय या लक्ष्य की दृष्टि से सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् भी कहे जाते हैं, किन्तु ज्ञान का विषय **सत्य** है, इच्छा या भाव का विषय **सुन्दर** है, और क्रिया का विषय **शिव** या कल्याण है। जन सामान्य

की भाषा में इन्हें हृदय और कर्म या व्यवहार कहा जाता है। और दर्शन की भाषा में चित्, आनन्द, सत्, प्रज्ञा समाधि और शील इत्यादि कहा जाता है। मानव स्वभाव के ये अंग उसकी प्रेरणाओं के अन्तिम स्रोत हैं। उसकी सारी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते-करते जब हम उन मूल प्रेरणाओं पर पहुँच जाते हैं तो फिर आगे विश्लेषण के लिये अवकाश नहीं रहता। इनका आगे विश्लेषण नहीं हो सकता। उपदेश, विश्लेषण और उद्‌बोधन की अन्तिम स्थिति इन्हीं में होती है। बुद्धिवादी के लिए यह देख लेना पर्याप्त होता है कि यह असत्य है इससे सत्य की प्रतिष्ठा नहीं होती। इसके बाद उस कर्म में उसका न आकर्षण रहता है, न प्रेरणा। इसी प्रकार सहृदय के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह असुन्दर है, फिर उसका आकर्षण उसके प्रति नहीं हो सकता। इसी प्रकार नैतिक व्यक्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह असामाजिक है, अशिव है, अकल्याणकर है, फिर उसकी उस ओर कोई प्रवृत्ति नहीं रहती। इन तीनों बातों में, बौद्धिकता, सौन्दर्यबोध और नैतिकता में, मनुष्य पशुओं से विशिष्ट है और आपस में समान है। ये तीनों प्रवृत्तियाँ सभी मनुष्यों में सहज्ञान रूप से और अन्तिम प्रेरणा के रूप में विद्यमान हैं। विभिन्न व्यक्तियों में इनका जो भेद होता है वह मात्रिक होता है गुणात्मक नहीं, और तीनों मिलकर तीनों के ही उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं और मानव को मानव बनाती हैं। इसी अर्थ में **मनुष्य की समता नैष्ठिक और जन्मजात** है। मानव स्वभाव की यह समता ही यह निर्धारित करती है कि हम जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहते हैं वैसा ही दूसरों के प्रति करें **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**। इसी प्रकार यदि हम सुन्दर दिखना चाहते हैं तो दूसरों में भी सौन्दर्य देखें और यदि हम अपनी बात को सत्य मानते हैं तो दूसरे की बात में भी सत्य को पहचानें। यह समानता का आधार ही वास्तव में हमें विपक्ष सहिष्णु, अनेकान्तदर्शी एवं समन्वयी बनाता है, सहृदय बनाता है और नैतिक बनाता है। समाज में सहयोग की स्थापना इन्हीं समानतामूलक गुणों से होती है। इसलिए यदि हम कहें कि इस अर्थ में समता मनुष्य में जन्मजात है तो कोई अशुद्धि न होगी। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज की स्थिरता और उसके उत्कर्ष के लिये इस समता रूपी आधार को बनाये रखना नितान्त आवश्यक है। सामाजिकता का यह अन्यतम **मूल्य** और **आदर्श** है। यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिये कि **समता** किसी व्यक्ति का स्वभाव न होकर समाज का स्वभाव है। क्योंकि समता अपने आप में नहीं हो सकती, इसे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा है। मान लीजिये कि मैं दूसरे के प्रति वही व्यवहार करता हूँ जो मैं उससे अपने लिये चाहता हूँ, **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'**। लेकिन यदि दूसरे व्यक्ति की भावना ऐसी नहीं है तो फिर समता कैसे स्थापित होगी ? जब

दोनों तरफ से या अनेक व्यक्तियों में वही भावना हो, तभी व्यवहार में समता स्थापित हो सकती है। अन्यथा तो वह व्यक्तिगत आदर्श ही रह जायेगी। किन्तु दीर्घकाल से विकास के क्रम में समाज के निर्माण और संरक्षण के लिये समता की आवश्यकता सिद्ध हो गई है और सभी मनुष्यों का मूल्य बन गई है। विकासवाद के इस सिद्धान्त का भी इस क्रिया पर प्रभाव पड़ा है कि जो प्रथायें या भावनायें समाज के जीवन के लिये उपयोगी नहीं सिद्ध होतीं, वे निरस्त हो जातीं हैं और जो व्यक्ति इनको स्वीकार नहीं करते, वे जीवन संघर्ष में पराजित हो जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान समाज में वे ही लोग रह गये हैं जिन्होंने समता की भावना का आदर किया है। मात्रा भेद तो होता है लेकिन न्यूनाधिक्य यह भावना सभी सामाजिकों में पायी जाती है। केवल इसके उद्बोधन और संरक्षण की आवश्यकता रहती है।

अब यह भी देख लेना चाहिये कि क्या **स्वतन्त्रता** की भावना भी इसी प्रकार मानव का स्वाभाविक गुण है जिस प्रकार भ्रातृभाव और समता को हम देखते हैं। यह कहा जाता है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ था लेकिन इतिहास में वह सर्वत्र बन्धन में ही दिखाई देता है। प्रश्न यह उठता है कि यदि वह वास्तविक व्यवहार में कहीं स्वतन्त्र नहीं दिखाई देता तो यह कैसे मान लिया जाय कि वह जन्म से स्वतन्त्र था। वास्तव में मनुष्य की स्वतन्त्रता की कल्पना ऐतिहासिक नहीं है, अनुमानगम्य है और सामाजिक प्रवृत्तियों के बौद्धिक विश्लेषण से प्राप्त होती है। हम यह देख चुके हैं कि **भ्रातृभाव** और **समता** समाज के अविच्छेद्य गुण हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या समान व्यक्ति आपस में भ्रातृभावमूलक सहयोग स्थापित करेंगे तो परतन्त्रता में या विवशता में करेंगे। पहले तो यह बात ही नहीं समझ में आती कि समान व्यक्ति परतन्त्र हो कैसे सकते हैं और अगर वह परतन्त्र हो जाते हैं तो फिर वह समान कहाँ रहते हैं? फिर विवशता में स्थापित हुआ सहयोग यदि सम्पन्न हो भी जाय तो वह भ्रातृभाव मूलक तो हो नहीं सकता और न समता मूलक हो सकता है। इसलिए निर्णय यही निकलता है कि मनुष्यों में विकास क्रम से भ्रातृभाव और समता का जो स्वभाव विकसित हुआ है, वह उसकी **आन्तरिक स्वतन्त्रता** से ही प्रसूत हुआ है और बोधपूर्वक चयन का परिणाम है। इस तरह यद्यपि इतिहास में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि मानव व्यक्तियों ने स्वतन्त्र रूप से परामर्श करके कोई **सामाजिक अनुबन्ध** (सोशल कान्ट्रैक्ट) किया हो, और तदनुसार समाज की स्थापना की हो, लेकिन विकासक्रम में जिस अन्तःस्फूर्ति के द्वारा सामाजिकता की स्थापना हुई है उसको व्यक्तियों की स्वतन्त्र बुद्धि की सहमति अवश्य ही प्राप्त प्रतीत होती है, अन्यथा उसका विकास भ्रातृभाव और समता के आधार पर नहीं हो सकता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि **स्वतन्त्रता** का गुण उस प्रकार सीधे पकड़ में नहीं आता, जिस तरह भ्रातृभाव और समता को हम पकड़ लेते हैं, किन्तु वह इन दोनों ही प्रवृत्ति में अनुस्यूत है और इनसे भी अधिक आन्तरिक, मौलिक और प्राथमिक है। यद्यपि हम अपने अन्वेषण में प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर जाते हुए भ्रातृभाव से आरम्भ करते हैं और तब समता पर पहुँचते हैं और अन्त में स्वतन्त्रता पर, किन्तु कारण से कार्य की ओर आते हुए **स्वतन्त्रता, समता** और **भ्रातृभाव** का क्रम ही युक्तिसंगत और स्वाभाविक सिद्ध होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ने स्वतन्त्ररूप से बुद्धिपूर्वक आपस में समता के आधार पर भ्रातृभाव मूलक सहयोग की स्थापना की, और समाज की प्रतिष्ठा की जिसके द्वारा उसने मानवेतर सभी जीवों पर अपनी विजय स्थापित की।

अब संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिए कि सामाजिक व्यवहार में इन आदर्शों की ऐतिहासिक स्थिति क्या रही है। पाश्चात्य जगत में समाज के विकास एवं आदर्शों की दृष्टि से सामाजिक न्याय के तीन प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हुए थे—

१—सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त।

२—उपयोगितावादी बहुजनसुखाय सिद्धान्त।

३—व्यक्ति के सम्मान का सिद्धान्त।

सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त समाज को व्यक्तियों के बुद्धिपूर्वक निर्धारित दीर्घकालीन स्वार्थों का सामूहिक परिणाम मानता है। पूँजीवादियों का आधारभूत सिद्धान्त यही है। इसमें **स्वतन्त्रता** पर अधिक जोर दिया जाता है **समता** पर उतना नहीं। इसके अनुसार उत्पादक लोग अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए जिस राजनीतिक तथा आर्थिक नीति का निर्धारण करेंगे और सामाजिक उत्पादन का जिस प्रकार वितरण करेंगे; वही सारे समाज के लिए हितकर होगा। क्योंकि इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा और सामाजिक उत्पादन अत्यधिक होगा। उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्तियों की विशिष्ट योग्यतायें, उनके चारित्रिक गुण, भाग्य या संयोग जिससे व्यक्ति उपयुक्त समय और स्थान पर उपयुक्त कार्य करता है, इत्यादि क्रियायें सम्मिलित होती हैं जिसका फल उत्पादक को खुले बाजार के द्वारा उचित आय के रूप में प्राप्त होता है। खुले बाजार पर आधारित आय के वितरण की पद्धति आर्थिक प्रोत्साहन प्रस्तुत करती है और इस प्रकार आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। समाज में अधिक उत्पादन से अन्ततोगत्वा समाज के प्रत्येक व्यक्ति का लाभ होता है। जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति उन्नत होती है। यह दूसरी बात है कि प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति समान रूप से उन्नत न हो। इस प्रकार का आर्थिक विकास

समाज में जो वर्गीकरण स्थापित करता है उसमें असमानता या विषमता तो हो सकती है किन्तु इस व्यवस्था को बदलने का किसी को नैतिक अधिकार नहीं है, क्योंकि इस व्यवस्था में सारे सौदे उत्पादकों के सहमति से होते हैं और इसलिए सौदा करने वाले दोनों पक्ष के हित में होते हैं। ऐसे सभी सौदे मिल कर सभी के लिए हितकर होते हैं। अतएव यही उचित और युक्तिसङ्गत है कि प्रत्येक उत्पादक ने अपनी जिन विशिष्ट योग्यताओं को उत्पादन की प्रक्रिया में निक्षिप्त किया है उन्हीं के आधार पर उसे बाजार और बाजार में होने वाले सौदों के द्वारा निर्धारित आय पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हो। यही सामाजिक आय के वितरण की उचित पद्धति है जिसे **वितरण न्याय** कहा जाता है। इसमें तो संदेह ही नहीं कि सामाजिक पुरस्कारों का वितरण यदि इस प्रकार होता है कि विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति समाज के हित में अधिकतम योगदान देने की स्थिति में होते हैं, तो इससे अन्ततोगत्वा समाज के सभी सदस्य लाभान्वित होते हैं। **खुला बाजार** पूँजीवादियों के लिये आर्थिक क्षेत्र में वही काम करता है जो धार्मिक क्षेत्र में **ईश्वर** का होता है। जो लोग ईश्वरी नियमों का पालन करते हैं, वे पुण्य प्राप्त करते हैं और जो उनकी अवहेलना करते हैं, वे पाप का संचय करते हैं। इसी प्रकार जो उत्पादक बाजार की गतिविधि के अनुसार आचरण करेगा उसे लाभ प्राप्त होगा, और जो उसकी उपेक्षा करेगा उसे हानि प्राप्त होगी। इस व्यवस्था में समता का विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत समाज के कुछ वर्ग तो इसमें विशेष रूप से उपेक्षित रहते हैं। अनुत्पादक वर्ग का तो इसमें कोई स्थान ही नहीं होता। क्योंकि यह व्यवस्था तो उत्पादकों के इकरारनामे से बनी समझी जाती है और इस व्यवस्था में उन्हीं का राजनीतिक अधिकार होता है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर इस पद्धति में भी समता की मूलरूप से उपेक्षा नहीं है। सबसे बड़े पूँजीवादी देश युनाइटेड स्टेट्स में **अमेरिका** की स्वतन्त्रता के समय सामाजिक इकरार के सिद्धान्त को ही आधार बनाकर सभी स्वतन्त्र व्यक्तियों को समान राजनैतिक अधिकार दिये गये थे। आर्थिक समानता को महत्त्व नहीं दिया गया था किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो उस समय इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। क्योंकि आर्थिक समानता तो अमेरिकन लोगों की स्थिति में स्वयं सिद्ध थी। ये लोग जब **योरोप** से इस नये महाद्वीप में आये थे तो अपने साथ कोई सम्पत्ति नहीं लाये थे। और अमेरिका में आने के बाद जो भूमि इन्हें मिली, वह इनकी संख्या को देखते हुए निःसीम थी। इसमें प्रयास का ही महत्त्व था। जो व्यक्ति जितनी जमीन अपने प्रयास से उर्वर और उपयोगी बना ले, उसपर उसके स्वामित्व का विरोध करने वाला कोई

नहीं था। ऐसी स्थिति में आर्थिक साधन तो प्रायः सभी के समान ही थे। उनके विकास की आवश्यकता थी जिसके लिये प्रयास का ही मौलिक महत्त्व था। आर्थिक सीमा किसी के प्रयास को कुण्ठित नहीं करती थी। इसलिये यह आसानी से समझा जा सकता है कि **राजनीतिक स्वतन्त्रता** और **समता** से ही **अमेरिका** के लोग क्यों सन्तुष्ट रहे। **आर्थिक समता** की बात तो तब महत्त्व प्राप्त करती है जब धीरे-धीरे विकास के क्रम में आर्थिक विषमता इतनी बढ़ जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ग की सीमाओं में बँध जाना पड़ता है, और वर्गभेद की रेखायें इतनी गहरी हो जाती हैं कि सामाजिक गतिशीलता असम्भव हो जाती है। सम्पन्न और विपन्न वर्ग सर्वथा पृथक् हो जाते हैं और सम्पन्न वर्ग अपनी अपार आर्थिक शक्तियों द्वारा विपन्नों का शोषण करने लगता है, तब समाज में समता की प्रेरणा फिर से उदित होती है, जैसा कि अब अमेरिका में भी आरम्भ हुआ है जिसकी पूँजीवादी परम्परायें अपनी व्यवस्था की सफलता के द्वारा अमेरिकन जनता के स्वभाव का अंग बन गई है। अन्य देशों में तो समता की बात समाज की दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुई, क्योंकि उनका इतिहास आर्थिक समता से यदि कभी आरम्भ हुआ है तो वह सुदूर भूतकाल में हुआ है, और प्राचीन इतिहास के विद्वान् इस बात के साक्षी हैं कि आरम्भ में सभी जगह सम समाज था, किन्तु धीरे-धीरे आर्थिक वैषम्य की सृष्टि और वर्ग-व्यवस्था का विकास हुआ, तभी एक बार फिर समता की पुनर्स्थापना के नारे लगने आरम्भ हुए। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि मूलतः स्वतन्त्रता और समता को मानव समाज से अलग नहीं किया जा सकता। विकास के क्रम में उत्पन्न होने वाली विषमता को कुछ हद तक आवश्यक देखते हुए अब विद्वानों ने **प्रतिफल की समता** के स्थान पर **अवसर की समता** का सिद्धान्त प्रसारित किया है।

दूसरा सिद्धान्त **उपयोगितावादियों** का है जो बहुजन सुखाय के आदर्श में विश्वास करते हैं और सामाजिक न्याय के अन्तर्गत उन्हीं व्यवस्थाओं को मानते हैं जिनसे समाज के अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम लाभ सम्पन्न हो। इस सिद्धान्त का और बहुसंख्यक जनता के लिए हितकर नीतियों पर होता है। यह जन सामान्य की मानसिक और नैतिक प्रेरणाओं के मूल पर दृष्टि रखता है और सुख की प्राप्ति को ही मानव जीवन का उद्देश्य मानता है। इसके अनुसार सामाजिक न्याय की स्थापना तभी होती है जब समाज में सुख की मात्रा अधिकतम होती है। प्रत्येक व्यक्ति के के सुख को जोड़ने से सामूहिक सुख का निर्माण होता है। आर्थिक शब्दों में इसका अर्थ यह होता है कि जिन पदार्थों और सेवाओं का मनुष्य अपने सुख के लिये उपयोग करता है उनकी मात्रा अधिकतम बढ़ाई जाए। **उपयोगितावाद** की कमजोरी यह है

कि यह समष्टि के हित से व्यष्टि अथवा छोटे समूहों के सुख की उपेक्षा कर सकता है। इसके अतिरिक्त सुख जैसी आन्तरिक वस्तु का ठीक-ठीक जोड़ घटाव करना भी कठिन है। इसमें सामाजिक उद्देश्यों का निर्णय जनतान्त्रिक तरीके से नहीं होता, बल्कि शासनाधिकारियों के द्वारा होता है जो इस बात का दावा करते हैं कि पूर्व निर्दिष्ट सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में जनता की प्रवृत्तियों को किस प्रकार प्रेरित किया जाए, यह वे ही जानते हैं। यही कारण है कि सभी देशों की अफसरशाही इसी सिद्धान्त को पसन्द करती है।

तीसरा सिद्धान्त **व्यक्ति के सम्मान** का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त इस दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित है कि मानव व्यक्ति अपने आप में एक साध्य है साधन मात्र नहीं। प्रत्येक मानव आत्मा स्वयं ही अपना अन्तिम मूल्य है। इस **आध्यात्मिक सिद्धान्त** से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव जीवन मात्र के प्रति श्रद्धा, सभी व्यक्तियों के प्रति सम्मान की भावना एक आध्यात्मिक वृत्ति है। यह सिद्धान्त आर्थिक एवं राजनीतिक सब प्रकार की समता का पोषक है। जन्म, जाति, लिंग, धन यहाँ तक की योग्यता भी यदि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच किसी भेदभाव की सृष्टि करते हैं तो यह सभी सामाजिक न्याय के आधार के रूप में त्याज्य हैं, क्योंकि इनके द्वारा निर्मित भेदों से व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में अपमान होता है। व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता, बल्कि इन विशिष्टताओं से विशिष्ट व्यक्ति ही रह जाता है। जैसे वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति मात्र मानव व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि अपने वर्ण से ही पहचाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज का कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रेय और श्रेय की प्राप्ति के लिये समान व्यवस्था करे। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की **सत्ता** और **मूल्यवत्ता** समान है। इस सिद्धान्त ने अनेक सामाजिक भेदों के उन्मूलन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह व्यक्तियों को ऐसे अविच्छेद्य मौलिक अधिकारों से सम्पन्न करता है जो न सामाजिक अनुबन्धों के द्वारा स्थापित किये गये हैं और न सामाजिक अनुबन्धों के द्वारा छीने जा सकते हैं। वे इस बात पर भी निर्भर नहीं करते कि वे व्यक्तिगत सुखों के समुच्चय के रूप में समष्टिगत सुखों की वृद्धि करते हैं या नहीं।

अब जहाँ तक दार्शनिक आधारों की बात है, इन आदर्शों की सिद्धि में वे ही दर्शन सहायक हो सकते हैं जो व्यक्तियों की अनेकता, स्वतन्त्रता, समता जो भ्रातृभाव के आधार हैं और परस्पराश्रय में निष्ठा रखते हैं। **सांख्य-दर्शन** में यह बात हमें बड़ी सरलता से दिखाई देती है। क्योंकि सांख्य दृष्टि से पुरुष का बहुत्व सिद्ध है और वह सभी पुरुष एक दूसरे से स्वतन्त्र और अपनी विशेषताओं में एक दूसरे के समान हैं,

और जब वे प्रकृति से संयुक्त होते हैं तब उनमें जिन गुणों का विकास होता है, वे परस्पराश्रित हैं और इन्हीं गुणों के तारतम्य से सारी सृष्टि का विकास होता है जिसमें सामाजिक विकास भी सम्मिलित है। **अद्वैतवादी दर्शन** यद्यपि पारमार्थिक रूप में सभी व्यक्तियों का आश्रय एक ही सत्ता को मानते हैं किन्तु व्यवहार में कम से कम शाङ्कर-अद्वैत तो सांख्य की प्रक्रिया को ही स्वीकार करता है। इस प्रश्न पर दार्शनिक विचार के लिए यह मूलभूत तथ्य केवल उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्वान दार्शनिक अनेक दर्शनों के साथ इन आदर्शों की संगति और असंगति का विवेचन करेंगे और उससे इस बात का अन्वेषण करेंगे कि कौन सा दर्शन या किस दर्शन का कौन सा सिद्धान्त इनका मण्डन करता है या खण्डन करता है। हो सकता है कि इस दृष्टि से विचार करने पर कोई भी एक दर्शन पूर्ण रूप से सहायक सिद्ध न हो, और अनेक दर्शनों से सामग्री एकत्र करके एक नये दर्शन का ही निर्माण करना पड़े। अधिक सम्भव यह है कि इस प्रकार एक पूर्ण दर्शन का निर्माण न हो सके, क्योंकि किसी भी दर्शन के लिये केवल इसी एक प्रश्न का समाधान करना पर्याप्त नहीं होता, उसके अनेक अंग होते हैं। ऐसी स्थिति में इस विषय पर विचार करने से जो उपलब्धि होगी, वह यह होगी कि इस प्रश्न के समाधान के लिए जो दार्शनिक विचार उपयुक्त पाये जायेंगे, उनका एक समुच्चय स्थिर हो जायेगा और आगे आने वाले दर्शन का एक अंग उससे प्रस्तुत हो जायेगा और जो भी सर्वांगीण दर्शन बनेगा, उसे इस विचार समुच्चय को ग्रहण करना होगा और अपने अन्य अंगों को इसकी सङ्गति में ही विकसित करना होगा। यह काम कोई कम महत्त्व का नहीं है और इससे दार्शनिक विकास की धारा में एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

● ● ●

आधुनिक युग में समता

श्री गणेशसिंह मानव

प्रत्येक युग की अपनी भूख-प्यास होती है। आज के युग की भी अपनी आवश्यकताएँ हैं। इतिहास गतिमान रहता है। भूगोल अपना कलेवर बदलता रहता है। आलसी अपनी जगह से न हिलना चाहे, तब भी युग के चरण गतिमान रहते हैं। यह बीसवीं शती का अन्तिम चरण चल रहा है। वसुधा का मानव-समाज कुटुम्ब बन चुका है। वर्तमान युग नये मानव-दर्शन का निर्माण कर रहा है। प्राचीन दर्शन अपने पहरे से वापस हो चुके हैं।

वर्तमान युग **साम्य-योग** का निर्माण कर रहा है। वैषम्य के आधार पर विनिर्मित व्यवस्थाएँ हिल डोल रही हैं, चरमरा रही हैं, टूट रही हैं। परिवर्तन के कामी उत्साह पाकर और अधिक जोर लगाने का प्रयास कर रहे हैं। परिवर्तन की गति तीव्र करने के निमित्त चिन्तित हैं। सुविधा प्राप्त वर्ग के परिवर्तन विरोधी युग की गति में अवरोध उत्पन्न करने की चेष्टाएँ कर रहे हैं। युग का प्रवाह प्राकृतिक है, रुकता नहीं, पर उसमें विलम्ब तो किया ही जा सकता है, और किया जा रहा है।

उपर्युक्त दो परस्पर विरोधी प्रयासों के द्वन्द्व ने जिस अशान्ति को जन्म दिया है, उसको वे बुधजन तो आशा की किरण मान रहे हैं जो क्रान्ति की प्रक्रिया को समझते-बूझते हैं, परन्तु वे विद्वान् भी दुःखी हैं जो ग्रन्थों के तो पण्डित हैं, परन्तु युग के प्रवाह से अलग किसी किनारे अटके-भटके पड़े हैं। साम्य-योग की पूर्णता के पूर्व यह अशान्ति बढ़ती ही जायेगी जिसकी चरम परिणति पर **नये समाज** की नींव पड़ेगी।

जनसंख्या को या जनसमूह को समाज नहीं कहा जा सकता। इनके संगठन को ही समाज माना जाता है। व्यक्ति जब समष्टि में अपने व्यक्तित्व को समर्पित कर देगा, तब वह सही अर्थ में सामाजिक प्राणी होगा। और ऐसे ही लोगों से बने संघटन को समाज की संज्ञा प्राप्त होगी। ऐसा समाज ही अन्ततोगत्वा, नये मानव-दर्शन या जीवन-दर्शन का निर्धारण और निर्माण करेगा। वर्तमान दर्शनों के जीवन्त तत्त्व उस नये जीवन-दर्शन में भी अपना उचित स्थान अपने बलबूते प्राप्त कर लेंगे।

इस प्रकार से अधिकार प्राप्त समाज अपने संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार काम और उसकी आवश्यकता के अनुकूल दाम देने की व्यवस्था करेगा। जीवन की मौलिक आवश्यकतों की पूर्ति की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लेगा। इस प्रकार **सामाजिक समता** का योग सम्पन्न होगा।

• • •

सामाजिक समता

संस्कृत निबन्ध

त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः ॥

नीलकण्ठ दीक्षितः

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति ॥

मनु० १२।९१

वैदिकदर्शनदृष्ट्या समतायाः सूचनम्

आचार्य पं० सुब्रह्मण्यशास्त्री

आदौ **भारतवर्षे** समताया आविर्भावः चरित्रदृष्ट्याऽवलोकनीयः। तथाहि—**मन्वादिस्मृतिषु भारतरामायणादिषु** इतिहासकाव्यग्रन्थेषु च चत्वारो वर्णाः स्वस्वाश्रमविहितं कर्म कुर्युरिति विधिमनुसृत्य सर्वे जनाः स्वधर्मरता आसन्। राजानश्च जनान् निर्बन्धेन स्वधर्ममनुष्ठाप्य निर्वृता आसन्। एवं काले गच्छति नराणां कामक्रोधाद्युद्भवात् क्वचित्क्वचित् शूद्रेण तपश्चरणं ब्राह्मणेन द्रोणादिना युद्धाचरणमित्यादिधर्मशास्त्रविरुद्धमनुष्ठातुं प्रवृत्तम्। ततः **गौतमबुद्धेन** ब्राह्मणैरेव उपदेष्टव्यं क्षत्रियादिभिः तदुक्तं ग्राह्यं नोपदेष्टव्यं इति निर्बन्धमसहमानेन वेदोक्तान् कांश्चिद्धर्मान् उपनिषदुक्तानि तत्त्वानि चावलम्ब्य स्वयं वर्णाश्रमादिरहितं सर्वजनसाधारणं मतं जनेषु प्रचारितमासीत्।[1] तत्तु **कुमारिलशङ्करादिभिः** वैदिकश्रेष्ठैः पराकृतं द्वीपान्तरेषु बहुसमुपलभ्यते, एवमेव जैनादिमतान्यपि।

यवनानां राज्यकाले यवनधर्माः प्रचारिता अपि निर्बन्धेनैव जनानां मतान्तरप्रवेशः कारितः।

ततः **आङ्ग्लेयाः** यदा क्रमेण सम्पूर्णभारतमाक्रम्य शासितुं प्रवृत्ताः, तदा तेन स्वदेशरीत्या सर्वजनसाधारणा एव धर्माः शासनेन स्थिरीकृताः। वर्णभेदो न शासने अङ्गीकृतः। तथा च अपराधेषु सर्वेजनाः समानदण्डार्हाः, न विशेषस्तेषु गणनीयः, ब्राह्मणस्यापि महापराधे शारीरदण्डः मरणावधि कर्तव्य एवेति निरधार्यत्। अत एव सर्वेषां जनानां धूमशकटतैलशकटादिषु भक्ष्यभोज्यादिविक्रयशालासु चं समानः प्रवेशः, उद्योगेषु सम्मानना चेति निर्विशङ्कं समाज्ञापयत्। परं तु देवमन्दिरे स न प्रविष्टः। संस्कृतपाठशालासु सर्वकारैः पोष्यमाणासु सर्वेषां सममेवाध्ययनमध्यापनं चेत्यूरीचकार।

स्वराज्यप्राप्त्यनन्तरं तु देवालयेषु स्नानघट्टेषु च हरिजनानां गिरिजनानां च प्रवेशः पूजाधिकारश्चाङ्गीकृतः। अतएवेदानीं सर्वत्र जनानां साम्यं विद्यत एवेति न साम्यसिद्धये शास्त्रसम्मतिः अन्वेषणीया।

दर्शनविषये समतावादः

सर्वाणि दर्शनानि सर्वेषां जनानां प्रवेशयोग्यान्येव वर्तन्ते। वेदान्तः तत्त्वज्ञानफलः, तत्त्वज्ञानं च निरतिशयसुखात्मकमोक्षसाधनत्वात् सर्वेषां कामनाविषयः, तत्त्वज्ञानी तु सर्वैरेव पूजनीयः। तदुक्तं शङ्कराचार्यैः **"चण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु**

---

१. तदुक्तं महेन्द्रवर्मणा राज्ञा सप्तमशतके काञ्च्यां शासनं कुर्वता:—
वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि।
विप्राणां मिबतामेव कृतवान् कोशसंचयम्॥ (मत्तविलासे)

गुरुरित्येषा मनीषा मम" इति **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'** इति **गीतावाक्यं** व्याकुर्वाणाः श्रीशङ्कराचार्याः यथाश्रुतार्थे दोषद्वयमपश्यन् (१) शुनः मनुष्यस्य च कथं साम्यम्, (२) अपि च समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः पतति इति गौतमधर्मविरुद्धमिदं वचनं भगवतः, **'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि'** इति स्ववचनविरुद्धञ्चेति मत्वा समदर्शिनः इत्यस्त्र ब्रह्मासमशब्दार्थः। समदर्शिनः ब्रह्मदर्शिनः इति व्याचक्रुः। इदानीमपि नराणां श्वानसाम्यं नाभ्युपगच्छन्ति साम्यवादिनोऽपि।

तर्कशास्त्रे—जगदेव दुःखनिमग्नमुद्दिधीर्षुः भगवान् **गौतमः** आन्वीक्षिकीं प्रणिनायेति तत्त्वचिन्तामणिं व्याकुर्वन्तः **दीधितिकाराः** शूद्राणामधिकारिजन्मप्राप्त्या उद्धरिष्यमाणतेति व्याचक्रुः। 'शमायशास्त्रं जगतो जगाद' इति न्यायवार्तिकं व्याकुर्वन्तः **वाचस्पतिमिश्राः** अनधिकारिभिः एतच्छास्त्रपठनेन यद्यपि ऋषेः पापं भवति तथापि तत् तदीय तपसा निवर्तत-इत्यूचुः। एतत्सर्वमिदानीं सर्वकारशासनेन दूरीकृतम्।

मीमांसाशास्त्रं तु वेदार्थनिर्णयपरं यो वेदार्थमनुतिष्ठति तस्योपयोगाय। इदानीं तु वेदोक्तयागादीनि न कश्चित्करोति द्विजोऽपि।

योगशास्त्रं वर्णाश्रमविशेषं परित्यज्य मनुष्यमात्राधिकारं प्रतीयते। तत्रोक्तः प्रणवजपस्तु सन्यासिभिः कार्य—इति विशेषः।

व्याकरणं शब्दसाधुत्वमात्रपर्यवसितम्।

वर्णाश्रमव्यवस्थासद्भावकालेऽपि जनानां साम्यं उत्कर्षापकर्षाद्यभावरूपमङ्गीकृतमित्येव वक्तव्यम्, तद्यथा **मीमांसका** आहुः—यागे अध्वर्युः प्रधानो ऋत्विक्। स यदा 'यज' इति वदति तदा होत्रा याज्या मन्त्रः पठनीयः। 'अनुब्रूहि' इति यदा आज्ञासदृशं वाक्यं प्रयुङ्क्ते, तदा होत्रा पुरोनुवाक्या मन्त्रः पठनीयः। एवं व्यवस्थायां सत्यामपि न होता अध्वर्योः भृत्यः" "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्" इति न्यायेन उभयोरपि यजमानेन दक्षिणया क्रीतत्वात् उभावपि यजमानपरतन्त्रौ। 'यज' 'अनुब्रूहि' इत्यादौ लोट् प्राप्तकाले द्रष्टव्यः। याज्यायाः पठनकालः प्राप्तः इत्यर्थः, न तु नियोगपरत्वमिति। एवमेव सर्वैः स्वस्वधर्माचरणे ईश्वराख्यो वेद एव प्रमाणम्, न तु जनेषु उत्कर्षापकर्षभावः। लोकेऽपि राज्यशासकः मन्त्री वर्तते, स च बहूनामधिकारिणामुपरि वर्तते, तेषां कार्याणि प्रत्यवेक्षते। न च तावता एते अधिकारिणः तद्भृत्या भवेयुः, उभयेषां राज्यशासनपरतन्त्रत्वात्।

एतेनेदं व्यक्तं यदस्मन्मते समतावादः न केवलं वेद एव वर्तते। अपि तु लोकव्यवहारेऽपि अयं वर्तत एवेति।

• • •

भारतीयदर्शनेषु समता आरोहावरोहक्रमश्च

आचार्य पं० रघुनाथ शर्मा

भारते वर्षे श्रुतिषु प्रसिद्धानि अन्नमय-प्राणमय-मनोमयविज्ञानमयानन्दमय-रूपैर्भिन्नानि पञ्चदर्शनानि भवन्ति। एते च पञ्चकोशा व्यष्टिसमष्टिभेदेन द्वैविध्यमापन्ना दश भवन्ति। तत्र व्यष्टिरूपाः पञ्चकोशा अस्माकं जीवानाम्। समष्टिरूपास्तु पञ्च भगवतः। तत्र जीवानामन्नमयकोशः पार्थिवः, तत्रान्नं पृथिवी, अन्नहेतुत्वात्—अयञ्चान्न-मयकोशः चार्वाकाणां लौकिकानाञ्च। अत एव **चार्वाकदर्शनं** लोकायतमिति व्यवह्रियते लोके दर्शनेषु च। लोके आयतं विस्तृतमिति व्युत्पत्तेः। अयञ्च कोशः पाञ्चभौतिकोऽपि पृथिवीप्रधानत्वादन्नमितिव्ययदिश्यते मल्लग्रामादिवत्। एतस्मिन् ये आत्मबुद्धिं कुर्वन्ति तत्प्रयुक्तं स्नेहञ्च तेषां पुत्रे कलत्रादिषु अनात्मसु—आत्मबुद्धिर्निवर्तते। तत्कोशोपकारिषु च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु विषयेषु स्वाभाविको रागः आत्मनः पीडाकरो निवर्तते, यदृच्छालाभसंतुष्टश्च जीवो भवति, विषयेषु आत्यन्तिकी आसक्तिर्निवर्तते। अन्नमयकोशे च निर्गतप्राणेऽचेतनत्वं भावयतः, प्राणमयकोशे आत्मत्वबुद्धिर्व्यवतिष्ठते। प्राणमय-कोशश्च जलोपादानकः, आपोमयः प्राण इति श्रुतेः। अन्नं विनाऽपि जलं पिबन् बहूनि अहानि जीवति, केवलमन्नमनुपसेवमानो मनोदौर्बल्यात् केवलं स्मृतिं विजहाति न तु म्रियते। अन्नमयं सौम्य मन इति हि श्रुतिषु उक्तम्। इदञ्च प्राणमयकोशदर्शनं लोके प्रसिद्धं श्रुतिमूलकं चार्वाकैकदेशिनां केषाञ्चित्, एतच्च दर्शनमधुना नोपलभ्यते। प्राणमयकोश एव सर्वाणि इन्द्रियाणि प्रचालयति, अत एव सर्वाणि इन्द्रियाणि प्राणा इत्युच्यन्ते। प्राणमयकोश एव सूक्ष्मशरीरस्य संसारे गत्यागतिहेतुः। स्थूलशरीरस्य च विधारकः, अत एव निर्गते प्राणे स्थूलशरीरं काष्ठलोष्ठवत् क्षितौ पतति। अत्र प्राणमय-कोशेऽपि वायुत्वेन बाह्यवातवद् जडत्वबुद्ध्या ये आत्मबुद्धिं न कुर्वन्ति, ते मनोमयकोश-वादिनः **पौराणिकाः**। ते खलु सूक्ष्मशरीरमेव मनःप्रधानं मनोमयं कोशं व्यपदिशन्ति। तस्यैव च नानाविधैः कर्मभिः नानाविधकर्मफलोपभोगाय स्वर्गे निरयेषु मर्त्यलोके च गत्यागती वर्णयन्ति। **नैयायिका** अपि मनोमयकोशं विज्ञानमयकोशञ्चैकीकृत्य तमे-वात्मानं मन्वते। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्ये-तत्सर्वं मन एवेति श्रुतेः। **बौद्धास्तु** विज्ञानमयकोशमेवात्मानं मन्यन्ते। **अद्वैतिनस्तु** नित्यविज्ञानमयमिति, **सांख्या योगा** अपि नित्यविज्ञानमेवात्मानमुपगच्छन्ति। **अद्वैत-वेदान्तिनस्तु** सगुणमानन्दमयमात्मानमभ्युगच्छन्ति, निर्गुणन्तु आनन्दमिति। अत एव-

'आनन्दमयोऽभ्यासा'दिति ब्रह्मसूत्रस्य द्विधा व्याख्यानं **श्रीशङ्करभगवत्पादैः** कृतम्। भगवतः परमेश्वरस्य समष्टिरूपस्य तु अन्नमयकोशः ब्रह्माण्डरूपः, ब्रह्मा तु सूक्ष्मशरीरोपाधिको मनोमयः प्राणमयश्च समष्टिरूपः। विज्ञानमयोऽपि स एव। स एव चानन्दमयोऽपि। प्रपञ्चस्य सदसद्वैलक्षण्ये शून्यवादाद्वैतवादयोः साम्यम्। विज्ञानवादत्वेन च क्षणिकविज्ञानवादनित्यविज्ञानवादयोः साम्यम्। सांख्ययोगयोः न्यायवैशेषिकयोः सिद्धान्तसाम्यञ्च सुप्रसिद्धमेवेति नोपपाद्यते नवोदाह्रियते। **'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्'** इति पञ्चभिर्लक्षणैः सर्वेषां पुराणानां साम्यं सुप्रसिद्धमेव। ज्ञानेऽधिकारिभेदेऽपि योगे सर्वेषामधिकारसाम्यमस्त्येव। वृत्तिसाम्यन्तु समाजे कलहोद्भावकत्वान्नास्ति शास्त्रेषु। दृश्यते हि साम्प्रतं वृत्तिसाङ्कर्येण कलहः समाजे। धर्मसाम्यम्, धर्मवैषम्यञ्चाधिकारिभेदेन, दृश्यतेऽधुनापि समाजे। **गीतायामपि** वृत्तिभेदः स्पष्टमुक्तः—**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** इति। वस्तुतस्तु वैषम्यं जीवनं साम्यं तु प्रलय इति **सांख्यसिद्धान्तः**। यदा हि सत्त्वरजस्तमसां साम्यं तदा प्रलयस्तैः स्वीक्रियते। यदा तु उद्रेकानुद्रेकाभ्यां तेषां वैषम्यं तदा सर्ग इति।

पुराणश्रवणे सामाजिकसमता दृश्यते–**'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रहः'** इति। धर्मशास्त्रेषु विविधा धर्मा वर्णिताः, तेषु ये वर्णानामाश्रमाणां च विशेषधर्मास्ते प्रतिस्वं यथायथं भिन्नाः। ये तु सामान्यधर्माः ते मानवमात्रस्य अभिन्नाः—यथा सत्यम्, अहिंसा, ब्रह्मचर्यम्, सन्तोषः, सद्वृत्तम्, बाह्यमाभ्यन्तरञ्च शौचम्, अद्रोहः, नातिमानिता, भूतेषु अनुग्रहः, दानम्, आर्जवम्, ह्रीः, अचापलम्, निष्कामानि कर्माणि, अस्तेयम्, अपैशुन्यम्, परापवादपरिहारः, प्राज्ञपूजनम्, अतिथिसेवा, कायवाङ्मनसां संयमः, अलोकविद्विष्टा वृत्तिः, भूतेषु दया, अपारुष्यम्, अनुद्वेगकरं वाक्यम्, अक्रोधः, अलोभः, धर्माविरुद्धः कामः, शमो मनोनिग्रहरूपः, दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहरूपः। धर्मार्थकामानां साम्येन सेवनम्। यथाह—कामन्दकः–**'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यस्त्वेकसक्तः स नरो जघन्यः'** इति। अनापदि स्वस्वकर्मपरिग्रहः। शिक्षा, देशोचितः सदाचारः। सात्त्विका आहाराः, दधिदुग्धफलादीनाम्, मद्यमांसादिपरिहारः, सात्त्विका विहाराः–दिवाकर्माणि-रात्रौ शयनम्, रात्रिशेषे प्रजागरः, शरीरसहो व्यायामः, मितव्ययिता। सहजकर्मसेवनम्—**'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' इति।** भृत्यभरणम् (मातापित्रोः शिशूनां पत्न्याश्च येन केनाप्युपायेन पालनम्) यदाह मनुः—**'वृद्धौ च मातापितरौ भार्या साध्वी सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्'** इति। एतानि कर्माणि चित्तशुद्धिद्वारा आत्मदर्शनोपयोगीनि इह लोके च सुखसमृद्धिकराणि। दर्शनेषु च सर्वेषु योग आत्मदर्शनसाधनतया समाद्रियते। योगे च तथ्यमेवात्मस्वरूपं प्रकाशते

नातथ्यम् । तत्र च सर्वे विवादाः सर्वे आत्मविषयाः संशयाः, सर्वाणि मिथ्याज्ञानानि निवर्तन्ते । तदुक्तम्—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ इति ।

वस्तुतस्तु सर्वदर्शनानां समन्वय एव फले । उपायानान्तु भेदोऽधिकारभेदेन दर्शितः शास्त्रेषु । तथाहि—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ इति ।

एवं न्यायवैशेषिकयोः साम्यम्, पूर्वोत्तरमीमांसयोश्च—व्यवहारे भट्टनय इति स्वीकारात् । सर्वेषाञ्च दर्शनानां स्थूलारुन्धतीनिदर्शनन्यायेन उपायभेदेन च अपवर्ग एव फलम् । किंबहुना—सकामकर्मणां बन्धहेतुत्वेऽपि निष्कामकर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानजननेन अपवर्गहेतुत्वमेव । इदमप्यवधीयताम् । सर्वे दर्शनाचार्याः साध्वेव उपदिशन्ति स्म नासाधु । तद्व्याख्यातारस्तु तदसम्यग् व्याख्यातवन्तो भ्रमादिना येनायमधुना दर्शनेषु कलहः संप्रवृत्तः । तथाहि—क्षणिकं क्षणिकमिति, विज्ञानं विज्ञानमिति, स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति, शून्यं शून्यमिति भगवतस्तथागतस्योपदेशः । तत्राद्य उपदेशो वैराग्यजननाय संसारानित्यत्वस्य । द्वितीयस्तु उपदेशो नित्यविज्ञानरूपस्य ब्रह्मणः, तदतिरिक्तस्य मिथ्यात्वप्रबोधनाय । तृतीयस्तु उपदेशो विश्वस्य स्वालक्षण्यप्रतिपादनेन अनिर्वचनीयत्वप्रतिपादनाय । चतुर्थस्य तु उपदेशस्य न सर्वशून्यत्वप्रतिपादने तात्पर्यम्, किन्तु आत्मातिरिक्तस्य सर्वस्य शून्यत्वे तात्पर्यम् । आत्मनोऽप्रत्याख्येयत्वेन सत्त्वात् । अहमस्मीति सर्वानुभवसिद्धत्वाच्च । जैनदर्शनस्यापि मूलभूतं भागवतीयम् ऋषभदेवचरितम्—तत्र च आस्तिकानामपि संमतिरेव । किन्तु तदनुयायिभिर्जैनैः तदन्यथानीतम्—स्वमतस्यापूर्वत्वोद्भावनाय । एवमागमाः पुराणानि च अधिकारिभेदेन रुचिभेदेन च स्वस्वविषयं प्रतिपादयन्ति समन्वितान्येव प्राप्यैकत्वात् । तदुक्तम्—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव । इति ।

अथेदानीं विचार्यते **दर्शनानामाविर्भावः** किमर्थ इति । तत्रेदं बोद्धव्यम्—दर्शनानामाविर्भावो व्यवहाराय अपवर्गाय चेति । तत्र दर्शनानामुपयोगोऽपवर्गप्राप्तौ सुप्रसिद्ध इति न साध्यते । व्यवहारे तु तदुपयोगः प्रसाध्यते । तथाहि—न्यायशास्त्रस्य व्यवहारे उपयोग उक्तः पूर्वैः—**'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्'** इति । सर्वत्रैव हि कर्मणि प्रवृत्तिः फलस्य भावित्वादनुमानत एव । शाब्दे व्यवहारे च प्रवृत्तिः शब्दत

उपमानतश्चेति सर्वजनानुभवसिद्धम्। प्रत्यक्षतोऽपि व्यवहारे प्रवृत्तौ न कस्यापि विमतिः। एवं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दरूपप्रमाणचतुष्टयप्रतिपादकं **न्यायशास्त्रं** सर्वव्यवहारोपयोगि, एवं **वैशेषिकशास्त्रमपि**। एवं न्यायवैशेषिकशास्त्रे लक्षणप्रमाणाभ्यां तत्तद्वस्तुप्रसाधिकेषु सर्वव्यवहारेषु लोकानामुपकुरुतः। **पूर्वोत्तरमीमांसे** तु वाक्यशास्त्रे वाक्यार्थविचारपरे शास्त्रीये लौकिके च व्यवहारे राजनीत्यादौ अर्थशास्त्रे धर्मशास्त्रेषु च उपकुरुतः। **वेदान्तशास्त्रन्तु** अद्वैतस्य ब्रह्मणः सर्वात्मत्वप्रतिपादनपरं लोके सर्वानर्थबीजानां कामक्रोधलोभादीनां निवर्तनेन शान्तिप्रसाधनपरम्। तदुक्तं गीतासु—

वेदा विनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ इति।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ इति।

दृष्टश्च वेदान्तशास्त्रनिष्णातानामपि **जनकादीनां** राज्ञां शासनसंबद्धो व्यवहारप्रपञ्चः। **वशिष्ठस्य** च पौरोहित्यरूपो व्यवहारः। तदुक्तम्—

कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी भूपौ जनकराघवौ।
वसिष्ठः कर्मकर्त्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः॥

सांख्ययोगशास्त्रयोरपि सिद्धिसंपादनद्वारा सर्वव्यवहारोपयोगः। सिद्धयश्चाष्टौ उक्ताः—

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः॥ इति।

दृष्टश्च सिद्धीनां व्यवहारे उपयोगः—**अगस्त्यस्य** सिद्धिद्वारा आतापिवातापिपरिपाकः, समुद्रपानञ्च। **कर्दमस्य** कामगविमाननिर्माणम्। **विश्वामित्रस्य** अपूर्वः सर्गः। **ध्रुवस्य** ध्रुवपदप्राप्तिः। इति। एवं **बौद्धादिदर्शनानामपि** व्यवहारे उपयोगः चन्द्रगुप्ताशोकादिराज्यकाले दृष्टः। व्यवहारानुपयोगे हि शास्त्रं समुच्छिद्येत। साम्प्र ं न्यायादिदर्शनवत्। एवं **जैनदर्शनस्यापि** सत्त्याहिंसादिप्रचारद्वाराऽस्त्येव लोकव्यवहारे उपयोगः।

तथा चेदं पर्यवसितमवधीयताम्—

अयमात्मा परश्चासाविति बुद्धिर्विसृज्यताम्।
परेशः सर्वभावेषु श्रद्धया समुपास्यताम्॥ १॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानञ्च शीलमेतत्प्रसाध्यताम्॥ २॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ ३ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४ ॥

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥ ५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम् ॥ ६ ॥

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।
इति संचिन्त्य मनसा ब्रह्मचर्यं विधीयताम् ॥ ७ ॥

ध्मायन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथामलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ८ ॥

सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेद् हातुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥ ९ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
अतः प्रसिद्धये तस्य सद्‌गुरुः संनिधाप्यताम् ॥ १० ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुः साक्षान्महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ११ ॥

● ● ●

सामाजिकसमत्वविषये भारतीयदर्शनानि

आचार्य पं० पट्टाभिरामशास्त्री

विषयस्यास्योपपादनात्पूर्वं श्रोतॄणां—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः।
य एव सर्वशास्त्रज्ञस्तस्य शान्तं मनस्सदा॥

इति वैयासिके वचने मनांसि समाक्रष्टुं वाञ्छामि। चिरन्तना नास्तिका वा भवन्त्वास्तिका वा दार्शनिकाः समेषामेषां दर्शनानां शास्त्राणां वा प्रवर्तने प्रवचने च मुख्यमुद्देश्यमिदमेवासीत् यदध्ययनेन श्रवणेन च सामाजिकानां मनसश्शान्तिस्समुदेत्विति। भुवि जनिमातस्थुषा मानवेन सर्वेण त्रयः पदार्थाः प्राधान्येन भवन्त्यवाप्तव्याः— वैराग्यम्, धर्मबुद्धिः मनसश्शान्तिश्च।

यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये।
सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत्॥

इति खल्वाह भगवान् व्यासः। तत्र दर्शनेषु पठ्यमानेषु शास्त्रेषु च विचार्यमाणेषु तत्र तत्र क्रियमाणैः खण्डनमण्डनव्यापारैः नूनं वैराग्यस्य धर्मस्य शान्तेर्वावसरो नास्तीति झटिति प्रतीयते। मिथः कलहार्थमेव मनः प्रसरेत् तस्यापि, यश्च निखिलशास्त्रसिद्धान्ताभिज्ञः। तत्र च किं कारणमिति पर्यवेक्षणीयं प्रेक्षावता। विरुद्धगुणकारिषु भोज्यवस्तुषु भुक्तेषूदरपूरणं नाम भवेदेव, किन्तु तेषां जरणशक्तिरपि समवाप्तव्या, अन्यथा शरीरस्य विकृतिरवश्यम्भाविनी। अस्मिन्नर्थे वैदिकं किञ्चिद्विवक्षामि—

सोमयागे सोमरसभक्षणावसरे कश्चन मन्त्रः पठनीयो भवति, यस्य च **भक्षानुवाक** इति संज्ञा। अयमनुवाकः—'भक्षेहि माविश' इत्यारभ्य 'उपहूतस्योपहूतोऽहं भक्षयामि' इत्यन्तो वर्तते। तत्र मन्त्राणां सामर्थ्येन वाक्येन समाख्यया च विनियोगो मीमांसकैरङ्गीक्रियते। समग्रस्य भक्षानुवाकमन्त्रस्य वाक्येन समाख्यया वा विनियोगे भक्षणाङ्गत्वमेव स्वीकर्तव्यम्, किन्तु सिद्धान्ते वाक्यसमाख्याभ्यां लिङ्गस्य बलवत्त्वेन तत्तदर्थे विभज्य विनियोगः स्वीकृतः। तदत्र मन्त्रे भक्षणम्, बाहुभ्यां ग्रहणम्, चक्षुषावेक्षणम्, सम्यग्जरणम् इत्यादयोऽर्थाः प्रतिपादिताः। तस्मिंस्तस्मिन्नर्थे मन्त्रं विभज्य मन्त्रमुच्चार्य तत्तत्कार्यं कर्तव्यमिति स्थितिः। तत्र **'हिन्वमे गात्रा हरिवोगणान्मे मा वितीतृषः। शिवो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः'** इति भाग-

स्सम्यग्जरणे विनियुज्यते। सम्यग् जीर्णो हि सोमरसो गात्रानि प्रीणयन नाभेरधस्तान्न गच्छेत्। अत्यधिकं सोमरसं प्रपीय मन्त्रस्यास्य पठनेन सम्यग्जरणं भवेद्, इति यः कश्चन निश्चिनुयात् तर्हि सोऽतिसारेण विरेचनेन, वमनेन च म्रियेत। सन्दर्भस्यास्येदं तात्पर्यम्, यत्तावदेव भोक्तव्यं यच्च रसरूपेण परिणतं सच्छरीरं पोषयतुं समर्थं स्यात्। शरीरधारणाय खल्वाहारो भवति, न खल्वाहाराय शरीरम्। यथा सम्यग्जरणपर्यन्त-माहारोपयोगः शरीरधारणाय कल्पते, तथा मनसो बुद्धितत्त्वस्य च परिपोषणाय दार्शनिकैः कल्पित आहारो नैकविधः। तदस्याप्याहारस्य सम्यग्जरणपर्यन्तं सेवन-मुचितम्। दार्शनिकतत्त्वरूपाहारस्य सम्यग्जरणं नाम स्वजीवदवस्थायां व्यवहारेण सह समायोजनम्। **'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', 'न स्तेयात्', 'न परदारान् गच्छेत्', 'न सुरां पिबेत्',** इत्यादीनिशास्त्राणि नोपदेशायैव केवलं प्रवृत्तानि, अपि त्वाचरणाय। तानीमानि नाचरामः, अपि तूपदिशाम इति चेत्को लाभो जीवनस्य, बोधस्तु आचरणा-वसानः खलु भवति। यथाहि भक्षणं सम्यग्जरणावसानम्।

'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताःसमदर्शिनः' इति साधूक्तं पार्थसारथिना। अस्या गीतेर्गानमात्रेण समदर्शित्वं न नाम सिध्येत्। **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** इत्येवमुपपादन-मात्रेण जगतोमिथ्यात्वं ब्रह्मणश्च सत्यत्वं न खलु सिध्येत्। पदार्थसिद्धिरन्या, तदुप-पादनञ्चान्यत्। शून्यं शून्यं, दुःखं दुःखम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्, क्षणिकं क्षणिकमिति जपमात्रेण न खलु संसारस्य शून्यत्वम्, दुःखरूपत्वम्, क्षणिकत्वं वा सिध्येत्। वाग्दूकेन केनचन सोपपत्तिवाचा साधितमपि सर्वमिदं कस्मै प्रयोजनाय कल्पेत। स्वस्ववाग्विलास-प्रदर्शनाय न खलु सन्दृब्धानि शास्त्राणि मनीषिभिः। तांस्तान् पदार्थान् समनुभूय ते निरमासत दर्शनानि।

सर्वश्च दार्शनिकः स्वस्वप्रतिपाद्यविषयावबोधनाय कण्टकानाकीर्णं मसृणं पन्थानं निर्माय विचरति। मसृणे पथि विचरन् परैर्विकीर्यमाणान् गमनोपरोधकान् उपलान् कण्टकांश्च दूरीकुर्वन् गच्छति। एवं क्षुण्णे पथि परांश्च सामाजिकान् गमयितु-मभिलषति। सर्वदर्शनप्रवर्तकानामियमेव सरणिः। तस्य तस्य दार्शनिकस्य मार्गे भिन्नेऽपि मार्गत्रये सर्वे समावेशयितुं शक्यन्ते, कामं ते भवन्तु मिथो विरुद्धसिद्धान्ता-वलम्बिनः।

समाजे समत्वबुद्धिप्रसारणाय नैरात्म्यदर्शनमेव परमं साधनमिति केचन जगृहुः। अहंकारमकारयोः प्रहाणं नैरात्म्यदर्शनस्य मूलम्।

यतस्ततोवास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति॥

आत्मग्रहो नाम बलीयान् मोहः, तन्निवृत्तावात्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति। यदाहमेव नास्मि, तदा किं मम? इत्युपदिशन्तो नैरात्म्यवादं निर्वाणद्वारमिति ते प्रसाधयन्ति **'नास्मि', 'नास्ति'** इति प्रसाधयतां तेषां प्रतियोग्यनुयोगिनोः अभावस्य चावस्तुत्वमभिप्रेतम्। संसाराख्ये महति प्रासादेऽनुयोगिनि स्वस्य परेषाञ्च प्रतियोगिनाम् अभावस्य चावस्तुत्वे सर्वं शून्यमिति पर्यवस्यति। एतादृशीमवस्थां प्रतिपन्नस्य महात्मनः सामाजिकेषु समत्वदृष्टेः क्वावसरः? तादृशो महात्मा सामाजिकाश्च शून्याः। समत्वदृष्टिः कुत आगच्छेत्? व्यवहारदशायां सा दृष्टिस्समानेया, तदैव तद्दर्शनस्य समुपयोगः। व्यवहारदशायाञ्च उपदेष्टुः स्वस्य उपदेश्यानां परेषाञ्च सत्यत्वं संवृतिरूपमभिप्रेयते। संवृत्तिशब्दस्तु मिथ्यापरपर्यायः। स्वस्य परेषाञ्च मिथ्यासत्यत्वमागतम्। मिथ्यासत्यत्वावच्छिन्नयोरुपदेश्योपदेष्ट्रोः उपदेश्योपदेशकभावः कथं सिध्यतु? तेन च सामाजिकेषु ममत्वभावना कथमुदेतु? वचने परं मधुरिमा—**'अहमेव नास्मि, किं ममेति' 'अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति'** इत्यादौ। **मधुरिम्नः आस्वाद आवश्यकः, तस्य च परिपाकोऽपि।** तदेदं दर्शनं सामाजिकसमत्वदृष्टौ महदुपकारकं स्यात्। पितृष्वसुःयदि श्मश्रूणि जायेरन् तर्हि सा पितृव्यपदवाच्यास्यादिति यथा।

रागद्वेषादीनां भञ्जनाय भवभयत्राणाय सामाजिकेषु समत्वदृष्टिनिक्षेपणाय च नैरात्म्यवादः किमिति समाश्रयणीयः? **तदर्थं ब्रह्मात्मैकत्वोपदेश एव वरीयान् इत्यन्यद्दर्शनं प्रवृत्तम्।** मत्तो यद्यन्यः कश्चन स्यात्, तर्हि तेन सह रागद्वेषादिः, तस्माच्च भयं भवेताम्, 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि, तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्धि अभैष्यत्, द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि प्रमाणेन ब्रह्मात्मैकत्वभावनायां परिपाकमापन्नायां रागद्वेषादिः भयाच्च मोचनं पारमार्थिकदशायाम्। ब्रह्मात्मैकत्वभावनायाः परिपाकः कृच्छ्रेण सम्पादनीयो भवति। तदर्थं व्यावहारिकदशायां जगतो मिथ्यात्वं **'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'** इत्यादिकतिपयोनिषद्वाक्यानामावृत्तिमात्रेण न किञ्चित्प्रयोजनम्। शाब्दबोधे ब्रह्मणस्सत्यत्वं जगतश्च मिथ्यात्वमिति ज्ञानं जातम्, न तदवगतम्। अनवगतमेव तद्द्वयं छात्रान् सामाजिकांश्च ग्राहयामः, अवगते च तस्मिन् न छात्रा भवेयुः नापि सामाजिकाः। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** इति दशायां प्रपञ्चः क्वास्ताम्? अतश्च व्यवहारदशायां भाट्टमतावलम्बनेन जगतस्सत्यत्वं केनचिदंशेन स्वीकृत्य गन्तव्यं भवति। तदा समाजे समत्वदृष्टिं प्रसारयितुमस्मिन् मते कियान् भवेदवसरः। साधूक्तं नीलकण्ठदीक्षितैः—

त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः॥ इति।

अस्मिन्मते व्यवहारदशायां वर्णाश्रमधर्मपालने नियते सत्यपि न समाजे वैषम्यबुद्धेः प्रसङ्गः। यथाधिकारं स्वं स्वं कर्मसमाचरन् मानवस्सर्वोऽपि सम एव भवति न विषमः। अधिकारातिक्रमण एव वैषम्यबुद्धिस्समुदियात्। **'लोकवत्परिमाणतः फलविशेषस्स्यात्'** इति **जैमिनीय**न्यायेन विना मर्यादाभङ्गं स्वे कर्मणि वर्तमानस्सर्वोऽपि सम एव भवति। समत्वबुद्धिप्रसाराय **मृगपति**पदेऽलर्कोऽपि समारोपयितुं शक्यते, कुलपतिपदे शूद्रः श्वपाको वा नियोक्तुं शक्यते, किन्त्विदं पर्यवेक्षणीयम्, कस्तस्य परिणाम इति।

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्तिरारोपितो मृगपतेः पदवीं यदिश्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥

भिन्नेषु सत्सु तेषामेकत्वसम्पादनेनैव समाजे समत्वबुद्धिः प्रसेरत्। शून्यतादर्शनं वा ऐकात्म्यदर्शनं वा नैतदुपदिशेत्, यत् प्रतिलोमविवाहेन, आसुरराक्षसविवाहेन मन्दिरेषु शूद्रस्य चण्डालस्य वा पूजकत्वनियोजनेन, शिखायास्सूत्रस्य च छेदनेन लोकेषु समत्वबुद्धिर्भवेदिति। सम्प्रति कतिनाम न सन्ति भारते विशिखा विविधशिखा वा? किन्तेषु समत्वं परिलक्ष्यते? विजातीयविवाह एव समाजे समत्वाधानप्रयोजक इति काम**मम्बेडकर**दर्शनं वा ब्रूयात् **जगजीवनराम**दर्शनं वा **रामस्वामिनायकस्य** वा। चिरन्तनानां यादृशं दर्शनम् न तथा खल्वमीषां दर्शनम्। समाजे मिथो लोकानां समत्वबुध्युत्पत्तये चतुष्पदानां व्यवहारो मानवैश्शिक्षणीयः। मर्यादामुल्लङ्घ्य न कोऽपि चतुष्पात् यौनसम्बन्धमाचरति। पशवस्तु योनिमाघ्राय तस्या विजातीयत्वे सजातीयत्वेऽप्यनुपयुक्तत्वे, विहाय तं पशुमपसरन्ति। अहहः पशुभ्योऽपि वयं निकृष्टास्स्मः, समत्वबुध्याधानाय विजातीययोनिसम्बन्धं बलात्कारयामः, पुरस्कारप्रदानेन च तान् प्रोत्साहयामः। एवं करणेन कः परिणाम इति न विभावयामः। किमेवमुत्पन्नानामपत्यानां मिथो व्यवहारे वैषम्यं न विलोकयामः? तत्रापि रागद्वेषादयः किं न भवति? समानजातीया एव भवन्तु किं तेषु मिथस्समत्वदृष्टिरनुभूयते? **समत्वदृष्टिस्तु भावनाबलजा भवति। तत्र नेमे वर्णाश्रमधर्माः प्रतिबन्धमाचरेयुः। तादृशीं भावनाञ्चोपदिशन्ति** दर्शनानि। नैरात्म्यदर्शनमपि रागद्वेषाद्युत्सादनायैव प्राधान्येन प्रवृत्तम्, न तु जात्यादीनामप्युत्सादनायेत्येष्टव्यम्। ब्रह्मात्मैक्यदर्शनकार्यमपि तदेव, किन्तु वर्णाश्रमधर्मपरिपालनपुरस्सरं रागद्वेषाद्युत्सादनद्वारा समत्वदृष्टिमाधातुं प्रवृत्तम्।

अपराणि च दर्शनानि नानात्मप्रतिपादकानि-द्वितीयसत्त्वेऽपि नियन्तुः परमेश्वरस्य तृतीयस्य सत्त्वात्, तत्पारतन्त्र्यस्यैव सर्वेषां निरुपाधिकस्य सोपाधिकस्य वा समुपदिष्टत्वात्, सर्वात्मनां समानाकारत्वेन वैषम्याभावात्, वैषम्यहेतुनां सत्वेऽपि तेषा-

मौपाधिकत्वात्, रागद्वेषानवकाश इत्युपदिशन्ति सन्ति नियन्त्रपेक्षया द्वितीयस्य स्वतन्त्रस्याभावात् नैव भयस्यावकाश इति प्रतिपादयन्ति। अस्मिन्नपि मते **वर्णाश्रम-धर्मपरिपालनं नाम मुख्यः प्रणवः। यावान् वर्णाश्रमधर्माणामुच्छेदः प्रवृद्धस्स्यात् तावानेव रागद्वेषादिः प्रधूमितो वैषम्यप्रयोजकः स्यादिति प्रत्यक्षमीक्षामहे। वेदानां रामायणस्य रामचरितमानसस्य मन्वादिस्मृते**रन्येषाञ्च ग्रन्थजातानि मृत्तिकातेल-संयोगेन दह्यन्ताम्, वैषम्यपिशाचिका तु मुक्तकेशा नृत्येदेव। समाजकल्याणानामैव चिरन्तनैर्नैकविधानि दर्शनानि प्रणीतानि, देशगौरवसंरक्षकाणीमानि, बुद्धिशक्तेः प्रवर्द्धकानि, चिन्तनाशक्तिविवर्द्धकानि, देशभक्तिप्ररोचकानि, स्वस्वमर्यादानुल्लंघनेन नित्यनैमित्तिककर्मणां नियमेनानुष्ठातृभ्यः श्रेयःप्रेयःप्रदानि। भारतीयदर्शनानि पुरुषा-भिलषितावाप्तये यं यं पन्थानं परिकल्प्य तत्र गन्तुं प्रचोदयन्ति, तत्रेतिकर्तव्यता-पूरकाणि स्मृतिनिबन्धेतिहासपुराणाद्यनल्पानि ग्रन्थजातानि। हैयङ्गवीनं सर्वस्मा एव रोचेत, किन्तु तदवाप्तये उच्चावचानि कार्याणि कर्तव्यानि भवन्ति। तदिदं ज्ञातव्यं मानवेन। गां दुग्धा पयः सम्यक्सन्तप्य किञ्चिदार्द्रीकृत्य दघ्नातञ्च पिधाय परेद्यु-स्सम्पन्नं दधि मन्थानेन मथित्वा नवनीतं निष्कास्य, तत्सेवनीयमिति भवतीतिकर्तव्यता। विनेतिकर्तव्यतया न खलु फलसिद्धिस्साधनेन विलोक्यते। इति कर्तव्यताः परित्यज्य केवलं दर्शनैरुपदिष्टं साधनं फलं कथमुत्पादयेत्? येषां मते फलं साध्यं भवति तैः साधनमितिकर्तव्यता च नूनमपेक्ष्येते। येषां वा मते फलं स्वतस्सिद्धं न साध्यम्, तैः तत्प्रतिबन्धकनिवृत्तये साधनेतिकर्तव्यता अपेक्ष्यन्त एव। शून्यं शून्यमिति भावना-बोधकं शून्यतादर्शनं कामं महाफलाय स्यात्, एकमात्मानं परतत्त्वं विभाव्य समानां-दर्शनं नूनं महाफलं नानात्मसु सत्स्वपि ईश्वरपारतन्त्र्यविभावनमवश्यं महाफलं स्यात्, किन्तु सर्वत्रेतिकर्तव्यताया नान्तरीयकतेत्यत्र न कश्चन संशयलेशः। इतिकर्तव्यतैव भारतीया संस्कृतिः। स्वयं शौचारविहीनः मद्यपः, चौर्यरतः, वञ्चनापरः, पिशुनश्च, अपि च शून्यं शून्यमिति विभावनं श्रेयस्करमिति।

सदा जपपरे हस्तः मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्।
सर्वं ब्रह्मेतिवादश्च सद्यः प्रत्ययकारणम्॥

इति रीत्या 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' इत्यात्मैकत्वानुसन्धानं शान्तिप्रदम्, इत्युप-दिशेत्, तदा वक्तारः किं न वदेयुः? कथं वास्य वचसि श्रद्धधीरन्? **श्रद्दधाना** अपि अशुच्यनाचारादिभ्यः कथं निवर्तेरन्? उपदेष्टा नूनमेव नोपदिशेत्—यद् अशुच्यनाचा-रेण वर्तितव्यम्, मद्यसेवनं कर्तव्यम्, चौर्यमनुष्ठेयमित्यादि, किन्तूपदेष्टुर्वर्तनं निशाम्य स्वयमपि उपदेश्यस्तथा यदि वर्तेत तदा नाधिकार उपदेष्टुः—यदेवमात्मानमनुवर्त-

मानान् दुष्कर्मभ्यो निवर्तयितुम् । अतस्स्वाभिलषितावाप्तये शास्त्रकृद्भिर्या या इतिकर्तव्यता उपदिष्टास्ताः सर्वैरेवाचरणीयाः । तदैव शून्यस्य वा ऐकात्म्यस्य वा ईश्वरपारतन्त्र्यस्य वा विभावनं समाजे समत्वदृष्ट्याधायकं स्यात् ।

अत्र च मीमांसकानां सरणिरत्युत्तमेति मे प्रतिभाति । मीमांसा हि विना पक्षपातेन परीक्षणव्यापारवती । सत्यामपि करणस्य फलजनकत्वशक्तौ सेतिकर्तव्यतामपेक्षेतैव । न ह्येतेनेतिकर्तव्यता करणगतशक्त्यपघातिनी परिगण्यते, नापि करणगतसाधकतममत्वापकर्षाधायिका । साधूक्तं भट्टपादैः—

यत्साधकमत्वेन कस्यचित्किञ्चिदुच्यते ।
तस्यानुग्रहापेक्षा न स्वशक्तिविघातिनी ॥
न हि तत्कारणं लोके वेदे वा किञ्चिदीरितम् ।
इतिकर्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्चिता ॥ इति ।

मीमांसाशास्त्रञ्च न्यायनिबन्धनरूपम् ।

मीमांसासंज्ञकस्तर्कस्सर्वो वेदसमुद्भवः ।
सोऽतो वेदो समाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत् ॥

पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्दः । अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः । प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन च प्रमाणभेदादभेद उक्तः । सोऽतो वेद इति तात्पर्यटीकावचनेभ्यः कियानभिनिवेशोऽस्मिन् शास्त्रे श्रीवाचस्पतिमिश्राणामिति नाप्रत्यक्षमिदं समेषाम् । 'इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति' इति वचनात् सर्वदर्शनेतिकर्तव्यतापूरकत्वमस्य शास्त्रस्यावगम्यते । यदाहि समग्रस्य संस्कृतवाङ्मयस्य वेदमूलकत्वमभिमतं भट्टपादानां तदा तैस्तैश्शास्त्रैः प्रतिपिपादयिषितानामर्थानाम् इतिकर्तव्यतापूरकत्वे मीमांसाशास्त्रस्य कस्सन्देहः । सकलस्य संस्कृतवाङ्मयस्य वेदमूलकत्वप्रसाधनप्रसङ्गे भट्टपादा लिखन्ति—

'याश्चैताः प्रधानपुरुषेश्वरपरमाणुकारणादिप्रक्रियाः सृष्टिप्रलयादिरूपेण प्रतीतास्ताः सर्वा मन्त्रार्थवादज्ञानादेव दृश्यमानसूक्ष्मस्थूलद्रव्यप्रकृतिविकारभावदर्शनेन च द्रष्टव्याः । प्रयोजनञ्च स्वर्गयागाद्युत्पाद्योत्पादकविभागज्ञानं सर्गप्रलयोपवर्णनमपि दैवपुरुषकारप्रभावप्रविभागदर्शनार्थम्—सर्वत्र हि तद्बलेन प्रवर्तते तदुपरमे चोपरमतीति । विज्ञानमात्रक्षणभङ्गनैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं निवर्तयितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम् । सर्वत्र च यत्र

कालान्तरफलत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेकसिद्धिः' इति।

अनेन सन्दर्भेणेदं निश्चेतुं शक्यते—यद् भट्टपादाः सर्वेषु दर्शनेषु समत्वबुद्धि निक्षिपन्तः जगत्तत्त्वपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवान् विरुद्धसिद्धान्तावलम्बिनस्सर्वानेव दर्शनप्रवर्तकधुरन्धरान् एकीकृत्य निनीषन्तीति प्रकृतमनुसरामः। नैकविधास्वितिकर्तव्यतासु विचारोऽप्यन्तर्भूतः। स च प्राचीनग्रन्थपरामर्शमुखेनैव कर्तव्यः। केवलमुपदेशेन तद्व्याख्यानेन वा नार्थस्साधयितुं शक्यः। तदिदमुक्तं वाक्यपदीये—

प्रजाविवेकं लभते विभिन्नागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वयत्नमनुधावता॥
तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नाति प्रसीदति॥ इति।

विचारस्येतिकर्तव्यतात्वे स्वीकृते तत्र विचारात्मकं मीमांसाशास्त्रं कनिष्ठिकामूलपातमनुभवति। विचारस्तु न खण्डनमण्डनरूपः अपितु समन्वयात्मिकया दृष्ट्या परिशीलनम्, तदिदं मीमांसकैरवलम्बितम्। स्मृतिप्रामाण्यव्यवस्थाप्रसङ्गे दृष्टार्थानां कर्मणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यम्, अदृष्टार्थानाञ्च वेदमूलकत्वेन, इत्यभ्युपगच्छतां भाष्यकाराणां श्रीशबरस्वामिनां मतपरिशीलनावसरे **भट्टपादा** अभिप्रयन्ति—**यदृष्टार्थकर्मसु नियमविधित्वाङ्गीकारेण तेषामप्यदृष्टार्थत्वं वेदमूलकत्वञ्चेति।** यथा **'गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च, वृद्धवयाः प्रत्युत्थेयः, सम्मन्तव्यश्च' इत्यादयस्सन्ति स्मृतयः।** गुरोरनुगमनम् गुरावागते प्रत्युत्थानम्, चरणस्पर्शः, गुरावुपविष्टे तदनुज्ञयोपवेशनमन्तेवासिनाम्, उत्थिते गुरावुत्थानम्, इत्यादीनर्थान् उपदिशन्तीमास्स्मृतयः। एतान् नियमान् यथायथं परिपालयतोऽन्तेवासिनः गुरुः प्रीतस्सम्यगध्यापयिष्यति ग्रन्थग्रन्थिभेदिनश्च न्यायान् परिवस्यति इत्यस्ति दृष्टं प्रयोजनम्। तेनैवैतादृश्याः स्मृतेः प्रामाण्यमिति भाष्यकाराणामाशये स्थिते, अदृष्टार्थत्वमप्यस्याः स्वीकर्तव्यमिति।

धर्मं प्रति यतोऽत्रेदं प्रामाण्यं प्रस्तुतं स्मृतेः।
तस्मात्कृष्यादिवत्तेषामुपन्यासो न युज्यते॥ इति।

सूत्रकारोऽपि जैमिनिः षष्ठद्वितीयपादे दशमाधिकरणे **'आचाराद् गृह्यमानेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्'** इति सूत्रयन् यावन्ति निमित्तानि तावन्ति नैमित्तिकान्यावर्तनीयानि, अर्थादागत आगते निमित्ते तान्यनुगमनप्रत्युत्थानादीन्यनुष्ठेयानीत्युपदिशति। अनेनेदं सिद्धयति यन्नैमित्तिकानामकरणे प्रत्यवायः, करणे च फलाभावः, तस्य

चादृष्टे पर्यवसानमिति। अयमत्र निर्गलितोऽर्थः—दृष्टफलकेष्वपि कर्मसु नियमविध्याश्रयणेनादृष्टार्थत्वमपि स्वीकृत्य धर्मबुद्ध्या तेषामाचरणम्। तथा च सामाजिकेषु समत्वदृष्टिरपि **'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'** इत्यादिस्मृतिवचनेन मीमांसकानां धर्माय भवति। 'आत्मदर्शनम्' इत्यस्य आत्मवद्दर्शनम्, आत्मनो दर्शनम् इत्यर्थद्वये स्वीकृते पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनयोस्समन्वयः प्रसिद्ध्यति। आत्मनो भेदे वा अभेदे वा समत्वदृष्टेर्धर्मत्वेन परिग्रहः। धर्मश्च यथाधिकारं यथामर्यादञ्चाचरणीय इति शास्त्रसम्मतः पन्थाः। दर्शनेषु दर्शनानां सिद्धान्तेषु तत्प्रकारेषु च भिन्नेष्वपि दर्शनानां सामाजिकसमत्त्वविषयकदृष्टेः नारदकृतज्येष्ठालक्ष्मीविवादनिर्णयन्यायेनैकरूप्यमेव। पारमार्थिकदशायां या समत्वदृष्टिर्न सा व्यावहारिकी भवितुमर्हति, व्यावहारिकदशायां यादृशी शास्त्रसम्मता समत्वदृष्टिः सा पारमार्थिक्यास्समत्वदृष्टेर्न बाधिका। आर्थिकसमत्वविषये भारतीयदर्शनानि तामेव समतानीतिमङ्गीकुर्वन्ति या च धर्मसंवलितार्थकामप्रधाना। तदैव भारतस्य भारतत्वं प्रसिद्ध्येदिति विभावयामः।

● ● ●

व्यावहारिकं परमार्थिकदृष्ट्या समता विषमता च

आचार्य श्रीविश्वनाथशास्त्री दातारः

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्।
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

शास्त्रेषु स्वं स्वं विषयमधिकृत्य दिदृक्षवः चक्षुर्व्यापारं नियुञ्जत इत्युक्तम् :—

चारैः पश्यन्ति राजानः शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः।
गावः पश्यन्ति घ्राणेन चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

एतेषु पण्डिताः अपि येन चक्षुषा अन्तःस्थितं चक्षुर्भ्यामयोग्यं तत्त्वं पश्यन्ति, तच्चक्षुः शास्त्रं भारतीयैः दर्शनत्वेन समभिधीयते। तदिदं समभिधानं विरुद्धत्वादौपचारिकं भाति चक्षुर्भ्यामयोग्यस्य शास्त्रव्यापारसमुदायेनापि ताभ्यां पश्यामीत्यनुव्यवसायस्य अशक्योत्पादात्। तथापि शास्त्राभ्यासेनोद्बुद्धसंस्काराभावे चक्षुर्भ्यामयोग्यं भवत्यावरणसत्वात् इत्येवं परिष्कृते शास्त्रेषु दर्शनव्यवहृतिर्नोपचारिकी इति स्थितिः।

तच्च दर्शनयोग्यं शास्त्रमन्तरा सूक्ष्मं किं तदिति प्रश्नस्य समाहितिः वस्तुमात्रे उत्तमपुरुषत्वदर्शनेन सम्भवति। उक्तं पुरुषत्वं अहन्त्वस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने सति सम्भवति। तच्चात्मस्वरूपान्नातिरिक्तं भवति। तदिदमात्मत्वप्रकारकं अनेकविशेष्यकं दर्शनं समदर्शनम्। ईदृग्दर्शनविषया सर्वसाधारणी समता घटसाधारण्येन स्थिता घटतेव वर्तमाना दृष्टिपथं गता सती द्रष्टुर्मङ्गलाय भवति। तत्रापि नीतिविदां सर्वलोकनमस्कृतं राजपदमारुह्य स्थितानां कृते तु नितरां सुखायैवेति नीतिविदां सिद्धान्तः। सेयं **समता** द्विविधा भवति। एका **पारमार्थिकी,** अपरा **सामाजिकी**। प्रथमसमतायां मुक्त्यवस्था यत्र तत्रैव क्रियाकारकयोरन्तराले अन्वये चिकीर्षिते स एव न सम्भवति क्रियायाविलयनात् सर्वेषां कारकाणां कर्तृत्वादिभेदेन व्यवहारविलयनाच्च। तथाचोक्तं **गीतायाम्—**

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरित्यादि। स्पष्टीकृतञ्चैतत् **रामायणेऽपि—**

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोचत्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो मायागुणाननुगतो हि तया विभाति॥

अ० वा०

न्यायरत्नावल्यामपि—दृश्याधिकरणक्षणे दृश्याधिकरणक्षणपूर्वत्वानधिकरणत्वं दृश्योच्छेदः। तत्त्वप्रमाक्षणो यो यो भवति स तत्त्वज्ञान तत्प्रयुक्तदृश्यकालपूर्वत्वाभाववान् तत्त्वप्रमोत्पत्तिद्वितीयक्षणः तादृशाभाववानिति च व्याप्तेः इति।

एतदवस्थायां आत्मा भाति किन्तु आत्मत्वं न प्रकारः। घटपटादिपदार्थानां सर्वथा तत्त्वेन अभानात्। सामाजिकी पूर्वोक्ता द्वितीया समता तु मुक्तेः प्राग्भाविनी अस्ति, तत्र **'अहम्-जगत्'**-इत्याकारकम्, अहंविशेष्यकं तादात्म्येन जगत्प्रकारकं किं वा **'जगत् अहम्'** इत्याकारकम्, जगद्विशेष्यकं तादात्म्येनाहं प्रकारकं ज्ञानं भवति। उभयोरप्यनयोर्ज्ञानयोः अहन्त्वं जगति प्रतिभातं भवति। अहन्त्वस्य भानमन्तरा न कथञ्चन भारतीयराजनीतेः प्रतिष्ठापि न सम्भवितुमर्हति इति पर्यालोच्य नीतिसारकृता नृपतिपदाय शमाय च क्षम इति एकमेव साधनमुक्तम्।

सुनिपुणमुपसेव्यं सद्गुरुं शुचिरनुवृत्तिपरो विभूतये।
भवति हि विनयोपसंहितो नृपतिपदाय शमाय च क्षमः॥ इति॥

अहन्त्वस्य भाने **सामाजिकी समता** कथं भवति इत्यंशोऽथ प्रस्तूयते। तथाहि—कीदृग्विधायामपि नीतौ प्रतिष्ठापयितुमीहितायां युष्मदस्मद्गोचर एष प्रत्ययः यावत्पर्यन्तमस्ति तावत्पर्यन्तं रागद्वेषाभिमानमदान्धताया आवरणं नियतं भवति। एवं स्थिते सामाजिकः सर्वविधोऽपि व्यवहारः मैत्रीपूर्णो न भवितुमर्हति इति हि शास्त्रविदां मतम्, अजितेन्द्रियताया अविनयस्य वा विशेषतया प्रसरणात् भेदभावे तन्निवारणासम्भवाच्च। अत्राऽयं प्रश्नः पूर्वे राजानः शासनधराः स्वप्रभावात् सामाजिकीं यादृशीं व्यवस्थां विदधुः तत्र शासनस्य प्राबल्यात् सामाजिकीं विषमतां उद्भावयामासुः, तत्प्रभावेन अभिभूताः समताविचारकाः परतन्त्राः विद्वांसः न सामाजिकीं समतां संस्थापयितुं प्राभवन् इति। तन्न। ये च राजानः शासनं लोकस्य समृद्धिहेतुं चक्रुः, ते तु सर्वत्रैव वसुधैव कुटुम्बकम्, स्वदेशो भुवनत्रयम्, इत्येवं भावमायत्तीकृत्यैव न्यायान्यायविवेचने समर्था वभूवुः। तदाहुः—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ इति।

एवंभूतं समत्वं **गीतायामपि** उक्तं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ इति।

तदिदं समदर्शनं केन कर्तुं शक्यम् इत्यपि तत्रैव उक्तम्—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। इति।

यत्र तु सत्यपि एवं अगत्या राजसञ्चालनस्य सुचारुत्वसम्पत्तये अपराधिनं प्रति दण्डप्रणयनम्, अगतिकत्वे उपदेशकानां उपदेशानुसारेण राजानो विदधति स्म, तत्रापि ते **गुरूपदेशपारतंत्र्यमेव** अनुबभूवुः, न तु स्वातन्त्र्यम् । **भारवि**रपि—

वसूनि वाञ्छन्नवशी न मन्युना स्वधर्मं इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥ इति ।

तत्र न कथञ्चनापि पक्षपातं सञ्चिकीर्षिति स्म इति अन्यदेतत् ।

एवंविधमहत्त्वं सामाजिकसमतावहं राजसु, दर्शनविद्भिः गुरुभिरेव साधितम् । ते च गुरवः राजतन्त्रा अपि शिष्यहिताधानार्थदर्शका उपदेष्टारो न तथाविधराजानां सुहृद एव, किन्तु गुरवः सन्तः तेषां राज्ञां प्रतोदकाः अपि बभूवुः । न वा राजापि तान् अतिरिच्य कदापि समवर्तत । यद्यपि राजशासनं एव स्वतन्त्रं निर्णायकं इत्युच्यते— **'धर्मश्च व्यवहारश्च चरितं राजशासनम्'** इत्यादिना ग्रन्थेन । तथापि संदिग्धेषु व्यवहारेषु नियामकानां धर्मव्यवहारचरितानां अलाभे राजशासनं नियामकत्वेन स्वीकृतम् । अन्यत्र तु राजभिः गुरूपदेशपारतन्त्र्यमेव तेषाम् अभिमतं बभूव । यश्च राजा शिष्यहिताधानार्थदर्शकान् गुरून् अतिरिच्य जाड्यात् स्वातन्त्र्याभिमानेन प्रावर्तत विदुषश्च पारतन्त्र्यत्वेन अवमानयत्, सोऽपि अचिरात् भ्रष्टोऽभूत् ।

अथ उपर्युक्तेषु अन्यदर्शनेषु भारतीयदर्शनं कथं उपयुक्तं इति उच्यते—

अहन्त्वेन प्रतिभातं समत्वं आध्यात्मिकं इदत्वयुष्मत्वतत्त्वाद्यभिमानात्, व्यवहारकाले प्रतिबध्यं आस्ते । अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितं च, तन्निरासाय भारतीयदर्शनानि संवृत्तानि ।

शरीरातिरिक्तस्य आत्मस्वरूपस्य बोधस्य आनन्दात्मकस्य सर्वस्मिन् पदार्थमात्रे सूत्रात्मना स्थितस्य **'बहुस्यां प्रजायेय'** इति श्रुतिमात्रवेद्यस्य अहंत्वस्य अप्रामाण्यादिविविधशंकानिरासपूर्वकं प्रत्यक्षानुमानप्रमाणमात्रपरतन्त्रणं विज्ञानेन साधयितुं अशक्यत्वम् ।

एवंविधां अहन्त्वसमतां परित्यज्य समानो धर्मः समता इति व्युत्पत्तिं आसाद्य, प्रत्यक्षायमाणमानवत्वादयः इदंतया तत्तया वा भासमानाः विशिष्टाः धर्माः आहारनिद्राभयमैथुनादिकर्मणां व्यापाराणां एवंविधानां ग्राम्यधर्माणां वा समन्वयमात्रे पर्याप्ता न समाजस्य समृद्धये सहायाः भवन्ति । तथाचोक्तं कौटिल्येन—

"ग्राम्यधर्मेष्वेनमवसृजेयुः सुखोपरुद्धा हि पुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति जीवन्मरणं एतत् इति कौटिल्यः अविनीतकुमारं हि राजकुलम् अभियुक्तमात्रं भज्येत् ।" इति ।

अत्रेदं अवधेयम्, अहन्त्वेन प्रतिभातया मानवोचितसमतया त्रिवर्गसमृद्धये अभिमतयापि समाजसमृद्धये आत्मसम्पद्गुणानुरोधेन विभज्य समाजे स्थिताविषमतापि दर्शनेषु काम्यते, अन्यथा अतुल्येन सहासक्ताः तुल्यमानानिराकृताश्च गुणिनः समाजाद् विभज्य

भेदस्थिर्ति प्राप्ताः सामाजिकी समता स्थितेर्विघटने कारणान्येव सम्भवन्ति। इदं गुण-विभाजनमूलम् असमानत्वम्, बौद्धिकादिभेदेन विभक्तं तत्-तत्-कार्यसाधनेषु उपादित्सितं सत् अहंभावापन्नसमाजस्य समृद्धये सम्भवति। फलरसादिलाभेन सर्वस्य समाजस्य पोषणात्।

यत्तु भारतीयदर्शनेषु समतामधिकृत्य उच्यते—चत्वारि भूतान्येव इति **चार्वाकाः**। चक्षुरादीनि प्रत्येकमपरे, मिलितानि इति अन्ये, मन इत्येके, प्राण इत्यपरे, क्षणिकं विज्ञानमिति **सुगताः**; शून्यम् इति **माध्यमिकाः**, देहेन्द्रियातिरिक्तदेहपरिमाणं इति **दिगम्बराः**, कर्ता भोक्ता जडः विभुः इति **वैशेषिकतार्किकाः**, जडो बोधात्मकः इति **भाट्टाः**, मुक्तौ केवलं बोधात्मकः इति **सांख्याःपातञ्जलाः**, अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतः निर्धर्मकः परमानन्दबोध इति **औपनिषदाः**, इति। सातु पारमार्थिकीं समतां मत्वा उक्ता सेऽयं अध्यात्ममधिकृत्य भारतीयदर्शनेषु पारमार्थिकी समता निरूपिता।

व्यावहारिकी सामाजिकी समता तु अहन्त्वेन भावविषया प्रत्यभिज्ञादर्शनोक्ता, सर्वेषु अनुस्यूता सा चैवंविधा समता विरोधिभेदभावभावनाशून्यां चित्रदर्शनादौ सिद्धां आयुर्वेदीयं चिकित्साविशेषानुगता उपासिकैरनुमता व्यावहारिकी वर्तते। अनयोः उभयोः समतयोः फलं त्रिवर्गसमृद्धिः तथाहि—तत्राहन्त्वस्य सर्वत्रभावे पक्षपातराहित्यं परकीयसुखदुःखसम्वेदनम् अविकृतिमत्वम् अप्रतारणत्वं न्यायान्यायविवेचनादि च सम्भवति। तथाविध अहन्त्वभानं कामयमानानां संसारत्यागेन सुखं आत्मरतौ एव तुष्टिः इत्यादिविषयानां व्यावहारिकत्वप्रदर्शनाय उदाहृतिरूपेण आध्यात्मिकसमताभान-शीलापि महायोगिनोऽपेक्ष्यन्ते इति, उभयोः अपि समतयोः त्रिवर्गसमृद्धिः भवति। उभयसाधनञ्च सामाजिकेषु उल्लसिता उत्साहप्रतिबद्धा सात्विकता व्यसनित्वानापादिनी मन्यते नीतिविद्भिः। सत्यप्येवं भारतीयदर्शनेषु पार्थक्येन कर्माणि स्थिरतया विभज्य कर्मवादः चिन्तितः, तत्र कारणम्, इदमेव यत् अहन्त्वेन भानेऽपि जीवे परिमितप्रमातृता-दशाया अपि अपरिहरणीयत्वात् स्व स्व जीविकार्थं प्रवृत्तेषु यदा एकमेवार्थमधिकृत्य सामाजिकाः प्रवर्तन्ते, तदा एकार्थाभिनिवेशित्वप्रयुक्तो विरोधः तेषु समुदेति, तत् प्रशमनाय गुणसम्पत्तिं अनुरुद्ध्य विषमतया कर्मवादोऽपि भारतीयैः चिन्तितः। अतः तत्तत्दर्शनेषु सामाजिकी विषमतापि विभक्ता निरूपिता वर्तते।

अत्र **भारतीयकर्मवाद**सिद्धान्ते सामाजिकसमताविषये प्रधानः अत्राऽयं प्रश्नः—कर्मवादे भारतीयैः तदुत्पन्नस्य कुलीनस्य कृते विभिन्नधर्माधिकाराभिधानात् मानव-समाजे विषमतायाः प्रसारात् समाजे विभेदः अपरिहरणीय आपद्येत, तन्न, कर्मवादे समतामधिकृत्य येन केनापि यत् किञ्चिदपि इष्टं तत् कर्तव्यं इति स्वीकारे गुणवताऽपि शासनपदं अधिष्ठाय शास्येत, इष्टापत्तौ तत् असम्भवि। अतः तद् तद् पदाधिष्ठाने

गुणवत्वनियामकं वक्तव्यं भवति। गुणवत्सु अनेकेषु उपस्थितेषु विनिगमनाविरहे पुनरपि नीतिकार्यानुशासने एकार्थाभिनिवेशित्वं आपद्येत। अतः शास्त्रेषु कुलीनत्वं विनिगमकं मन्यते। कुलीनेष्वपि द्वित्रेषु उपस्थितेषु सत्सु राज्याधिकारे ज्येष्ठत्वं नियामकं भवति। उक्तं च इदं मानसरामायणे—

विमलबंश यह अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

गुण्यगुणिसाधारण्येन तु मानवसमाजे समानधर्ममादाय नीतौ आहार-न्याय-दान-पर-रक्षणप्रभृतितत्त्वानि समान्येव निरूपितानि सन्ति शास्त्रेषु। अतः समाजे व्यवस्था-मनुरुद्धय गुणानुरोधेन बौद्धिकं सामाजिकार्थिकभेदेन असमता गुणभूता न समतामनु-रुद्धय विलोपयितुमर्हा, एकार्थाभिनिवेशित्वदोषस्यापरिहर्तुं तदैव शक्यत्वात्। प्रतिभान-विषया सर्वेस्मिन् समाजे अनुस्यूता अहन्ताऽपि न कथमपि विषमतया उपेक्षणीयतां अर्हति। अत्रेदं अवधेयम्, विभिन्नेषु भारतीयदर्शनेषु समतायाः स्वरूपं पृथक् पृथक् अस्ति इति प्राक् प्रदर्शितमेव। तेषु **औपनिषदं** मतं विहाय दर्शनभेदेन क्वचित् जडत्वं कश्चिदनानन्दत्वम् इत्यादि रूपेण समतायां न्यूनत्वं एको दोषो भाति तथा समता दृष्टानुबन्धिनीं अधिकृत्य प्रवृत्ते भारतीयं अवैदिकं दर्शनं सामाजिकेषु अहमहमिकयां एकार्थाभिनिवेशित्वाधायकं अरिभावसम्बर्धकम् इति द्वितीयो दोषो भवति व्यक्तीनामनि-यमनात्। वैदिकदर्शनेष्वपि जडत्वं अनानन्दतापादकं यत् तदपि तत्त्वादेव अरुच्यापादकं भवति, तथापि औपनिषदत्वावबोधानुगुण्येन पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां विभज्य साक्षात्परम्परया परमानन्दप्रकाशकत्वं मन्येत चेत् सर्वं सुगृहीतं मन्तव्यम्। किञ्च द्वैतवादे समतायाः विषमतायाश्च स्वरूपं कीदृशं भवितुमर्हति, इति प्रश्नस्य समाधानं मानसरामायणे एतद् प्रतिपादितम्—

'गिरा अर्थ जलवीचिसम कहियत भिन्न न भिन्न' इति।

यथा तत् तत् देशेषु पूजिता रामस्य मूर्तिः समाना सत्यपि वेषादिभेदेन स्वस्व-देशीयत्वादिवैलक्षण्ये असमत्वापादिकापि अनुगुणैव भवति। तथा द्वैतवादे उपासनादि-भेदेन विषमतायां उपासकैः स्वीकृतायामपि अपौरुषेय—एकवेदसिद्धान्तानुयायित्वरूपा समतैव अस्ति इति।

भारतीयदर्शनेषु समतायाः असमतायाश्च यन्निरूपणं उपलभ्यते तत् प्रमाण-सिद्धत्वात् नोपेक्षणीयतामर्हति। इति इमां सर्वविधां अपि समतां विषमतां वा बोध-यितुं भारते दर्शनानां अपेक्षा वर्तते।

तान्येव आधारीकृत्य गुणवत्वपरिचयस्य शक्यत्वात्। एवंरीत्या व्यावहारिकी पारमार्थिकी च समता दर्शनमूलिका इति सिद्धम्।

● ● ●

सामाजिक समता सम्बन्धी संगोष्ठी का विवरण

आज के युग में **समता** के मूल्य पर बहुत जोर दिया जाता है तथा कहा जाता है कि यह मूल्य पाश्चात्य विचारों की देन के रूप में भारत में आया है। संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी परम्परावादी शास्त्रों के अध्ययन का केन्द्र है। यहाँ शास्त्रों का अध्ययन संस्कृत के माध्यम से चलता है। शास्त्रों में समता के मूल्यों की प्रभूत चर्चा है, इसको आधुनिक भारत के लोगों को बताना तथा इसकी समाज में प्रतिष्ठा कैसे हो ? इसके लिए प्रयत्न करना, आज की प्रमुख समस्या है। संस्कृत-विश्वविद्यालय में आधुनिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्थापित **तुलनात्मक दर्शन** विभाग द्वारा आयोजित संगोष्ठी में समता के मूल्य पर भारतीय दर्शनों की दृष्टि से विचार किया गया। यह संगोष्ठी २८, २९ तथा ३० अप्रैल १९७८ को सम्पन्न हुई। जिसमें मानव जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करते हुए संगोष्ठी के अध्यक्ष प्रो० **रमाकान्त त्रिपाठी** (अध्यक्ष–दर्शनविभाग का० हि० वि० वि० वाराणसी) ने कहा—

मानव जीवन की प्रमुख दो समस्यायें हैं (१) न्यायप्राप्ति तथा (२) सामाजिक पंक्तिभेद को मिटाना। इसके लिए भारतीय परम्परा में बहुत पुष्ट चिन्तन प्रस्तुत हुए हैं। भारतीय समाज में प्राचीनकाल में ब्राह्मण त्यागमय जीवन चलाता था, अतएव जो त्यागी थे, ज्ञानी थे, वे **ब्राह्मण** कहलाये। इसी प्रकार देश के रक्षक **क्षत्रिय,** कृषि उत्पादक **वैश्य** तथा सेवा को सम्पन्न करने वाले **शूद्र**। यह कर्म पर आधारित पुष्ट व्यवस्था थी, फलतः आज तक यह वर्तमान है। भारतीय जीवन दर्शन का मुख्य उद्देश्य **मुक्ति** को प्राप्त करना रहा है। यहाँ पाश्चात्य दर्शन की भाँति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दार्शनिक विश्लेषण नहीं प्रस्तुत हुआ है। आज के औद्योगीकरण के युग में भारतीय दर्शन की दृष्टि से सभी क्षेत्रों में विचार आवश्यक है।

इस संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा काशीविद्यापीठ के कुलपति **प्रो० राजारामशास्त्री** ने कहा—समाज में सभी मनुष्यों में न्यूनाधिक समानता होती है जैसे शारीरिक, भावगत तथा बौद्धिक समानता आदि। मनुष्य अकेलापन में कभी रहना नहीं चाहता। **आत्मसम्मान** एवं **परसम्मान** की भावना से मनुष्य में समानता आती है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकासक्रम की चर्चा करते हुए आपने कहा कि मनुष्य आर्थिकविकास के कारण ही उन्नति प्राप्त

करता है पर दार्शनिकों का कर्तव्य है कि वे मात्र आर्थिक उन्नति पर ध्यान न देकर मानवमूल्यों पर जोर दें, तथा सर्वाङ्ग दर्शन के द्वारा सुव्यवस्थित समाज की रचना में योगदान करें।

संगोष्ठी के संप्रेरक तथा संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति **प्रो० बदरीनाथ शुक्ल** ने कहा—विषमता की भावना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक आकांक्षा होती है कि वह अन्यों की अपेक्षा बल, विद्या, वित्त आदि में उत्कृष्ट हो। उसकी इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना न तो सम्भव है और न मानवता के हित में है। किन्तु मनुष्य में आज जो कृत्रिम विषमता व्याप्त है उसे सही ढंग से समझना है। यह कृत्रिम विषमता समाज और शासन की संगठनगत त्रुटि से होती है, जैसे समाज में धनार्जन के साधनों तथा अर्जित धन के वितरण में समानता न होने से समाज के प्रत्येक वर्ग को शिक्षा की सुविधाओं की प्राप्ति की भी समानता नहीं होती है, फलतः कुछ परिवार सम्पन्न तथा कुछ विपन्न हो जाते हैं। दूसरी विषमता स्वाभाविक विषमता है, यह पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है जैसे जन्म से प्राप्त रंग, रूप, बुद्धि आदि।

कृत्रिम विषमताओं को दूर करने में दर्शनों का योगदान सम्भव हो सकता है। इस संगोष्ठी के आयोजन का यही तात्पर्य है कि हम प्राचीन दर्शनों के परिप्रेक्ष में किस प्रकार का **नया दर्शन** विकसित करें जो मानवमात्र में समानता एवं सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सके और जन्म के आधार पर सहज माने जाने वाली कृत्रिम विषमता एवं भेदभाव को दूर कर सके।

प्रो० एस० रिन्पोछे प्राचार्य—तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान सारनाथ ने सामाजिक समता के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा—**महायान दर्शन** के अनुसार समता केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसे सम्पूर्ण प्राणिजगत तक ले जाना है। प्राणियों के साथ समानता की भावना अज्ञान के नाश होने पर होती है। मानव के अधिकारों के छिन जाने पर विविध प्रकार के आन्दोलन खड़े कर दिये जाते हैं, पर मनुष्य की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति के विना समता का प्रश्न नहीं उठता। अविद्या ही असमानता का कारण है। इसके निराकरण से हमारी सारी समस्यायें सुलझ सकती हैं, शास्त्रों में इसके निराकरण का मार्ग है। अतएव वर्तमान युग में समता की स्थापना के लिए प्राचीन शास्त्रों की गवेषणा जरूरी है।

प्रसिद्ध राजनीतिवेत्ता **प्रो० मुकुटविहारीलाल** ने पाश्चात्य समाजवाद के प्रति भारत में व्याप्त भ्रम का निराकरण करते हुए कहा कि समाजवाद स्वतन्त्रता को

नियन्त्रित करना चाहता है और किसी भी रूप में विभिन्नता एवं विशिष्टता को समाप्त करने के पक्ष में नहीं है। किन्तु समानता लाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की विशिष्टता एवं विभिन्नता का उपयोग समुदाय के हित के लिए किया जाय। आप ने **आचार्य नरेन्द्रदेव** के विचारों की चर्चा करते हुए कहा कि आचार्य जी की दृष्टि में मनुष्यता ही समाजवाद का आधार है। इसी सन्दर्भ में आपने समता की स्थापना में **महात्मा गांधी** एवं **महामना मालवीय जी** के कार्यों एवं विचारों का भी उल्लेख किया और बताया कि ये महानुभाव भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे, उनका सबके साथ निष्पक्ष एवं आत्मवत् व्यवहार ही समाज में समता की स्थापना का संकेत देता है।

इस त्रिदिवसीय गोष्ठी में काशी के **तीनों विश्वविद्यालयों** के प्राध्यापक, नगर के मान्य परम्परागत विद्वान् तथा संस्कृत एवं संस्कृति प्रेमी जनता उपस्थित रही। गोष्ठी की समाप्ति पर धन्यवाद देते हुए पालिविभाग के अध्यक्ष **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय ने** कहा—प्रकृतिप्रदत्त गुण ही समाज में विकसित होते हैं। शास्त्रों में समता के मूल्य अवश्य हैं पर उनका ठीक से अन्वेषण होना चाहिये। आज के युग में अतीत एवं अनागत समता को पृथक् न देखकर दोनों के सातत्य में रास्ता खोजने पर बल देना चाहिए। दार्शनिकों को मर्यादित समता के विचार का चिन्तन करना चाहिए तथा सम्पूर्ण भारतीयवाङ्मय से इसके सूत्र खोजकर नवीन राष्ट्र के निर्माण में सहयोग करना चाहिए। इस सन्दर्भ में इस पर न केवल दर्शनों की दृष्टि से ही अपितु पुराणों, तन्त्रों तथा बौद्ध एवं जैन आगमों की दृष्टि से भी विचार विन्दु खोजना चाहिए, जिससे वर्तमान समाज के लिए समता का मूल्य स्वाभाविक बन सके। गोष्ठी में उपस्थित विद्वानों में मुख्य थे, प्रो० रमाशंकर मिश्र, प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, डॉ० रेवतीरमण पाण्डेय, डॉ० कमलाकर मिश्र, डॉ० हर्षनारायण आदि (काशी हिन्दूविश्वविद्यालय) प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रो० कृष्णनाथ, प्रो० रमेशचन्द्र तिवारी, डॉ० रघुनाथ गिरि आदि (काशी विद्यापीठ) प्रो० एस० रिन्पोछे, श्री सेम्पादोर्जे तथा गेशे त्रिशेस थवख्यस (तिब्बती संस्थान, सारनाथ) प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, डा० गोकुलचन्द्र जैन, डा० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा, श्री सुधाकर दीक्षित एवं श्री राधेश्याम धर द्विवेदी आदि (संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी) काशी के विशिष्ट विद्वानों में पं० केदारनाथ ओझा, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य एवं पं० केदारनाथ त्रिपाठी, पं० हेब्बार शास्त्री आदि उपस्थित थे।

उपस्थित विद्वानों से समतासूत्र को शास्त्रों से निकालने पर बल देते हुए प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय ने कहा कि इस विषय पर शीघ्र ही एक बड़ी संगोष्ठी आयोजित

की जायेगी, जिसमें विद्वानों के शास्त्रीय विचारों को लेकर समाज हित सम्पन्न करने के लिए शासन को सुझाव दिया जायेगा। अतएव राष्ट्र एवं मानव के हित में पण्डितों का चिन्तन प्रारम्भ होना चाहिए। उन्होंने गोष्ठी में आये हुए सभी विद्वानों को धन्यवाद दिया।

उपर्युक्त विचार गोष्ठी के सन्दर्भ में **संस्कृत अकादमी, लखनऊ** की सहायता से **'भारतीय शास्त्रों में समता के स्वर'** विषय पर दिनाङ्क १६–८–७८ से दिनाङ्क १९–८–७८ तक की एक चतुर्दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसकी कुल चार बैठकों में प्रथम बैठक उद्घाटन, विषय प्रस्तावना आदि से सम्बन्धित थी। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ बैठकें क्रमशः दर्शन, पुराण, योगतन्त्र आदि की दृष्टि से उल्लेखनीय थीं।

गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध मनीषी विद्वान् **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने विराट भारतीय संस्कृति के दर्शन, कला, साहित्य, तन्त्र आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए आधुनिक अशान्त एवं संत्रस्त विश्व में शान्ति, समता, मानवता आदि मूल्यों के योगदान की विस्तृत चर्चा की। उनके विचार से भारतीय संस्कृति में वह सार्वभौम समता का बीज विद्यमान है जो आधुनिक भारत तथा विश्व को इसकी स्थापना में योगदान दे सकता है।

अपने विशिष्ट व्याख्यान में विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक **डॉ० टी० आर० बी० मूर्ति** ने कहा—सामान्य रूप से यह जनप्रसिद्धि है कि सामाजिकसमता, स्वतन्त्रता आदि मानवीयमूल्य पाश्चात्त्य विचारकों की देन हैं। पर यह बात बिल्कुल सही नहीं है। भारत में भी दर्शनों में आध्यात्मिक समता पर बल दिया गया है। इन आध्यात्मिक समता के मूल्यों को जनजीवन में और आचरणों में सदा से भारतीय मनीषीगण लाते रहे हैं। इस प्रकार समता के मूल्य समाज में सर्वदा रहे हैं। भारतीय दर्शनों ने अध्यात्म के द्वारा जीवन को विकसित करने का सांगोपांग विवरण दिया है। अतः सामाजिक समता के विकास में भारतीय दर्शनों का निःसंदिग्ध योगदान है।

विषय की प्रस्थापना करते हुए **प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय** ने कहा—भारतीय मनीषी विचारों में कभी असहिष्णु नहीं रहे। जीवन के विविध पक्षों का उन्होंने गम्भीर एवं महनीय विश्लेषण किया है। आधुनिक जीवन मूल्यों का भारतीय संस्कृति के सूत्रों के साथ सम्बन्ध जोड़ना आज की ज्वलन्त आवश्यकता है। भारतीय शास्त्रों के विद्वानों को इस दिशा में सम्मिलित प्रयास करना चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि शास्त्रों में सारी बातें ज्यों की त्यों मिल जाएँ। यह भी सही नहीं है कि दीर्घकालव्यापी भारतीयसांस्कृतिक धारा में सब कुछ अमृतमय ही हो, विष कुछ भी न हो।

ऐसी स्थिति में शास्त्रचिन्तकों का आज परम कर्तव्य है कि वे अमृतकणों का संचय करें, और उसे मानवता के हित में विश्व के समक्ष प्रस्तुत करें।

भारत में आत्मवाद एवं अनात्मवाद के चिन्तन में आध्यात्मिक समता पर बल दिया गया है। अद्वैत-आत्मवाद में जीवदृष्टि के विनाश से विषमता समाप्त मानी जाती है जबकि अनात्मवाद में आत्मदृष्टि के उच्छेद से। अनात्मवाद में कुछ नहीं का सब कुछ के साथ सम्बन्ध जोड़कर सर्वसंग्रह तथा आत्मवाद में सर्व को आत्मा के अन्दर लाने का प्रयत्न है। यह चिन्तन आध्यात्मिक समत्व के सन्दर्भ में है। पर प्रश्न यह है कि क्या आध्यात्मिक समता का सामाजिक समता से कोई सम्बन्ध है या नहीं है? इसी प्रकार **भोग** और **मोक्ष**, **ज्ञान** और **प्रयोग** के बीच सम्बन्ध क्या है, इस पर भी विचार होना चाहिए। कर्मवाद का इस सन्दर्भ में काफी मूल्य आँका जाता है। आज की नई दुनियाँ में दूरी के समाप्त होने से सम्बन्धों के सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट हो जाने से **सामूहिक कर्मों** का इस मात्रा में प्रभाव बढ़ रहा है कि उसका फल व्यक्ति को भोगना पड़ता है। इस स्थिति में **कर्मफल** का **व्यक्तिगत विश्लेषण** कितना उचित है, यह भी विचारणीय है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के **डॉ० रामशङ्कर त्रिपाठी** ने **'प्राचीन संस्कृत साहित्य में मानव समता'** नामक निबन्ध के माध्यम से पूरे संस्कृत-साहित्य का आलोडन करके समतामूलक अंशों को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया और वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्रों, पुराणों की मुख्यधारा में राजा के चयन की विधि, मन्त्रि-परिषद्, न्यायपद्धति, स्वायत्तग्रामसंस्थायें, धर्मनिरपेक्षता, स्त्रियों की दशा, सहशिक्षा, विवाह, अन्तर्जातीयविवाह, उत्तराधिकार, शूद्र का यज्ञ एवं देवपूजा-सम्बन्धी अधिकार, सरकारी नौकरियों में शूद्र का स्थान आदि के विषय में बड़ा रोचक एवं शोधपूर्ण प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया। इससे वर्तमान विसंगतियों को दूर करने में सहायता प्राप्त की जा सकती है।

नार्थ इस्ट हिल यूनिवर्सिटी शिलाङ्ग के दर्शन के रीडर **डॉ० हर्षनारायण** ने सम्पूर्ण भारतीयवाङ्मय का तार्किक विश्लेषण करते हुए यह प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया कि भारतीय चिन्तन धारा का एक उदारवादी पक्ष रहा है जो शूद्रों, स्त्रियों को सभी प्रकार का अधिकार प्रदान करता है, पर बाद के आचार्यों के कारण इस प्रबलधारा का विरोध खड़ा किया गया, जिससे वैषम्यमूलक परम्परा ही मुख्य बन गयी। इस विषमता में भी भारत का सामाजिक गठन इतना तार्किक है कि उसमें किसी एक वर्ग को शोषक करार नहीं किया जा सकता और यदि कहा भी जायेगा

तो शोषण का उपदेष्टा अपनी स्थिति इतनी अकिञ्चन रखता है कि उस पर अधकचरे मार्क्सवादियों के आरोप सही नहीं उतर पाते हैं। उन्होंने भारतीयदर्शन के आधार-भूमि **कर्मसिद्धान्त** एवं **पुनर्जन्मवाद** पर एक गहरी चोट देने का प्रयत्न किया तथा वर्तमान में समता की सम्भावनाओं के लिए नये दार्शनिक मूल्यों को सुझाने का प्रयत्न किया, जिस पर विचार अपेक्षित है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के **डॉ० नवजीवन रस्तोगी** ने **शैवतन्त्रों में सामाजिक समता** नामक निबन्ध में विविध दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया तथा कहा—इतनी भाग दौड़ का प्रयोजन सिर्फ इस बात को रेखांकित करना है कि तन्त्रों में इस बात के प्रभूत आधार हैं कि इनसे समतावादी दर्शन की ठोस सम्भावनायें खड़ी की जा सकती हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के ही **डॉ० अशोककुमार कालिया** ने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में **वैष्णवतन्त्रों में समता के स्वर** पर बोलते हुए कहा—**रामानुज** यहाँ उस चिकित्सक के रूप में सामने आते हैं जो एक ही रोग के दो उपचारों को मानते हुए एक उपचार (तान्त्रिक दीक्षा, प्रपत्ति शरणागति) को दूसरे उपचार (वैदिक मार्ग) की अपेक्षा सर्वजन सुलभ, सुकर तथा शीघ्र फलप्रद होने के कारण मान्यता प्रदान करते हैं। यह मार्ग निश्चय ही समता का अनुरोधी है।

आचार्य **पं० केदारनाथ त्रिपाठी** (का० हि० वि० वि०) ने कहा—भारतीय दर्शनों का निष्कृष्टार्थ रूप में जहाँ समता में विषमता को देखना संसार एवं बन्धन है वहीं विषमता में समता की दृष्टि मुक्ति है। यह दृष्टि जिसे जिस मात्रा में प्राप्त होती है वह उसी मात्रा में बद्ध एवं मुक्त होता है।

डॉ० रघुनाथ गिरि (अध्यक्ष, दर्शन विभाग काशी विद्यापीठ) ने आश्रम व्यवस्था की विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि **ब्रह्मचर्य** एवं **वानप्रस्थ** आश्रम की व्यवस्था में निहित सिद्धान्त सबके लिए मुफ्त समानशिक्षा तथा स्वेच्छया अधिकार के त्याग को स्मरण दिलाते हैं। सारी खामियों के बावजूद यह व्यवस्था किसी को **बेरोजगार** होने से बचाती है।

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी (सं० सं० वि० वि०) ने कहा—भारत में समता को धर्म के मूल्यों के आधार पर अध्यात्म के साथ जोड़ना चाहिए। पर यह मात्र खयाली पुलाव न होकर जीवनदर्शन होना चाहिए।

श्री रामशंकर त्रिपाठी (अध्यक्ष—बौद्धदर्शन विभाग सं० सं० वि० वि० वाराणसी) ने कहा कि बौद्धदर्शन की दृष्टि से सामाजिक समता **नैरात्म्यमूलक है।**

आत्मदृष्टि एक प्रकार की बुद्धि है, जिसका आधार अहं की सत्ता है। विश्लेषण करने पर अहं नामक किसी पदार्थ की सत्ता का अस्तित्व नहीं उपलब्ध होता है, फलतः आत्म दृष्टि स्वतः विगलित हो जाती है। आत्म दृष्टि ही विषमताओं की जनक है। जब यह दृष्टि विगलित होती है तो व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन होता है और स्वार्थमूलक न होकर समाजमूलक बनने लगता है।

यहीं के प्राकृत विभाग के अध्यक्ष **डॉ० गोकुलचन्द जैन** ने कहा—जैन चिन्तकों ने समता के लिए स्वातन्त्र्य तथा सामान्य की अनुभूति पर अधिक जोर दिया है। पारतन्त्र्य विषमता का मूल है पर स्वातन्त्र्य की भी मर्यादा है, इसीलिए **महावीर** ने सामान्य की महत्ता के साथ विशेष को अपनी सीमा का बोध कराया और इसी कारण उनके संघ में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता विखर कर आम आदमी की समानता में समा गयी। इस समानता के बोध के लिए भगवान महावीर ने एक चिन्तन प्रस्तुत किया, जिसे **अनेकान्त** का चिन्तन कहते हैं, यह जीवन में **समन्वय** का मार्ग खोलता है और दुराग्रह से मुक्ति दिलाता है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में महावीर के विचारों से समता की स्थापना में सहयोग मिल सकता है।

श्री अमृतलाल जैन, भू० पू० प्राध्यापक, जैनदर्शनविभाग (सं० सं० वि० वि० वाराणसी), ने कहा कि भगवान् महावीर मानव समता के समर्थक थे, क्योंकि उन्होंने विना जातिभेद के सबको अपने संघ में स्थान दिया। उन्होंने शास्त्र वचनों के आधार पर बताया कि आर्यों में संचयवृत्ति न होने के कारण आर्थिक समता होती है तथा वर्ण या जाति न होने से सामाजिक समता होती है। इस प्रकार जैन विचार समता के परिपोषक हैं।

श्री देवी प्रसाद मिश्र (अनुसन्धाता प्रयाग वि० वि०) ने जैन पुराणों के विवेचन के आधार पर समता की व्याख्या करते हुए कहा कि समाज से विशेषाधिकारों एवं असमानता को दूर करके समन्वय की धारा से समानता स्थापित हो सकती है।

काशीविद्यापीठ के **प्रो० कृष्णनाथ** ने समता के विविध आयामों का पर्यवेक्षण करते हुए कहा—वर्तमान सदी के पूर्व **समता** का तात्पर्य **अवसर की समानता** से लिया जाता है। पर यह अवसर की समानता असमानता का कारण है। इसमें पिछले लोग समान अवसर होने पर भी पिछड़े ही रहते हैं, अतः विशेष अवसर देने पर ही उनको **समता** मिल सकती है। चरम लक्ष्य के रूप में निरपेक्ष समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व में भेद नहीं है। पर विशेष-विशेष रूपों में सापेक्षिक समता एवं स्वतन्त्रता में

टकराहट भी होती है, अतएव इनमें सामरस्य होना चाहिए। इसके लिए **प्रज्ञा** तथा **उपाय** दोनों की जरूरत हैं।

प्रो० राजाराम शास्त्री ने कहा कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के नारों में समता भी एक नारा था, मनुष्य **बौद्धिकता, सौन्दर्यबोध** तथा **नैतिकता** की दृष्टि से पशुओं से भिन्न हो जाता है और इसी भिन्नता के आधार पर वह एक दूसरे का सम्मान भी करता है। समता सामाजिकता का एक अन्यतम मूल्य है। यह व्यक्ति का स्वभाव न होकर समाज का स्वभाव है। आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना में समानता का भाव है पर यह एकपक्षीय व्यवहार नहीं, अपितु उभयपक्षीय है, अर्थात् यदि मैं दूसरे के प्रति वही व्यवहार करता हूँ जो मैं उससे अपने लिए चाहता हूँ। पर यदि दूसरे व्यक्ति की ऐसी भावना नहीं तो समता की स्थापना कैसे हो सकती है? समाज में व्यक्ति **भ्रातृभाव** से समता की ओर मुड़ता है और पुनः **स्वतन्त्रता** की तरफ बढ़ता है, पर यदि कारण से कार्य की ओर बढ़ने का प्रसंग बने तो कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता से समानता और तब भातृभाव पनपता है। इस भातृभावमूलकसहयोग से ही मनुष्य ने मानवेतर जीवों पर विजय हासिल की है। इस प्रकार **फ्रांस क्रान्ति** के ये नारे मानव इतिहास में सबसे पहले समानता के उद्घोषक माने जाते हैं। आधुनिक समतावादियों ने समता की स्थापना के लिए **प्रतिफल की समता, अवसर की समता, उपयोगितावादी समता** तथा **व्यक्ति के सम्मान** के द्वारा समता की स्थापना आदि के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। पर इन सब में एकांगी दृष्टि है समता की सर्वांगीण दृष्टि के विकास के लिए विसंगतियों को दूर करने वाले नये दर्शन की प्रस्थापना करना पड़ेगा, इससे ही समता के नये दर्शन का विकास होगा।

वाराणसी के **श्री गणेश सिंह मानव** ने कहा—बीसवीं सदी में सम्पूर्ण मानव एक कुटुम्ब के रूप में समीप आ रहा है पर परम्परावादी एवं सुविधा प्राप्त वर्ग परिवर्तन में विरोध उपस्थित कर रहा है। साम्ययोग के निर्माण से वह अलग-अलग पड़ जायेगा और सामाजिक समता की स्थापना होकर रहेगी।

इस गोष्ठी में कुछ परम्परागत शास्त्रपारंगत विद्वानों ने भी भाग लिये, उन्होंने समता की प्रतिष्ठा की वकालत करते हुए स्वस्वकर्तव्य के पालन पर बल दिया। वेदान्त एवं मीमांसा के प्रख्यात विद्वान् **पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री** ने यज्ञ में **अध्वर्यु, होता** तथा **यजमान** आदि के स्वरूप एवं कर्तव्य का विवेचन करते हुए कहा कि व्यवस्था में प्रत्येक के कर्म बटे रहते हैं, इसका मतलब उत्कर्षापकर्ष का द्योतक नहीं है। अपितु स्वस्वधर्मा-

चरण के लिए एकमात्र प्रमाण के रूप में वेद का विधान स्वीकार करना है जैसे प्रशासन में मन्त्रियों के अधीन बहुत से अधिकारी होते हैं, पर वे उनके भृत्य नहीं अपितु प्रशासन व्यवस्था के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपालक मात्र हैं। इस प्रकार समतावादी मूल्य वेदों में भी मिलते हैं।

परम्परागत पाण्डित्य के चूड़ान्तनिदर्शन तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय में वेदान्त के आचार्य पद से अवकाश प्राप्त **पण्डित श्री रघुनाथ शर्मा** ने अपने निबन्ध के द्वारा भारतीयदर्शनों में समता के आरोह और अवरोह का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा—समता का तात्पर्य मानव के सामान्य धर्मों के समान अनुष्ठान से होना चाहिए और जैसे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सद्व्यवहार, बाहरी एवं भीतरी शुचिता, किसा से द्वेष न रखना, अहंकार न करना, दान, सब प्राणियों पर अनुग्रह-बुद्धि, बुद्धिमानों का पूजन, सरल व्यवहार, अचपलता, अतिथि सेवा, किसी को कष्ट देने वाले वाक्यों का प्रयोग न करना, धर्म-अर्थ काम के सेवन में सबको समान अवसर देना आदि सामान्य धर्म है। इनके अनुष्ठान में समानता की दृष्टि होनी चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से समता जब प्राकृतिक गुणों में होती है तो सृष्टिलय होता है और विषमता जब प्रकृति में उत्पन्न होती है तब सृष्टि होती है। दर्शनों में व्यवहार तथा अपवर्ग का मार्ग बतलाया गया है इनके अनुष्ठान का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है **न्यायशास्त्र** व्यवहारमार्ग बतलाता है, **पूर्वोत्तरमीमांसा** व्यावहारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विचारों का विवेचन करता है। सभी अनर्थों के मूल काम-क्रोधादि के नाश का मार्ग **वेदान्त** बताता है। इस प्रकार मानव-जीवन को सुखमय बनाने के लिए विविध शास्त्रों में मार्ग बताये गये हैं। कभी-कभी ज्ञानी को भी व्यावहारिक प्रपञ्चों को स्वीकार करना पड़ता है यद्यपि वह स्थूल व्यवहारों की अतथता को समझ चुका होता है। ज्ञानी यदि व्यवहार में शास्त्रोक्तविधियों का अनुपालन न करे तो शास्त्रों का उच्छेद हो जायेगा। इसीलिए ज्ञानी को सब में अद्रोह बुद्धि रखते हुए मन, वचन तथा कर्म से लोक में अनुग्रह एवं दान आदि का अधिष्ठान करना पड़ता है।

उन्होंने **कामन्दक, पुराणों** तथा **दर्शनों** के आधार पर चारों वर्णों के कर्त्तव्यों के पालन से समत्वबुद्धि का स्वरूप स्पष्ट किया तथा माता-पिता आदि की सेवा में, परिवार के भरण-पोषण में विशेष कर्त्तव्यों का भी विवेचन किया। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्यों के पालन को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए भूतहित की चिन्ता पर बल दिया।

मीमांसाशास्त्र के धुरंधर विद्वान् लोकनीति से पूर्ण परिचित सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्यविभाग के आचार्य **पं० पट्टाभिराम शास्त्री** ने कहा—भारतीयवाङ्मय में अनुरोधी एवं प्रतिरोधी विचारों के बीच भी किन्हीं बातों पर सबमें समता है। रागद्वेषादि के भंजन के लिए तथा सभी प्राणियों में समत्वदृष्टि की स्थापना के लिए चाहे **नैरात्म्यवाद** का आश्रय करें या **आत्मवाद** का पर दोनों ही स्थितियों में ममकार का आश्रयण एवं निरोध समान ही करना पड़ेगा। उन्होंने **नीलकण्ठदीक्षित** के श्लोक का उपाख्यान करते हुए कहा—'ममकार को छोड़ देना चाहिए किन्तु यदि वह नहीं छूट रहा हो तो सबमें ममकारबुद्धि पैदा करनी चाहिए।' ऐसी स्थिति में जगत् में किसी भी व्यवस्था के रहने पर समाज में वैषम्य नहीं आयेगा। उन्होंने **मीमांसा** के आत्मदर्शन का दो अर्थ करते हुए कहा कि आत्मदर्शन का तात्पर्य अपने आत्मा के समान दूसरे को देखना या अपना दर्शन होता है। इस प्रकार अपने से भिन्न स्थिति या अभिन्न स्थितिस्वरूपात्मक आत्मदर्शन में समत्व दृष्टि बन जाती है फलतः समता स्थापित हो सकती है।

प्राचीन राजनीति एवं अर्थशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् **पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार** ने कहा—समता दो प्रकार की हो सकती है। पहली **पारमार्थिकसमता** और दूसरी **सामाजिकसमता**। प्रथम समता मुक्ति की अवस्था वाली है, जिसमें क्रिया-कारक का भेद मिट जाता है। सामाजिक समता तबतक स्थापित नहीं हो सकती, जबतक तेरा मेरा का प्रत्यय रहेगा, जब तक यह प्रत्यय होगा तब तक रागद्वेष भी नहीं मिटेगा। ऐसी स्थिति में समाज का व्यवहार मैत्रीपूर्ण नहीं बन सकता। मैत्रीपूर्ण व्यवहार के लिए शासनव्यवस्था निर्धारित की जाती है। शासनव्यवस्था से समाज में विषमता बढ़ती है पर जो राजा शासन को लोक की समृद्धि के लिए बनाये, वह सबमें कुटुम्बभाव तथा अपने देश में ही सभी भुवनों का समाकलन करता है। उनके यहाँ 'अयं निजः परो वा' इस भाव की कल्पना नहीं होती है। इस लिए समता बन जाती है। पर इस समता का कारण उस राजा के उपदेशक ज्ञानी जन ही होते हैं। जिनके निर्णयानुसार दण्डनीय को दण्ड दिया जाता है तथा अदण्डनीय के सम्मान की रक्षा की जाती है। यह जो राजा स्वार्थ्याभिमान से अपना शासन करता है तथा उपदेशकों की राय नहीं लेता, वह विद्वानों का अपमान करता है। फलतः वह अभिमानी राजा शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है तथा पतित होता है। अतः शास्त्रों में गुणवान् परामर्शकों एवं लोगों को प्रशासन में महत्त्व दिया गया है। शास्त्रों में बताया गया है कि राम की मूर्ति भिन्न-भिन्न देश तथा भिन्न-भिन्न वेश में रहने पर आकृतिगत समानता के साथ वेशगत असमानता वाली होती है। वैसे ही उपासना एवं कर्म के

भेद होने पर भी समाज में एकात्मता बन सकती है और इस एकात्मता को समानता कह सकते हैं।

अन्त में गोष्ठी का समापन करते हुए **प्रो० बदरीनाथ शुक्ल** ने कहा—सामाजिक समता पर विचार करते हुए हमें सामाजिक विषमता के स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए। विषमता दो प्रकार की होती है। (१) प्राकृतिक तथा कृत्रिम। प्राकृतिक विषमता लिंग तथा रंग की होती है; किन्तु छुआछूत, ऊँच-नीच आदि भावना-जन्य उत्पन्न विषमता कृत्रिम एवं व्यवस्थाजन्य है। इसके निराकरण का अवश्य प्रयास होना चाहिए। भारतीय दर्शन इस प्रयास में कहीं भी बाधक नहीं, अपितु साधक ही हैं। अन्त में विविध स्थानों से आकर गोष्ठी को सफल बनाने लिए विद्वानों को साधुवाद दिया।

• • •

परिचर्चाओं में भाग लेनेवाले विद्वानों की नामावली

१—श्री अमृतलाल जैन
जैन विश्वभारती
लाडनूं, राजस्थान

२—डॉ० अशोक कुमार कालिया
प्राध्यापक, संस्कृतविभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

३—पं० आनन्द झा
मिथिलासंस्कृतशोधसंस्थान
कवराघाट, दरभंगा (बिहार)

४—डॉ० कमलाकर मिश्र
दर्शनविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

५—प्रो० कृष्णनाथ
अर्थशास्त्र विभाग
काशीविद्यापीठ, वाराणसी

६—पं० केदारनाथ ओझा
मुमुक्षुभवन, अस्सी वाराणसी

७—डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी
संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

८—डॉ० के० एन० मिश्र
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

९—डॉ० केवलकृष्ण मित्तल
रीडर—बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१०—डॉ० कैलाशनाथ शर्मा
प्रो० एवं अध्यक्ष—समाजशास्त्र विभाग
आई० आई० टी०, कानपुर

११—श्री गणेशप्रसाद सिंह मानव
जगतगंज, वाराणसी

१२—भि० गेशे ङिशेस थवख्यस
प्राध्यापक, तिब्बती उच्चशिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

१३—डॉ० गोकुलचन्द्र जैन
रीडर—प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

१४—डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष—संस्कृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, हरियाणा

१५—प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय
डीन—श्रमण विद्यासंकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय,
वाराणसी

१६—श्री टशी पलजोर
प्रिंसिपल, लेह स्कूल आफ फिलासफी
चोगलमसर, लद्दाख (जम्मू एवं कश्मीर)

१७—आचार्य टी० छोगडुब् शास्त्री
अनुदेशक—इ० ए० सी० टेनिंग कालेज
पचमढ़ी होशंगाबाद, म० प्र०

१८—प्रो० टी० आर० वी० मूर्ति
न्यू कालोनी (रवीन्द्रपुरी)
बेलवरिया, वाराणसी

१९—डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय
प्रिंसिपल—सुदिष्टबाबा डिग्री कालेज
सुदिष्टपुरी, रानीगंज, बलिया

२०—श्री देवीप्रसाद मिश्र
अनुसन्धानछात्र
प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

२१—डॉ० धर्मेन्द्र गोयल
दर्शन विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

२२—डॉ० नन्दकिशोर देवराज
विजिटिंग प्रोफेसर, दर्शन विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

२३—डॉ० नवजीवन रस्तोगी
संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

२४—डॉ० नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रो० एवं अध्यक्ष–दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

२५—डॉ० नीलकण्ठ देशपाण्डे
समाजशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

२६—आचार्य पं० पट्टाभिरामशास्त्री
भू० पू० साहित्यविभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

२७—डॉ० प्रतापचन्द्र
दर्शनविभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

२८—श्री प्रमोद कुमार गुप्त
बी २८/४७ सी-२ मोतीझील
मामूरगंज, वाराणसी

२९—आचार्य पं० बदरीनाथ शुक्ल
भूतपूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

३०—डॉ० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा
प्राध्यापक, पालि विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

३१—प्रो० बी० वी० किशन
दर्शन विभाग
आन्ध्र विश्वविद्यालय वाल्टेयर (आ०प्र०)

३२—डॉ० महेश तिवारी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
बौद्धविद्या अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

३३—स्व० प्रो० मुकुटबिहारी लाल
भू० पू० अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

३४—आचार्य पं० रघुनाथ शर्मा
भू० पू० वेदान्तविभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी

३५—डॉ० रघुनाथ गिरि
प्रो० एवं अध्यक्ष–दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

३६—डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी
इमेरिटस प्रोफेसर–दर्शन विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

३७—प्रो० रमाशङ्कर मिश्र
दर्शन विभाग
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

३८—श्री रमेशचन्द्र तिवारी
समाजशास्त्र विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

३९—प्रो० राजाराम शास्त्री
भू० पू० कुलपति
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

४०—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
धर्मदर्शनविभाग
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शान्तिनिकेतन (प० बंगाल)

४१—श्री राधेश्याम धर द्विवेदी
तुलनात्मक धर्म-दर्शन
सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

४२—डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय
प्रो० एवं अध्यक्ष—दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

४३—डॉ० रामशंकर त्रिपाठी
संस्कृत महाविद्यालय
का० हि० वि० वि०, वाराणसी

४४—श्री रामशंकर त्रिपाठी
अध्यक्ष—बौद्धदर्शन विभाग
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

४५—डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य
३८/८ हौजकटरा, वाराणसी

४६—डॉ० रेवतीरमण पाण्डेय
दर्शन विभाग
का० हि० वि० वि० वाराणसी

४७—प्रो० लालमणि जोशी
अध्यक्ष—धर्मदर्शन संकाय
पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला

४८—आचार्य पं० विश्वनाथ शास्त्री दातार
प्राचीन राजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी

४९—डॉ० वी० के० राय
k 67/74 ईश्वरगंगी, वाराणसी

५०—डॉ० वैद्यनाथ सरस्वती
फेलो आई० सी० आई०,
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

५१—प्रो० शान्तिभिक्षुशास्त्री
शान्तिसदन, सरनलाज
लक्कड़बाजार सोलन, (हि० प्र०)

५२—डॉ० संगमलाल पाण्डेय
प्रो० एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

५३—प्रो० समदोन् रिन्पोछे
प्राचार्य
तिब्बती उच्चशिक्षासंस्थान सारनाथ, वाराणसी

५४—डॉ० सिद्धेश्वर भट्ट
रीडर, दर्शनविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

५५—श्री सुधाकर दीक्षित
प्राध्यापक, न्यायवैशेषिक विभाग
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी

५६—डॉ० सुनीति कुमार पाठक
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शान्तिनिकेतन, (पं० बंगाल)

५७—श्री सेम्पा दोर्जे
रीडर—तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान
सारनाथ, वाराणसी

५८—स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
रवीन्द्रपुरी, बेलवरिया, वाराणसी

५९—पं० सुब्रह्मण्य शास्त्री
शङ्कराचार्यमठ
हनुमानघाट, वाराणसी

६०—डॉ० हर्षनारायण
रीडर—दर्शन विभाग
नार्थ इस्टर्न हिल यूनिवर्सीटी शिलांग, (मेघालय)

६१—डॉ० हरिशंकर शुक्ल
प्राध्यापक, पालिविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

६२—डॉ० हरिशंकर सिंह
दर्शनविभाग
आर० डी० एन० डी० जे० कालेज
मुंगेर, (बिहार)

६३—पं० हेब्बार शास्त्री
सांगवेद विद्यालय रामघाट, वाराणसी

● ● ●

सुसंग्राह्याः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयद्वारा प्रकाशिता महत्त्वपूर्णा अनुसन्धानप्रबन्धाः